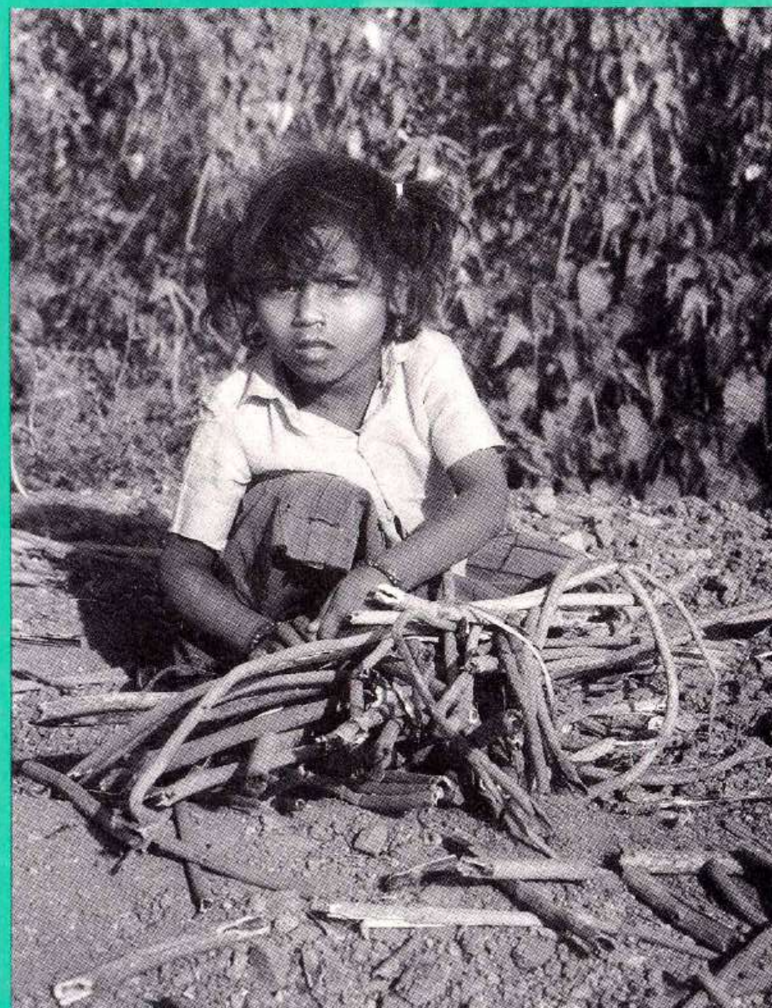
भारत में बच्चे और राज्य-नीति

तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में बाल मजदूरी और शिक्षा नीति

मायरन वीनर
अनुवाद : आनंदस्वरूप वर्मा



भारतीय सामाजिक संस्थान
&
यूनिटी ट्रस्ट

भारत में बच्चे और राज्य-नीति

तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में बाल मजदूरी और शिक्षा नीति

मायरन वीनर

अनुवाद
आनंदस्वरूप वर्मा

भारतीय सामाजिक संस्थान
&
यूनिटी ट्रस्ट

हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन
लेखक मायरन वीनर, प्रिंसटन
यूनिवर्सिटी प्रेस तथा ऑक्सफोर्ड
यूनिवर्सिटी प्रेस की अनुमति से।

A Sponsored Publication
of
Indian Social Institute
No. 68/97

प्रकाशक
भारतीय सामाजिक संस्थान
10. इन्स्टीट्यूशनल एरिया
लोदी रोड, नई दिल्ली–110003
&
यूनिटी ट्रस्ट
121 महानदी ओल्डए जे.एन.यू.
नई दिल्ली–110 067

मुद्रक
चमन ऑफसेट प्रिंटर्स
1626, सूईवालान
दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002

मूल्य : रू. 40/-

This is a Hindi translation of Myron Weiner's book **'The Child and the State in India'**, originally published by Princeton University Press and Oxford University Press.

अनुक्रम

तालिकाएं

1
दलील

समस्या का विवरण

सभी विकसित देशों और अनेक विकासशील देशों की सरकारों ने बच्चों को मजदूरी के काम से अलग रखा है और यह व्यवस्था की है कि वे स्कूल में जाकर शिक्षा ग्रहण करें। उनकी यह धारणा है कि मालिकों को बच्चों से मजदूरी कराने की इजाजत नहीं दी जानी चाहिए और बच्चों के माता–पिता को, चाहे वे कितने भी गरीब क्यों न हों, इस बात की इजाजत नहीं मिलनी चाहिए कि वे बच्चों को स्कूल न भेजें। आधुनिक राज्य शिक्षा को महज एक अधिकार नहीं बल्कि एक वैधानिक दायित्व मानते हैं। मां-बाप से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजेंगे और बच्चों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे स्कूल में शिक्षा ग्रहण करेंगे और राज्य की यह जिम्मेदारी बन जाती है कि वह अनिवार्य शिक्षा को लागू करे। अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, नीति संबंधी एक ऐसा उपकरण है जिसके जरिये राज्य कारगर ढंग से बाल मजदूरी पर पर रोक लगाता है। इस प्रकार अंतिम तौर पर राज्य ही बच्चों का अभिभावक है जो मां–बाप से और भावी मालिकों से उनको सुरक्षा प्रदान करता है।

भारत में इस धारणा को स्थान नहीं दिया जाता। भारत में न तो प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य है और न बाल मजदूरी अवैधानिक। इसका नतीजा यह है कि यहां 6 वर्ष से 14 वर्ष की आयु वर्ग के बच्चों का आधा से कम हिस्सा– 8 करोड़ 22 लाख– स्कूलों में नहीं है। यह बच्चे घरों में ही रहते हैं और मवेशियों की देखभाल करते हैं, अपने से छोटे बच्चों को संभालते हैं, जलाने के लिए लकड़ियां बीनते हैं और खेतों में काम करते हैं। वे घरेलू उद्योगों, चाय की दुकानों, रेस्तराओं अथवा किसी मध्यवर्गीय परिवार के घर

में नौकरी पा जाते हैं। वे वेश्यावृत्ति में लग जाते हैं अथवा मवालियों की जिंदगी गुजारने लगते हैं, भीख मांगते हैं या कबाड़ी का काम करते हैं ताकि इकट्ठा की गयी बोतलों और अन्य सामानों को दुबारा बेच सकें। इनमें से अनेक बंधुआ मजदूर बन जाते हैं और स्थानीय भूस्वामियों के लिए मवेशी चराने से लेकर खेतों में काम करते रहते हैं। एक वरिष्ठ शिक्षा अधिकारी ने मुझे बताया, "सरकार अगर सभी वयस्कों के लिए रोजगार की व्यवस्था नहीं कर सकती तो उसे गरीब मां–बाप पर यह दबाव नहीं डालना चाहिए कि वे अपने बच्चों को स्कूल में भेजें। गरीबों के लिए उनके बच्चे एक आर्थिक पूंजी हैं। वे जो काम करते हैं और उससे कमाई गयी जो आय लाते हैं वह भले ही कम हो बल्कि बड़ी मुश्किल से गुजर–बसर कर रहे मां–बाप को उनके मदद की जरूरत है।"

अधिकांश बच्चे स्कूल जाना तो शुरू करते हैं पर उन्हें बीच में ही पढ़ाई छोड़नी पड़ती है। पहली कक्षा में प्रवेश करने वाले बच्चों में केवल 10 में से चार ऐसे मिलेंगे जिन्होंने स्कूल में चौथी कक्षा तक पूरी पढ़ाई की हो। भारत में बाल मजदूरों की संख्या 1 करोड़ 36 लाख से लेकर 4 करोड़ 40 लाख अथवा इससे भी ज्यादा है– यह संख्या इस पर निर्भर करती है कि आप किस तरह "काम" को परिभाषित करते हैं (मजदूरी पाने के लिए काम अथवा पूर्णकालिक काम जो मजदूरी के लिए हो अथवा न हो)।

भारतीय कानून कारखानों में बच्चों के काम करने पर रोक लगाता है लेकिन कुटीर उद्योगों, घरों के अंदर, रेस्तराओं में अथवा खेती के काम में कार्यरत मजदूरों के लिए कोई रोक नहीं है। दरअसल सरकारी अधिकारी कुटीर उद्योगों में बच्चों की नौकरी को बाल मजदूरी नहीं मानते हालांकि इन स्थानों में काम की स्थितियां प्रायः बड़े कारखानों के मुकाबले बदतर होती हैं। श्रम मंत्रालय के निदेशक का कहना है: "शिवाकासी में (जहां भारत का बहुत बड़ा माचिस और आतिशबाजी उद्योग है और जहां 45000 बच्चे काम करते हैं) हमारा मानना है कि कारखानों में बाल मजदूरी में कमी आयी है। दरअसल यह बच्चे अब छोटी इकाइयों में– कुटीर उद्योग जैसी छोटी इकाइयों में चले गये हैं जो फैक्ट्रीज ऐक्ट के दायरे में नहीं आतीं। यह होना ही है। यह एक अच्छा लक्षण है। बाल मजदूरी में कमी और इसकी समाप्ति की दिशा में यह एक कदम है।"

बच्चों को मजदूरी के काम से हटाने तथा उनके लिए अनिवार्य एवं सार्वभौम प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करने की दिशा में आज जो सारी दुनिया में एक प्रवृत्ति दिखाई दे रही है उसमें भारत एक महत्वपूर्ण अपवाद है। अन्य विकासशील देशों की सरकारों के लिए बड़े पैमाने पर जनशिक्षा का विस्तार करने अथवा प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनानेके मार्ग में

गरीबी रुकावट नहीं बनी है। अफ्रीका के ऐसे अनेक देशों ने, जिनकी आय का स्तर भारत से कम है, शिक्षा को जन–जन तक पहुंचाया और साक्षरता में उल्लेखनीय वृद्धि की। बोत्सवाना, कैमरून, इक्वेटोरियल गिनी, गैबोन, गेम्बिया, घाना, आइवरी कोस्ट, लेसेथो, लीबिया, मडागास्कर, मारीशस, रेयूनियन, रवान्डा, स्वाजीलैण्ड, जाम्बिया और जिम्बाब्वे आज से 40 वर्ष पूर्व निरक्षरता दर भारत के ही बराबर थी लेकिन अब भारत के मुकाबले वहां निरक्षरता आधी हो गयी है। दक्षिण कोरिया और ताईवान– दोनों गरीब देश हैं जहां एक पीढ़ी पूर्व जबर्दस्त निरक्षरता दर थी लेकिन इन देशों ने अनिवार्य और सबको शिक्षा देने की दिशा में कदम बढ़ाया जबकि इनके यहां प्रति व्यक्ति आय भारत के ही लगभग बराबर है। इन दोनों देशों में आज वयस्क साक्षरता दर 90 प्रतिशत से अधिक है। इसके विपरीत भारत की वयस्क साक्षरता दर 1981 में 40.8 प्रतिशत थी। 1961 और 1981 के बीच भारत में वयस्क साक्षरों की कुल संख्या में प्रति वर्ष 50 लाख की वृद्धि हुई जो 33 करोड़ 30 लाख से बढ़कर 43 करोड़ 70 लाख हो गयी। सारी दुनिया में जितने निरक्षर हैं उनमें अकेले भारत से सबसे बड़ी संख्या है।

जनशिक्षा को राष्ट्रीय और प्रति व्यक्ति आय से असंबद्ध करने के ऐतिहासिक साक्ष्य भी काफी प्रत्ययकारी हैं। अनेक देशों में जनशिक्षा का प्रचार औद्योगिक क्रांति से पूर्व हुआ और सरकारों ने अनिवार्य शिक्षा प्रायः उस समय शुरू किया जब गरीबी का स्तर काफी ऊंचा था: 1524 में जर्मन नगर पालिकाओं ने, 1647 में मेसाच्यूसेट्स ने, 18 वीं सदी के उत्तरार्ध और 19वीं सदी के प्रारंभ में स्काटलैंड, आस्ट्रिया और स्वीडन ने, 1872 में जापान ने और द्वितीय विश्वयुद्ध के कुछ ही समय बाद नवस्वाधीन दक्षिण कोरिया और ताईवान ने।

इस अध्ययन के जरिये एक व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है कि क्यों शिक्षा तथा रोजगार के मामले में भारत की नीतियां अन्य अनेक देशों के मुकाबले भिन्न रहीं हैं। क्यों भारतीय राज्य उच्च और बढ़ती निरक्षरता, स्कूलों में दाखिले की निम्न दर, बीच में पढ़ाई छोड़ने वालों की उच्च दर तथा बड़े पैमाने पर प्रचलित बाल मजदूरी की समस्या को हल करने में अक्षम रहा अथवा अनिच्छुक रहा? क्यों अभी हाल ही 1985–1986 में भी बाल मजदूरी तथा शिक्षा नीतियों की समीक्षा करने वाले सरकारी आयोगों ने अनिवार्य शिक्षा अथवा बाल मजदूरी समाप्त करने के लिए कानून बनाने की मांग नहीं की? एक ऐसे देश में जहां का सत्ताधारी अभिजात्य वर्ग खुद को समाजवादी होने का दावा करता है और जिस देश के अनेक नौकरशाह, राजनीतिज्ञ और बुद्धिजीवी एक आदर्श राज्य के पैरवीकार हैं, हम इन नीतियों को किस तरह समझें? आखिर क्यों राज्य ने कोई वैधानिक

कदम नहीं उठाया जबकि भारतीय संविधान बाल मजदूरी पर प्रतिबंध लगाने और अनिवार्य प्राथमिक स्कूली शिक्षा प्रदान करने की मांग करता है और उसकी इस स्थिति को प्रायः सरकारी रपटों में एक दीर्घकालीन लक्ष्य के रूप में बार–बार दोहराया गया है? सरकारी तोतारटंत और नीति के बीच बहुत बड़ा अंतर है और यह बात समझ में नहीं आती कि भारत सरकार वह काम क्यों नहीं करती जिसके बारे में वह कहा करती है कि करना चाहती है।

इस अध्ययन का मुख्य तर्क यह है कि इन स्थितियों की व्याख्या के संदर्भ में भारत में प्रति व्यक्ति आय का कम होना या आर्थिक स्थिति का बुरा होना उतना प्रासंगिक नहीं है जितना प्रासंगिक राज्य नौकरशाही की एक बनी बनायी अवधारणा है–एक ऐसी अवधारणा जिससे यहां के शिक्षाविद्, सामाजिक कार्यकर्ता, ट्रेड यूनियनों में काम करने वाले, विद्वान शोधकर्ता और मोटे तौर पर कहें तो भारतीय मध्यवर्ग बुरी तरह ग्रस्त है। इन अवधारणाओं को वे दोनों मानते हैं जो शासन में हैं तथा जो शासन से बाहर हैं, कट्टर हिंदू तथा अपने को धर्मनिरपेक्ष मानने वाले और वामपंथी तथा मध्यमार्गी व दक्षिणपंथी।

इन अवधारणाओं के मूल में समाज व्यवस्था से संबंधित भारतीय दृष्टिकोण है, समाज के उच्च और निम्न वर्ग की अलग अलग भूमिकाओं से जुड़े विचार हैं, विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच भेदभाव बरकरार रखने के साधन के रूप में शिक्षा की भूमिका है तथा वे चिंताएं हैं कि गरीबों को "बहुत ज्यादा" और "अनुपयुक्त" शिक्षा देने से मौजूदा सामाजिक व्यवस्था बिखर जाएगी।

भारतीय लोग अनिवार्य शिक्षा को अपनी मंजूरी नहीं देते और यह दलील देते हैं कि प्राथमिक स्कूल गरीबों के बच्चों को काम का उचित प्रशिक्षण नहीं देते, कि गरीबों के बच्चों को काम करना चाहिए बजाय इसके कि वह स्कूल जायें जहां उन्हें "नौकरी" अथवा बाबूगिरी वाले कामों के लिए तैयार किया जाता है, कि गरीबों को शिक्षा देने से बेरोजगारी और सामाजिक एवं राजनीतिक अव्यवस्था में वृद्धि होगी, कि निम्न वर्गों के बच्चों को दिमाग की बजाय हाथ से काम करने की कला सीखनी चाहिए (मजदूरी के काम में लगकर जितनी तेजी से कारीगरी में कुशलता प्राप्त होती है वह स्कूल जाने से संभव नहीं है), कि स्कूलों की अधूरी शिक्षा एवं बाल मजदूरी गरीबी के परिणाम हैं न कि कारण, और यह कि अंतिम तौर पर बच्चों के अभिभावक उनके मां–बाप हैं न कि राज्य। इन धारणाओं के बावजूद भारत के नीति निर्माताओं ने बड़े पैमाने पर शिक्षा के प्रसार को कभी भारत के आधुनिकीकरण के लिए बुनियादी तौर पर जरूरी नहीं समझा। उल्टे, इन्होंने एक ऐसे शिक्षित वर्ग को पैदा करने के प्रयास में जो पश्चिमी देशों के शिक्षित वर्गों

की बराबरी में हो और विदेशी अंतश्क्षेत्र वाली आधुनिक अर्थव्यवस्था के निर्माण और प्रबंधन में समर्थ हो, अपने सारे संसाधनों को अभिजात्य सरकारी स्कूलों, राज्य की मदद से चलने वाले प्राइवेट स्कूलों और उच्च शिक्षा में झोंक दिया।

भारतीय स्थिति कहीं गहरे जड़ जमाकर बैठी इस अवधारणा पर टिकी है कि उन लोगों के बीच एक जबर्दस्त अंतर है जो अपने मस्तिष्क से काम करते हैं और शासन करते हैं तथा वे लोग जो अपने हाथ से काम करते हैं और शासित हैं और साथ ही यह कि शिक्षा को इस भेद–भाव को तोड़ने की बजाय और मजबूत करना चाहिए। इन अवधारणाओं का यहां के धार्मिक विचारों तथा उन दृष्टिकोणों से घनिष्ठ संबंध हैं जो भारत की वर्ण व्यवस्था के साथ जुड़ी हैं। ऐसा केवल इसलिए नहीं कि भारत का सामाजिक संगठन अ–समतावादी है और जाति व्यवस्था में सामाजिक स्तरों की एक प्रणाली निहित है– इनमें से कोई भी बात भारत के लिए अनूठी नहीं है। यहां महत्वपूर्ण है एक खास तरह की सामाजिक गतिशीलता–व्यक्तियों की बजाय समूहों की गतिशीलता।

भारत में सामूहिक गतिशीलता उल्लेखनीय परिणाम में है तो भी संस्थाओं तथा अवधारणाओं की जबर्दस्त शक्तियां समूहों की अवस्था में आने वाले परिवर्तनों का प्रतिरोध करती हैं। यहां तक कि जो अपने को धर्म निरपेक्ष कहते हैं और जाति व्यवस्था को नहीं मानते वे भी सामाजिक हैसियत से संबंधित उन मूल्यों से सराबोर है जो भारतीय संस्कृति के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। अपने समाज के बुनियादी मूल्यों से कोई भी तुरत छुटकारा नहीं पाता। दुनिया के अनेक देशों में धार्मिक संस्थाओं और विश्वासों ने (धर्म से उपजे धर्म निरपेक्ष विश्वासों सहित) जन शिक्षा और राज्य के हस्तक्षेप में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई लेकिन भारत में हिन्दूवाद (और इस्लाम भी) कभी भी जनशिक्षा के लिए प्रेरक शक्ति नहीं रहा। जहां अनेक देशों में धार्मिक सिद्धान्तों अथवा धर्मनिरपेक्ष विचारधाराओं ने सामाजिक समानता के लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का पक्ष लिया, भारत में सामाजिक वर्गों के अनुसार बच्चों को अलग रखकर शिक्षा को आमतौर पर भेदभाव बनाये रखने के उपकरण के रूप में ही इस्तेमाल किया गया। यही वजह है कि शिक्षा प्रणाली को जो लोग नियंत्रित करते हैं वे इस बात के प्रति अत्यन्त उदासीन दिखाई देते हैं कि समाज के निम्न से निम्न वर्गों के बच्चे स्कूलों में कम तादाद में जाते हैं अथवा अधूरी पढ़ाई छोड़कर स्कूलों से बाहर आ जाते हैं। इसका परिणाम है कि दुनिया के विभिन्न देशों के मुकाबले भारत में बाल मजदूरी की दर सबसे ज्यादा है, स्कूलों में नामांकन की दर सबसे कम है और तीसरी दुनिया के अधिकांश

देशों के मुकाबले साक्षरता दर बहुत कम है।

सरकार की नीतियों से संबंधित आधिकारिक बयानों अथवा सरकारी अधिकारियों के भाषणों को देखने पर इस दृष्टिकोण का तुरत पता नहीं चलता लेकिन सरकारी दस्तावेजों और अधिकारियों से अगर विस्तार के साथ बातचीत की जाय और दस्तावेजों तथा बातचीत की बारीकी से जांच की जाय तो हमें इन दृष्टिकोणों का पता चल जाता है। जो नीतियां और कार्यक्रम असंगत, पाखण्डपूर्ण अथवा अपर्याप्त दिखाई देते हैं उन्हें ठोस रूप दिया जा सकता है। इन नीतियों को समझने के लिए हमें सबसे पहले उन अवधारणाओं और आधारों की पहचान करनी होगी जिन पर ये टिके हैं। बाल मजदूरी तथा अनिवार्य शिक्षा के सवाल पर अन्य देशों के मुकाबले भारतीय नीतियों की तुलना करते समय हम यह दिखा सकते हैं कि अन्य व्याख्याओं की बजाय यहां के लोगों की आम धारणाओं के अध्ययन से हमें ज्यादा सुसंगत, सैद्धान्तिक तौर पर संतोषजनक और अनुभव सिद्ध व्याख्या मिलती है। और यह दिखाने के लिए कि नीतियों के मामले में रुकावट न तो संसाधनों के कारण और न प्रभावित निहित स्वार्थ वाले समूहों के दबाव के कारण हैं, हम यह बताना चाहेंगे कि भारतीय समाज में इन अवधारणाओं का कितना व्यापक असर है। नीति संबंधी व्याख्या न तो निहित स्वार्थी समूहों की राजनीति में और न राज्य के स्वार्थों में निहित है– यह उन अभिजनों के विश्वासों और मूल्यों में है जो अपने राजनीतिक कर्मों को आकार देते हैं अर्थात यह भारत की राजनीतिक संस्कृति में है।

घिसीपिटी दलीलें

आजादी के बाद से ही भारत सरकार, सरकार द्वारा नियुक्त प्रत्येक आयोग, सत्तारूढ़ कांग्रेस पार्टी, सभी विपक्षी दल तथा सभी राज्य सरकारें बाल मजदूरी को समाप्त करने, अनिवार्य और सार्वभौम प्राथमिक शिक्षा 14 वर्ष की आयु के प्रत्येक बच्चे को देने के लिए दलीलें पेश करती रही हैं। उनकी इस प्रतिबद्धता की शुरुआत इस शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों से ही देखी जा सकती है जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष गोपाल कृष्ण गोखले ने असफलतापूर्वक ब्रिटिश सरकार से अनुरोध किया कि वह निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा लागू करे। 1930 के दशक में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नियंत्रण वाली प्रांतीय सरकारों ने कानून पारित कर स्थानीय निकायों को अधिकार दिया कि वे अनिवार्य शिक्षा की शुरुआत करें। 1950 के भारतीय संविधान ने घोषणा की कि "राज्य इस संविधान के लागू होने के 10 वर्षों की अवधि में सभी बच्चों कोजब तक वे 14 वर्ष के नहीं हो जाते निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने का प्रयास करेगा।"[2] बाद में जो

भी केंद्रीय सरकारें गठित हुईं उन सरकारों ने, योजना आयोग ने, संसद और राज्य सरकारों ने इस लक्ष्य की बार–बार पुष्टि की। अधिकांश राज्य सरकारों ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा से संबंधित कानून पारित किये और प्राथमिक विद्यालयों की संख्या में काफी वृद्धि हुई जो 1950 में 210000 से बढ़कर 1986 में 529000 हो गयी।

इस शताब्दी के प्रारंभ में ही अंग्रेजों ने ऐसे कानून बनाये थे जिनसे खदानों और कारखानों में बच्चों के काम करने पर प्रतिबंध था। 1932 में श्रम से संबंधित शाही आयोग (रायल कमीशन ऑन लेबर) की सिफारिशों के बाद और भी ज्यादा व्यापक कानून पारित किये गये। भारतीय संविधान में बच्चों की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए अनेक प्रावधान हैं। इनमें एक ऐसा भी प्रावधान है जिसमें साफ शब्दों में घोषणा की गयी है कि "14 वर्ष से कम आयु का कोई भी बच्चा किसी कारखाने अथवा खदान में काम नहीं करेगा या किसी अन्य खतरनाक रोजगार में नहीं लगाया जायेगा।"[3]

1950 के दशक में संसद ने अनेक कानून पारित किये जिनके अनुसार बागानों, खदानों, मर्चेंट शिपिंग तथा बीड़ी व सिगरेट उद्योगों में बच्चों के काम करने पर पाबंदी थी। 14 वर्ष से कम आयु के प्रशिक्षुओं के प्रयोग पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया। तथाकथित अनिवार्य शिक्षा से संबंधित कानूनों के मुकाबले इन उपायों को व्यापक समर्थन हासिल हुआ।

1979 में अंतर्राष्ट्रीय बाल वर्ष में इन दोनों लक्ष्यों की एक बार फिर पुष्टि की गयी जब भारत के बच्चों की स्थिति की जांच करने तथा उनकी बेहतर खुशहाली के लिए सिफारिश करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने एक समिति बनायी जिसमें सांसद, बच्चों के बारे में काम करने वाली विभिन्न संस्थाओं के प्रतिनिधि और केन्द्र तथा राज्य सरकारों के प्रतिनिधि शामिल थे। समिति को बच्चों के रोजगार से पैदा समस्याओं की छानबीन करनी थी। आयोग ने साफ–साफ शब्दों में सार्वभौम प्राथमिक शिक्षा और बाल मजदूरी की समाप्ति को अपना समर्थन दिया।

वास्तविकता

यद्यपि भारतीय संविधान के अमल में आने के बाद से 40 वर्ष बीत चुके हैं फिर भी अधिकांश प्रेक्षक विख्यात शिक्षाविद् स्वर्गीय जे.पी. नायक के इस कथन से सहमत होंगे कि "सार्वभौम प्राथमिक शिक्षा का लक्ष्य आज भी पहले की ही तरह एक छलावा बना हुआ है।"[4] भारत सरकार के अनुसार 1979 में 6 वर्ष से 14 वर्ष की आयु वर्ग के 4 करोड़ 20 लाख बच्चे अर्थात इस आयु वर्ग के कुल 32 प्रतिशत बच्चे ऐसे थे जो स्कूलों में नहीं जाते थे। लेकिन भारतीय जनगणना के आंकड़ों तथा बीच में पढ़ाई छोड़ने वाले बच्चों के मामलों के अध्ययन के अनुसार स्कूलों में गैरउपस्थिति लगभग दो गुनी

थी। आधिकारिक सरकारी आंकड़ों के अनुसार कक्षा पांच तक पढ़ाई छोड़ने वाले बच्चे 60 प्रतिशत थे और केवल 23 प्रतिशत कक्षा 8 तक पहुंच पाते थे। शिक्षा मंत्रालय की रिपोर्ट बताती है कि 11 से 14 वर्ष के आयुवर्ग के 62 प्रतिशत बच्चों का कहीं दाखिला नहीं था। इसके अलावा स्कूल न जाने वाले इस आयुवर्ग के बच्चों की संख्या 1979 में 2 करोड़ 83 लाख हो गयी जबकि 1970 में यह 2 करोड़ 53 लाख थी।

तालिका 1.1

स्कूल उपस्थिति, 1981 लाख में

आयुवर्ग	कुल आबादी			स्कूल जाने वालों की कुल संख्या		
	व्यक्ति	पुरुष	महिलाएं	व्यक्ति	पुरुष	महिलाएं
शहरी 6–9	158	81	77	106	57	49
10–14	193	101	92	138	78	60
ग्रामीण 6–9	574	296	278	229	142	87
10–14	663	350	313	293	202	91
कुल योग	1588	828	760	766	479	287

स्रोतः सेन्सस आफ इंडिया 1981। सिरीज I पार्ट–II स्पेशल रिपोर्ट और तालिकाएं 5 प्रतिशत नमूना आंकड़े पर आधारित हैं, (नयी दिल्ली, 1983) पृ. 200 (शहरी) पृ. 205 (ग्रामीण)। भारत में छः वर्ष से कम की आयु के बच्चों सहित कुल 26 करोड़ 30 लाख बच्चे हैं जिनमें से 13 करोड़ 58 लाख लड़के और 12 करोड़ 72 लाख लड़कियां हैं। भारत की कुल आबादी का यह 39.5 प्रतिशत है।

1981 में भारतीय जनगणना ने पहली बार यह जानना चाहा कि कोई व्यक्ति स्कूल अथवा कालेज में शिक्षा पा रहा या नहीं। इसके नतीजों से हमें स्कूलों में हाजिरी का एक ऐसा आंकड़ा मिलता है जो भारत सरकार की शिक्षा प्रणाली द्वारा प्रदान किये गये स्कूल–उपस्थिति के आंकड़ों से बिलकुल स्वतंत्र है (देखें तालिका 1.1 और 1.2 1981 की जनगणना ने हमें बताया कि भारत में 6 से 14 वर्ष की आयुवर्ग के 15 करोड़ 88 लाख बच्चों में से 8 करोड़ 22 लाख बच्चे स्कूल नहीं गये। 6 से 14 वर्ष की आयुवर्ग के 12 करोड़ 37 लाख ग्रामीण बच्चों में से केवल 5 करोड़ 22 लाख बच्चे स्कूलों में थे (3 करोड़ 44 लाख लड़के और 1 करोड़ 78 लाख लड़कियां) भारत के शहरी क्षेत्रों में 3 करोड़ 51 लाख में से 2 करोड 44 लाख बच्चे स्कूलों में गये। 1 करोड़ 35 लाख लड़के और 1 करोड़ 9 लाख लड़किया।[5] स्कूलों में सबसे ज्यादा उपस्थिति 10 से 14 वर्ष के आयुवर्ग के शहरी क्षेत्रों के लड़कों की रही (77 प्रतिशत) और सबसे कम 6 से 9 वर्ष के आयुवर्ग की ग्रामीण क्षेत्र की लड़कियों में रही। (31.3 प्रतिशत)। ध्यान देने की बात है कि स्कूलों में नामांकन के बारे में मंत्रालय की ओर से जो सरकारी आंकड़े

दिये गये हैं उनमें और इन आंकड़ों में काफी भिन्नता है। चूंकि जनगणना संबंधी आंकड़े स्वतंत्र शोध संगठनों द्वारा तैयार किये गये ऐसे स्वतंत्र आंकड़े हैं जो क्षेत्र के अध्ययन के बाद जुटाये गये हैं इसलिए अपने इस अध्ययन के दौरान मैं उन्हीं का इस्तेमाल करूंगा।

स्कूलों में उपस्थिति के आंकड़ों से यह पता चलता है कि भारत में साक्षरता दर कितनी कम है। 1981 में 5 वर्ष की उम्र से अधिक की भारत की केवल 41.4 प्रतिशत आबादी साक्षर थी (53.5 प्रतिशत पुरुष, 28.5 प्रतिशत महिलाएं) जिसमें सबसे ज्यादा साक्षरता दर शहरी पुरुषों (74 प्रतिशत) और सबसे कम ग्रामीण महिलाओं (20.7 प्रतिशत) में थी। 1981 में साक्षरों की संख्या इस प्रकार थी– 10 से 14 वर्ष की आयुवर्ग के 56.6 प्रतिशत, 15 से 19 वर्ष की आयुवर्ग के 55.4 प्रतिशत, 20 से 24 वर्ष की आयुवर्ग के 52 प्रतिशत और 25 से 34 वर्ष की आयुवर्ग के 45.1 प्रतिशत। (देखें तालिका 1.3)

तालिका 1.2

स्कूल और कालेज उपस्थिति, 1981 (प्रतिशत)

	आयुवर्ग	व्यक्ति	पुरुष	महिलाएं
ग्रामीण	6–9	39.9	48.0	31.3
	10–14	44.2	57.8	29.2
	15–19	20.5	30.9	809
	20–24	4.7	8.2	1.3
शहरी	6–9	67.1	70.4	63.6
	10–14	71.5	77.0	65.2
	15–19	42.9	50.2	34.5
	20–24	13.4	18.5	7.5
कुल योग	6–9	45.8	52.8	38.3
	10–14	50.5	62.1	37.5
	15–19	26.4	36.0	15.5
	20–24	7.2	11.3	3.0

स्रोतः सेंन्सस आफ इंडिया 1981 सिरीज I, पार्ट–II स्पेशल। रिपोर्ट और तालिकाएं 5 प्रतिशत नमूना आंकड़े पर आधारित हैं, (नयी दिल्ली, 1983) पृ. 92। चूंकि कई बच्चे प्राइमरी स्कूल में पढ़ाई तब तक शुरू नहीं करते हैं जब तक वे प्राथमिक कक्षा के लिए निर्धारित न्यूनतम आयु को पार नहीं कर जाते इसलिए छोटी उम्र के मुकाबले 10 से 14 वर्ष की आयु वर्ग के बच्चों की उपस्थिति का अनुपात ज्यादा रहता है।

प्राथमिक विद्यालय शिक्षा प्रणाली के मामले में भारत की सीमित

प्रभावकारिता और जनसंख्या वृद्धि के हिसाब से स्कूलों में नामांकन तेज करने में इसकी अक्षमता का एक पैमाना निरक्षरों की निरंतर बढ़ती संख्या है: 1961 मे 33.3 करोड़, 1971 में 38.6 करोड़ और 1981 में 43.7 करोड़। फिर भी समूची आबादी में साक्षरों के प्रतिशत में जो वृद्धि हुई वह इस प्रकार थी– 1961 में 24 प्रतिशत से बढ़कर 1971 में 29.5 प्रतिशत और 1981 में 36.2 प्रतिशत (देखें तालिका) 1.4 और 1.56 युवाओं में जो उच्च निरक्षरता दर रही इसकी झलक स्कूलों में उपस्थिति के निम्न आंकड़ों में मिलती है।

बाल मजदूरी के बारे में जो आधिकारिक आंकड़े हैं उनसे भी पता चलता है कि समस्या से निबटने के मामले में सरकार कितनी असफल है। सरकार की रिपोर्ट के मुताबिक 1983 में 15 वर्ष से कम आयु के एक करोड़ 84 लाख बच्चे मजदूरी कर रहे थे और यह ग्रामीण मजदूरों का 6.8 प्रतिशत तथा शहरी मजदूरों का 2.4 प्रतिशत था। वैसे तो भारत के कामगर बच्चों की एक बहुत बड़ी संख्या खेतीबारी के काम में लगी है फिर भी इनमें से ढेर सारे बच्चे औद्योगिक क्षेत्रों में रोजगार में लगे हैं: कालीन बनाने के काम में कुल मजदूरों का 9 प्रतिशत बच्चों के हिस्से में आता है, पीतल के बर्तन बनाने में 25 प्रतिशत, बीड़ी, शीशा और चूड़ी उद्योग में 33 प्रतिशत तथा माचिस उद्योग में 42 प्रतिशत। बागानों में जो लोग काम कर रहे हैं उनमें से 8 प्रतिशत बच्चे हैं। अन्य अध्ययनों में बाल मजदूरों की संख्या काफी दिखाई गयी है। उन बच्चों को ही शामिल करते हुए जिनको मजदूरी तो नहीं मिलती लेकिन जो पूरे समय काम करते हैं, बड़ौदा के एक प्रतिष्ठित शोध संगठन "ऑपरेशन्स रिसर्च ग्रुप" ने अनुमान लगाया है कि 5 से 15 वर्ष की आयुवर्ग के 4 करोड़ 40 लाख बच्चे बाल मजदूरी में लगे हैं।

तालिका 1.3

आयु के अनुसार साक्षरता दर, 1961-1981

आयु	1961	1971	1981
5–9	19.6	23.2	30.6
10–14	42.2	49.8	56.6
15–19	38.4	51.4	55.4
20–24	33.5	44.7	52.0
25–34	28.4	34.8	45.1
35+	22.2	25.2	30.2

स्रोतः ओ.पी. शर्मा और राबर्ट डी रदरफोर्ड। "रीसेंट लिटरेसी ट्रेन्ड्स इन इंडिया, अकेजनल पेपर न. 1, 1987" (नयी दिल्ली: रजिस्ट्रार जनरल और सेन्सस कमिश्नर, 1987) पृ. 11

भारत की सरकार ने बाल मजदूरी समाप्त करने और अनिवार्य प्राथमिक स्कूली शिक्षा शुरू करने में अपनी असमर्थता को छिपाया नहीं है। दरअसल कुछ सरकारें तो इस क्षेत्र में अपनी कठिनाइयों को बहुत खुलकर बताती रहीं हैं या उन्होंने बाल मजदूरी की विकरालता और कर्तव्यविमुखता पर अनेक अध्ययन और आंकड़े उपलब्ध कराये हैं। मिसाल के तौर पर "रिपोर्ट आफ दि कमेटी ऑन चाइल्ड लेबर" 1979 में उन आंकड़ों को विस्तार से दिया गया है जिनसे पता चलता है कि अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में, उद्योग में और राज्य द्वारा कितने बच्चे रोजगार में लगे हैं और यह आंकड़े जनगणना से, नेशनल सैम्पुल सर्वे से तथा श्रम ब्यूरो द्वारा जुटाये गये आंकड़ो से लिया गया है। इसी प्रकार शिक्षा मंत्रालय ने हर राज्य के हिसाब से प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों में भर्ती तथा बीच में पढ़ाई छोड़ देने वाली दरों के बारे में विस्तृत आंकड़े प्रकाशित किये हैं और इन्हीं के साथ अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों से संबंधित आंकड़े भी विस्तार से दिये गये हैं। भारत सरकार ने भी शोध संस्थाओं को इस बात के लिए धन राशि प्रदान की है कि बाल मजदूरी की स्थिति तथा इसको निर्धारित करने वाले कारकों और साथ ही स्कूलों में दाखिला न लेने की स्थितियों के बारे में अध्ययन किया जा सके और इसे प्रकाश में लाया जा सके।

हाल में भारत सरकार अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा लागू करने तथा मजदूरी के काम से सभी बच्चों को हटाने के अपने शुरू के लक्ष्यों से किनारा कर लिया है। श्रम मंत्रालय ने संकेत दिया है कि "नियंत्रणकारी श्रम कानूनों के प्रावधानों के बावजूद यह प्रथा (बाल मजदूरी) बिना रोक टोक जारी है क्योंकि बच्चों का शोषण मालिकों को वित्तीय लाभ देता है तथा यह मां–बाप की आर्थिक मजबूरी है।"[8] इसलिए सरकार बाल मजदूरी को एक "कड़वा यथार्थ" मानती है और प्रस्ताव रखती है कि बच्चों को मजदूरी के काम से हटाने के बजाय उनकी कार्य स्थितियों में सुधार करने के उपाय किये जायें। नये कानून के तहत सरकार का यह प्रस्ताव है कि खतरनाक उद्यमों में बच्चों का रोजगार समाप्त करने पर ध्यान दिया जाय, काम की स्थितियों में सुधार लाया जाय, काम के घंटों और भुगतान की जाने वाली मजदूरी की दरों को ठीक किया जाय तथा काम करने वाले बच्चों के लिए अनौपचारिक पूरक शिक्षा कार्यक्रम शुरू किया जाय। इन नयी नीतियों से, जिनके पक्ष में अनेक सरकारी अधिकारी काफी समय से दलीलें पेश करते रहे हैं, उन नीतियों में महत्वपूर्ण संशोधन का पता चलता है जिनकी सिफारिश करते हुए बाल मजदूरी पर गठित समिति ने कहा था कि बाल मजदूरी कानून को लागू करने पर मुख्य रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए।

तालिका संख्या 1.4

आबादी, साक्षरता और निरक्षरता, 1901-1981 (10 लाख में)

वर्ष	आबादी	साक्षर	निरक्षर	निरक्षरों की संख्या में वृद्धि	साक्षरता दर %
1901	235.1	12.6	222.5		5.4
1911	248.2	14.7	233.5	+11.0	5.9
1921	246.7	17.7	229.0	−4.5	7.2
1931	273.4	26.0	247.4	+18.4	9.5
1941	312.0	50.2	261.8	+14.4	16.1
1951	353.1	58.9	294.2	+32.4	16.7
1961	428.0	102.6	325.5	+31.3	24.4
1971	533.5	157.3	376.2	+50.7	29.5
1981	665.3	241.0	424.3	+48.1	36.2

स्रोत: रीसेंट लिटरेसी ट्रेण्डस इन इंडिया, अकेजनल पेपर नं. 1,1987" नयी दिल्ली रजिस्ट्रार जनरल एन्ड सेंसस कमिश्नर, 1987, पृ. 6। सभी वर्षों के लिए इन आंकड़ों में असम शामिल नहीं है जहां 1981 में जनगणना नहीं हुई। असम सहित 1981 के आकलन के साथ, निरक्षरों की संख्या 1961 में 33 करोड़ 30 लाख, 1971 में 38 करोड़ 60 लाख और 1981 में 43 करोड़ 70 लाख थी।

तालिका 1.5

ग्रामीण बनाम शहरी साक्षरता दर (कुल आबादी में साक्षरों का प्रतिशत)

	1961			1971			1981		
	व्यक्ति	पुरुष	महिला	व्यक्ति	पुरुष	महिला	व्यक्ति	पुरुष	महिला
कुल सं.	23.9	34.4	12.9	29.5	39.5	18.7	36.2	46.9	24.8
ग्रामीण	18.8	28.9	8.4	23.7	33.8	13.1	29.7	40.8	18.0
शहरी	46.9	57.4	34.4	53.4	61.2	42.1	57.4	65.9	47.8

स्रोत: सेंसस आफ इंडिया 1981, सिरीज I, इंडिया, पार्ट II– स्पेशल। रिपोर्ट और तालिकाएं 5 प्रतिशत सैम्पुल डाटा पर आधारित हैं, सिरीज I (नयी दिल्ली, 1983) पृ. 82

नयी नीतियों को, बाल मजदूरी पर गठित समिति के समक्ष अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते समय प्रारंभ में श्रम मंत्री तथा लघु उद्योगों के विकास आयुक्त ने सामने रखा। विकास आयुक्त ने कहा कि "स्कूलों में इस समय जिस तरह की शिक्षा दी जा रही है वह बच्चों के मां–बाप के लिए पूरी तरह अनाकर्षक है–खासतौर से ग्रामीण क्षेत्रों में जहां बच्चों को आर्थिक

आय का एक महत्वपूर्ण साधन समझा जाता है। हमारे देश में अभी जो परिस्थितियां हैं उनमें यह अपेक्षा करना कि काम करने योग्य बच्चे काम पर नहीं लगाये जायेंगे यथार्थ से मुंह मोड़ना है। यह विचार करने का विषय है कि क्या इस तरह के काम से इन बच्चों के स्वस्थ विकास में मदद मिल सकती है बशर्ते इन कामों को स्वास्थ्यवर्धक स्थितियों और ठीक ढंग से बनाये गये नियमों के अधीन कराया जाय।"[9]

भारत के शिक्षा मंत्री ने भी यही दृष्टिकोण अपनाया और उन्होंने निष्कर्ष रूप में कहा कि जबरन शिक्षा देने की बजाय काम करने वाले बच्चों को वैकल्पिक स्वैच्छिक और अनौपचारिक शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए। छठीं और सातवीं पंचवर्षीय योजनाओं में अंशकालिक शिक्षा के लिए उल्लेखनीय धनराशि प्रदान की गयी। राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.आर.टी) ने, जो शिक्षा मंत्रालय द्वारा प्रदत्त धनराशि से चलने वाला इस क्षेत्र का सर्वोच्च संस्थान है, लड़कियों के और भी अधिक स्कूल खोले जाने, महिला अध्यापिकाओं का ज्यादा से ज्यादा उपयोग किये जाने और लड़कियों को स्कूल भेजने के लिए मां–बाप के बीच सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा अभियान शुरू करने की सिफारिश की। शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत लोगों ने निःशुल्क पाठ्य पुस्तकें, गरीब बच्चों को निःशुल्क स्कूल ड्रेस तथा निःशुल्क भोजन देने की मांग की। इस प्रकार हम देखते हैं कि अब सारा जोर अनिवार्य शिक्षा की बजाय शिक्षा संबंधी सुविधाओं का विस्तार करने, लोगों को प्रेरित करने और अनौपचारिक अंशकालिक कार्यक्रमों को लागू करने पर दिया जा रहा है। बाल मजदूरों से संबंधित नीति का अब मुख्य स्वर "सुधार" हो गया है न कि इसकी समाप्ति और शिक्षा के मामले में अब यह "प्रोत्साहन" पर टिक गया है न कि अनिवार्यता पर।

सरकारी अधिकारी इस बात पर जोर देते हैं कि उन्होंने बाल मजदूरी को समाप्त करने तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा लागू करने के अपने दीर्घकालीन लक्ष्यों को छोड़ा नहीं है। उनकी दलील है कि नयी नीतियों से महज उनके इस फैसले की झलक मिलती है कि जो आज सामाजिक और आर्थिक स्थितियां मौजूद हैं उनमें वर्तमान कानूनों को लागू नहीं किया जा सकता। उनका कहना है कि समाज में जो अड़चनें हैं उनकी वजह से कानून कमजोर है : भयंकर गरीबी निर्धन मां–बाप को इस बात के लिए मजबूर करती है कि वे अपने बच्चों से मजदूरी करायें, मां–बाप यह नहीं मानते हैं कि अगर उनके बच्चे स्कूल में दाखिल हो जायं तो इससे उनको या उनके बच्चों को किसी तरह का आर्थिक लाभ मिलने जा रहा है, साथ ही यह भी धारणा है कि औपचारिक शिक्षा के जरिये नहीं बल्कि रोजगार में लगे होने के कारण ही बच्चे कौशल हासिल कर सकेंगे। वे बाल श्रम संबंधी

कानूनों को लागू करने के मामले में मालिकों के विरोध का भी जिक्र करते हैं: मालिक वयस्कों के मुकाबले बच्चों को नौकरी में रखना पसंद करते हैं क्योंकि वे ज्यादा आज्ञाकारी होते हैं, कम पैसे में काम करते हैं, यूनियनें नहीं बनाते, मुलायम उंगलियों के कारण वयस्कों के मुकाबले ज्यादा कारगर ढंग से अनेक शिल्पों में काम कर लेते हैं और बच्चों को वेतन के रूप में कम पैसे देने के कारण कुछ उद्योग जीवित बचे हैं जो ऐसा न होने की स्थिति में घरेलू अथवा अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में मुकाबले में नहीं आ सकते थे।

इन दलीलों का एक नियामक आयाम भी है: तर्क दिया जाता है कि राज्य को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए क्योंकि गरीब मां–बाप को अपने बच्चों के आय की जरूरत होती है। इस प्रकार गरीबों के बच्चों को काम करने की इजाजत देना सामाजिक न्याय का मामला है। इन तर्कों का एक राजनीतिक अवयव भी है: शक्तिशाली मालिकों के हित बाल मजदूरी से संबंधित कानूनों अथवा ऐसे किसी भी उपायों को लागू करने में बाधा पहुंचाते हैं जिनसे बच्चों को मजदूरी के काम से हटाया जा सके। इस प्रकार राज्य को दखल नहीं देना चाहिए और यह दखल नहीं दे सकता। कोई भी कदम न उठाने का नैतिक और व्यावहारिक दोनों औचित्य है।

इन दलीलों से यह बात सामने आती है कि बाल मजदूरी की समाप्ति तथा अनिवार्य शिक्षा की शुरुआत के लिए तब तक इंतजार करना होगा जब तक गरीबों की हालत में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं होता। इसी सिलसिले में यह तर्क पेश किया जाता है कि जैसे–जैसे रोजगार और आय में वृद्धि होगी वैसे–वैसे गरीबों के लिए यह गैर जरूरी हो जायेगा कि वे अपने बच्चों को काम पर भेजें और उस समय शिक्षा के फायदे और भी ज्यादा स्पष्टतौर पर दिखाई देने लगेंगे। इससे संबंद्ध एक तर्क यह है कि टेक्नालॉजी में आने वाली तब्दीलियों के फलस्वरूप अकुशल बाल मजदूरों की मांग में कमी आ जायेगी और शिक्षा से लाभ दिखाई देने लगेगा। बस उसी हालत में मां–बाप अपने बच्चे को स्कूल भेजेंगे ताकि वे नौकरी पाने के लिए शिक्षा ग्रहण कर सकें। यह भी तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रीय बजट में वृद्धि से सरकार प्राथमिक शिक्षा पर खर्च बढ़ाने के मामले में एक बेहतर स्थिति में आ जाएगी।

सामाजिक स्थितियों को केंद्र में रखकर दी गयी इस तरह की व्याख्याएं ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक साक्ष्यों के मुकाबले टिक नहीं पातीं। जैसा कि हमने पहले ही संक्षेप में कहा है कि ऐतिहासिक तथा समकालीन तुलनात्मक साक्ष्यों ने इस धारणा का खण्डन कर दिया है कि व्यापक तौर पर जनशिक्षा प्रति व्यक्ति आय के स्तर पर निर्भर करती है। स्वीडन, स्काटलैंड, औपनिवेशिक

न्यू इंग्लैंड और प्रशिया में 18वीं शताब्दी में साक्षरता का उच्च स्तर उस समय हासिल कर लिया गया जब लोगों की आय बहुत कम थी और आधुनिक, औद्योगिक, शहरी समाजों का विकास भी नहीं हुआ था।

समकालीन विकासशील देशों में भी साक्षरता तथा प्रति व्यक्ति आय के बीच कोई स्पष्ट संबंध नहीं है। भारत में वयस्क (15 वर्ष की आयु से अधिक) साक्षरता दर 40.8 प्रतिशत है जबकि चीन में यह 72.6 प्रतिशत, वर्मा में 78. 5 प्रतिशत, इण्डोनेशिया में 74.1 प्रतिशत, तंजानिया में 85 प्रतिशत, श्रीलंका में 86.1 प्रतिशत और फिलीपीन्स में 88.7 प्रतिशत है। (देखें तालिका 7.2) और जहां समूचे भारत में साक्षरता की दर काफी नीचे है, केरल में यह (पांच वर्ष की आयु से अधिक के बीच) 85 प्रतिशत है जबकि केरल में प्रति व्यक्ति आय देश के अन्य राज्यों से भिन्न नहीं है।

अनेक एशियाई देशों में यह देखा गया है कि उनके यहां तेज आर्थिक विकास होने से पूर्व ही प्राथमिक स्कूलों में बच्चों की उपस्थिति उल्लेखनीय रूप से काफी अधिक रही है। 1873 से 1903 के महज 30 वर्षों के थोड़े समय में जापान की सरकार ने प्राथमिक विद्यालयों में उपस्थिति 28 प्रतिशत से बढ़ाकर 94 प्रतिशत कर दी।[10] 1913 आते–आते इस आयु वर्ग के 98 प्रतिशत लोग स्कूलों में दाखिला ले चुके थे। दक्षिण कोरिया में 1941 में केवल एक तिहाई बच्चे प्राथमिक विद्यालयों में जाते थे लेकिन इसने 1970 वाले दशक के प्रारंभिक वर्षों में सबके लिए प्राथमिक शिक्षा का कार्यक्रम लिया। परिणाम यह हुआ कि यहां 1944 में साक्षरता दर 55 प्रतिशत थी जो बढ़कर 90 प्रतिशत हो गयी। चीन में प्राथमिक स्कूल की शिक्षा का 1949 के बाद तेजी से विस्तार हुआ। 1979 में चीन ने 9,20,000 औपचारिक स्कूलों में लगभग 14 करोड़ 70 लाख बच्चों को दाखिल किया। दाखिले का यह अनुपात 1949 के 25 प्रतिशत के मुकाबले 93 प्रतिशत था। 15 वर्ष की आयु से ऊपर की आबादी में साक्षरता दर 72.6 प्रतिशत है जो कि 1949 के मुकाबले 52 प्रतिशत की वृद्धि बताती है।

भारत तथा अन्य देशों के बीच शिक्षा के मामले में यह जो फर्क है, उसकी वजह अगर हम संसाधनों की कमी कहें तो भी यह बात नहीं जंचती। भारत, सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी.एन.पी.) का 3.6 प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करता है जो केन्या (6.7 प्रतिशत), तंजानिया, (4.3 प्रतिशत) अथवा मलेशिया (7.8 प्रतिशत) से कम है लेकिन बर्मा (1.6 प्रतिशत), चीन(2.7 प्रतिशत), श्रीलंका (3.5 प्रतिशत) और इंडोनेशिया (2.0 प्रतिशत) से ज्यादा है। (देखें तालिका 7.2)। इसके अलावा इन देशों के मुकाबले भारत में शिक्षा के बजट का एक बहुत बड़ा हिस्सा उच्च शिक्षा पर खर्च होता है। उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे कालेज के आयु वर्ग के लिए यह प्रतिशत जहां चीन में महज एक

प्रतिशत, श्रीलंका में 4 प्रतिशत, बर्मा में 1 प्रतिशत और इंडोनेशिया में 4 प्रतिशत था वहीं भारत में यह 9 प्रतिशत रहा। जोकि तीसरी दुनिया के निम्न आय वाले देशों में सबसे ज्यादा है।[12]

इस प्रकार इस बात के ऐतिहासिक और तुलनात्मक साक्ष्य मौजूद हैं कि सबको प्राथमिक शिक्षा देने तथा बाल मजदूरी समाप्त करने का लक्ष्य हासिल करने में जो प्रमुख अड़चनें हैं उनका औद्योगीकरण के स्तर, प्रति व्यक्ति आय एवं परिवारों की सामाजिक स्थितियां, शिक्षा में सरकार द्वारा किये जा रहे व्यय के स्तर अथवा स्कूल जाने वाले बच्चों की संख्या में जनसंख्या वृद्धि के कारण तेजी से हो रहे विस्तार से कोई सरोकार नहीं है– जबकि सफाई के तौर पर यही चार बातें सामने रखी जाती हैं। भारत ने अन्य अनेक देशों के मुकाबले बच्चों को मजदूरी के काम से अलग रखने अथवा स्कूली शिक्षा न देने के मामले में जो कम प्रयास किया है उसका कारण आर्थिक अथवा जनसंख्या विषयक नहीं है बल्कि इसके मूल में सरकारी अधिकारियों, राजनीतिज्ञों, ट्रेड यूनियन नेताओं, स्वैच्छिक एजेंसियों में काम करने वाले कार्यकर्ताओं, धार्मिक नेताओं, बुद्धिजीवियों और प्रभावशाली मध्यवर्ग का वह रुख है जो बाल मजदूरी तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रति देखने को मिलता है। मैं यह बताना चाहूंगा कि इनमें से खास तौर से जो बात महत्वपूर्ण है वह खुद अफसरशाही का रवैया है। यह रवैया राज्य और केन्द्र के शिक्षा अधिकारियों तथा श्रम विभागों और मंत्रालयों के अफसरों में देखा जा सकता है। कम आय वाले मां–बाप की यह इच्छा कि वे अपने बच्चों को काम के लिए भेजें अथवा घर पर उनसे काम लें, और मालिकों की यह इच्छा कि कम वेतन देकर अत्यन्त आज्ञाकारी और यूनियन के पचड़े से अलग रहने वाले मजदूरों को काम दें, महत्व की दृष्टि से गौण बात है क्योंकि दुनिया के अन्य देशों में भी मां–बाप और मालिकों के एक बहुत बड़े हिस्से ने बाल मजदूरी का समर्थन और अनिवार्य शिक्षा का विरोध किया है। भारतीय नीति का खुलासा इस बात से किया जा सकता है कि सरकारी स्तर पर हस्तक्षेप के लिए न तो स्वयं राज्य व्यवस्था के भीतर से कोई जबर्दस्त समर्थन है और न राज्य व्यवस्था के बाहर ऐसा कोई राजनीतिक गठबंधन है जो हस्तक्षेप के लिए सरकार पर दबाव डाले। सरकार की ओर से अधिकाधिक तौर पर की गयी घोषणाओं और राजनीतिज्ञों, अधिकारियों, शिक्षा शास्त्रियों तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा समय–समय पर दिये गये वक्तव्यों के बावजूद भारत में अनिवार्य शिक्षा के लिए अथवा बाल मजदूरी पर प्रतिबंध लगाने वाले कानूनों को लागू करने के लिए लगभग नहीं के बराबर राजनीतिक समर्थन दिखाई देता है।

रूपरेखा

अपनी इस दलील को स्पष्ट रूप से सामने लाने के लिए कि भारत सरकार के घोषित लक्ष्यों को प्राप्त करने में वे चीजें नहीं, जिसे भारत का "सामाजिक यथार्थ" कहते हैं, मुख्य रूप से बाधक हैं बल्कि उन लोगों के विचार बाधक हैं जो सरकारी नीतियों का निर्माण करते हैं और उन्हें अमल में लाते हैं, मैं अनेक स्तरों पर अपनी बात रखूंगा। अध्याय 2.1 में मैं पाठकों के समक्ष भारत के बच्चों की स्थिति के बारे में एक संक्षिप्त तस्वीर प्रस्तुत करूंगा– यह बताऊंगा कि मजदूरी के काम और स्कूली शिक्षा की व्यवस्था में उनका क्या स्थान है। इस अध्याय के लिए मैंने सामग्री जुटाने के क्रम में उन स्थानों की यात्रा की जहां बच्चे काम कर रहे हैं। मैंने भारत के स्कूलों को देखा, दक्षिण भारत के शिवाकासी नामक कस्बे में माचिस बनाने के कारखानों में काम कर रहे बच्चों से, हैदराबाद के ग्रामीण क्षेत्रों में, बंगलौर के शहरी बाजारों में, कर्नाटक के गांवों में, बम्बई की मलिन बस्तियों और बाजारों में, पुणे के स्कूलों में, और महाराष्ट्र के ग्रामीण क्षेत्रों में काम कर रहे बच्चों से मैंने काफी बातचीत की। मैंने पाया कि अनेक बच्चों ने असाधारण रूप से बहुत स्पष्ट शब्दों में बताया कि उन्होंने पढ़ाई क्यों छोड़ी, उनके मां–बाप की स्थिति कैसी है और क्या उन्हें इन हालात से बाहर निकलने का कोई रास्ता दिखाई दे रहा है। हर जगह की कहानी एक जैसी ही थी। मां–बाप ने उनकी पढ़ाई इसलिए छुड़ाई जिससे वे या तो मजदूरी कर सकें या घर के कामकाज में मदद पहुंचा सकें। मुझे ऐसा कोई मामला नहीं मिला जिसमें स्थानीय स्कूलों के अध्यापकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, धार्मिक नेताओं, राजनीतिक पार्टियों के कार्यकर्ताओं अथवा सरकारी अधिकारियों ने मां–बाप को समझाने बुझाने अथवा पढ़ाई छुड़ाने से रोकने का काम किया हो। इन बच्चों में से कुछ ने अपनी मर्जी से अनौपचारिक शिक्षा की कक्षाओं में भाग लिया। ऐसा वे दिन भर की कठिन मेहनत के बाद आमतौर पर रात में करते थे और आस लगाये रहते थे कि इससे वे साक्षर हो सकेंगे अथवा दुबारा औपचारिक स्कूलों में जाकर पढ़ाई कर सकेंगे। निश्चय ही मैं यह दावा नहीं कर सकता कि मैने भारतीय बच्चों के दृष्टिकोण का अथवा उनके काम के अनुभवों का कोई बहुत योजनाबद्ध अध्ययन किया है फिर भी मेरी समझ में यह बात अच्छी तरह आ गयी कि अनेक वयस्कों द्वारा उनके बारे में अपनाई गयी धारणा से मेरा अनुभव प्रायः भिन्न रहा है।

शिक्षा विभाग के अधिकारियों और गैरसरकारी संगठनों के कार्यकर्ताओं की मदद से मैंने कुछ प्राथमिक विद्यालय, व्यावसायिक तथा टेक्निकल प्रशिक्षण विद्यालय और अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रमों के तहत चल रहे स्कूलों को देखा। मैंने विभिन्न सरकारी रिपोर्टों तथा अलग–अलग उद्योगों

में काम कर रहे भारतीय बच्चों की स्थिति के बारे में भारतीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत अनेक शानदार अध्ययनों में से सामग्री जुटाई।

अध्याय 3 और 4 में मैंने सरकारी अधिकारियों, शिक्षा संचालकों और कार्यकर्ताओं के नजरिये का ब्यौरा प्रस्तुत किया है। इन अध्यायों के लिए सामग्री जुटाने में मैंने दिल्ली, अहमदाबाद, बंगलौर, बंबई, त्रिवेन्द्रम, मद्रास, कलकत्ता, पुणे, हैदराबाद और लखनऊ में 112 लोगों का इंटरव्यू लिया। अध्याय 3 में बाल श्रम के प्रति और अध्याय 4 में शिक्षा के प्रति नजरिये का वर्णन है। इन निष्कर्षों को उन लोगों के साथ मेरी बातचीत के रूप में दिया गया है ज़िनको मैंनं इंटरव्यू किया। मैंने कोशिश की है कि अपने खुद के दृष्टिकोण को इस बातचीत में न घुसने दूं– मैंने अपने सवालों और टिप्पणियों का इस रूप में इस्तेमाल किया जिससे उन लोगों को खुद को पूरी तरह अभिव्यक्त करने में मदद मिल सके जिनसे मैं बातचीत कर रहा हूं। चूंकि उन सारी भेंटवार्ताओं को यहां प्रस्तुत करना कठिन काम है इसलिए मैंने उन्हीं को चुना है जिनमें प्रभावकारी ढंग से वे बातें आ सकी हैं जिन्हें प्रायः लोगों ने कहा है। दोनों अध्यायों में मैंने उन भेंटवार्ताओं को भी प्रस्तुत किया है जिनमें वे लोग शामिल हैं जो भावनात्मक रूप से इन मुददों के साथ जुड़े हुए हैं। यद्यपि ये भेंटवार्ताएं मुख्य धारा से थोड़ा अलग हट कर हैं फिर भी इनसे यह पता चलता है कि इस दिशा में भारतीय सोच एक तरह की है।

इन निष्कर्षों में एक आश्चर्यजनक निष्कर्ष यह है कि शिक्षा अधिकारियों सहित अधिकांश अधिकारी अनिवार्य शिक्षा का विरोध करते हैं और बीच में पढ़ाई छोड़ने वाले बच्चों के प्रति उनके मन में बहुत मामूली किस्म की चिंता है। यहां तक कि कलकत्ता में मार्क्सवादी राजनीतिज्ञों और प्रशासकों का यह रवैया था कि मजदूरी करने से बच्चों को रोकने तथा स्कूल में दाखिला लेने के लिए प्रेरित करने की दिशा में न तो कुछ किया जा सका और न कुछ किया जाना चाहिए। हर जगह एक ही दलील सुनने को मिली: बच्चों को खुद को और अपने परिवार को मदद पहुंचाने के लिए काम करना चाहिए; अगर वे स्कूल जाने लगे तो भी क्या वयस्कों के बराबर पैसा कमा सकेंगे; स्कूल बच्चों को कौशल की शिक्षा नहीं देते जिससे वे नौकरी पाने के योग्य बनें; बचपन में ही प्रशिक्षु के रूप में मजदूरी का काम करते रहने से वे अपने कौशल में निपुणता हासिल कर लेते हैं; किसानों के बच्चों को शिक्षा देने का यही मतलब हुआ कि वे शहरों में जाकर मजदूरी की तलाश करें, इस स्थिति से बेरोजगारी बढ़ेगी, शहरी नौकरियों पर दबाव बढ़ेगा और शहरी जीवन में अशांति फैलेगी। अधिकारियों ने व्यापक जनसमुदाय के लिए शिक्षा को मुक्ति का मार्ग न मान कर अस्थिरता का कारण माना। शिक्षा संचालकों

और अधिकारियों ने अनिवार्यता के महत्व पर भी सवाल उठाये। उनका कहना था कि राज्य को इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि वह बच्चों पर स्कूल जाने के लिए दबाव डाले और इस प्रकार मां–बाप को उनकी आय से वंचित करे। कुछ ने बाल मजदूरी के फलस्वरूप देश को होने वाले आर्थिक फायदों की ओर ध्यान दिलाया– खासतौर से कालीन बनाने जैसे निर्यातोन्मुख उद्योगों में जहां उनके हाथों की दक्षता और कम मजदूरी के कारण विश्व बाजार में दूसरों के मुकाबले इस उद्योग के टिके रहने की संभावना बढ़ जाती है।

अध्याय 5 में दिखाया गया है कि किस प्रकार इस तरह के दृष्टिकोण अनिवार्य शिक्षा और बाल मजदूरी से संबंधित नियमों के संदर्भ में भारतीय नीतियों का निर्माण करते हैं। इन क्षेत्रों में अपनायी जाने वाली नीतियां प्रभावित समूहों के दबाव का परिणाम नहीं हैं बल्कि नीति निर्माताओं तथा प्रभावशाली नागरिकों के मूल्यों और विश्वासों की अभिव्यक्ति हैं। 1980 वाले दशक के मध्य में कुछ खास तरह के बाल श्रम को वैधानिक रूप देने के उद्देश्य से तथा उन बच्चों के लिए, जो कभी स्कूल नहीं गये अथवा जिन्होंने पढाई छोड़ दी, अल्पकालिक अनौपचारिक शिक्षा व्यवस्था शुरू करने के लिए बनाई गयी नीतियों की छान–बीन की गयी। राजीव गांधी की सरकार द्वारा शुरू की गयी शिक्षा संबंधी नयी राष्ट्रीय नीति का भी वर्णन किया गया है। यह देखा जा सकता है कि इन दोनों नीतियों का जन्म खुद राज्य मशीनरी के अंदर से हुआ था और इनसे उन्हीं दृष्टिकोणों का पता चलता है जिनका जिक्र अध्याय 3 और 4 में किया गया है। इनसे हमें इस बात की काफी जानकारी मिलती है कि किस प्रकार भारत में बड़े–बड़े पदों पर बैठे और रुतबे वाले लोग मानव संसाधनों के विकास और सामाजिक व्यवस्था की प्रकृति के बारे में सोचते हैं।

अध्याय 6 में एक ऐतिहासिक तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य को पेश किया गया है। मैंने भारत में अनेक शिक्षाविदों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, मजदूर नेताओं तथा अन्यों द्वारा– जिनसे अपेक्षा की जा सकती है कि वे सामाजिक परिवर्तन की एक शक्ति हैं– बच्चों की स्थिति को, जिसे अधिकारीगण "क्रूर तथ्य" कहते हैं, स्वीकार करने के पक्ष में और मौजूदा स्थिति को मान लेने के पक्ष में इतनी दलीलें सुनीं कि मैं यह सोचकर हैरान रह गया कि आखिर दुनिया के अन्य कई हिस्सों में इस तरह के फैसले कैसे लिये गये कि बच्चों को मजदूरी करने से रोकने तथा उन्हें स्कूल भेजने के लिए राज्य कानूनी तौर से व्यवस्था करे। इसने मुझे प्रेरित किया कि 19वीं सदी के अमरीका, ब्रिटेन तथा अन्य यूरोपीय देश और जापान के ऐतिहासिक अनुभवों का अध्ययन करूं। अध्याय 6 में इन देशों में अनिवार्य शिक्षा शुरू करने और

बाल मजदूरी से संबंधित कानूनों के निर्माण के सिलसिले में जो ऐतिहासिक बहसें हुई थीं, उनकी समीक्षा की गयी है तथा उन राजनीतिक समूहों के गठन की जांच पड़ताल की गयी है जिन्होंने राज्य को हस्तक्षेप के लिए मजबूर किया। यहां मेरा सरोकार उन परिस्थितियों, खासतौर से विश्वासों की शिनाख्त करने से है जिन्होंने राज्य के हस्तक्षेप को संभव बनाया और साथ ही यह पता करने की है कि भारतीय परिस्थिति में उनकी प्रासंगिकता क्या है।

अध्याय 7 में दक्षिण कोरिया, ताईवान, चीन लोक गणराज्य, श्रीलंका तथा तीसरी दुनिया के अन्य कई अनुभवों की छानबीन की गयी है जहां राज्य ने अनिवार्य शिक्षा को लागू करने के लिए सफलतापूर्वक हस्तक्षेप किया और बाल मजदूरी की घटनाओं में उल्लेखनीय रूप से कमी आयी। मैं खुद, भारत के अंदर जो फर्क है उसकी भी जांच करूंगा और केरल के सफल प्रयोग पर अपना ध्यान केंद्रित करूगा जहां प्रति व्यक्ति आय भारत के अन्य राज्यों के मुकाबले कुछ बहुत भिन्न नहीं है। इन विकासशील देशों के सामने आईना रखकर और विकसित औद्योगिक देशों के ऐतिहासिक अनुभवों को सामने रखकर हम इसे बेहतर ढंग से समझ सकते हैं कि भारत में नीतियों की रचना में बनी–बनायी धारणाओं की क्या भूमिका है।

अध्याय–8 में इस बात पर विचार किया गया है कि एक दूसरे से सर्वथा भिन्न स्तर के आर्थिक विकास, सरकार के स्वरूप और संस्कृतियों वाले देशों ने भारत के विपरीत शिक्षा को अपने यहां अनिवार्य बनाया और बाल श्रम को गैरकानूनी करार दिया। आखिर क्या वजह है कि दुनिया के अन्य देशों में ऐसे गठजोड़ बन सके जो सुधार का काम करते थे लेकिन भारत में यह संभव नहीं हो सका। इस अंतिम अध्याय में अन्य देशों की उन नीतियों की समीक्षा की गयी है जिनके जरिये हस्तक्षेप संभव हो सका और फिर उन तुलनात्मक उपायों पर विचार किया गया है जिसे भारत में अपनाया जा सके बशर्ते उचित नेतृत्व उपलब्ध हो।

इस विश्लेषण का सकारात्मक पक्ष यह है कि भारत को तब तक इंतजार करने की जरूरत नहीं है जब तक गरीबों की आय का स्तर ऊंचा न हो जाय, जनसंख्या वृद्धि की दर कम न हो जाय, कारखानों के मालिकों को अकुशल मजदूरों की जरूरत न हो अथवा सरकार के पास और भी ज्यादा संसाधन न उपलब्ध हो जायें। निश्चय ही देश के आर्थिक और जनसंख्या संबंधी स्थितियों में इस तरह के परिवर्तनों से न तो खुद–ब–खुद बाल मजदूरी समाप्त हो जायेगी और न सबके लिए प्राथमिक स्कूली शिक्षा हासिल हो जायेगी। अन्य देशों के अनुभवों से हमें यह भी पता चलता है कि भारत सरकार के अधिकार क्षेत्र में यह बात शामिल है कि शिक्षा को

अनिवार्य बनाया जाय। अगर ऐसा नहीं हुआ तो बाल मजदूरी की समाप्ति नहीं हो सकती और सबको साक्षर नहीं बनाया जा सकता।

इस विश्लेषण का नकारात्मक पक्ष यह है कि आमतौर से व्यापक पैमाने पर प्रचलित प्रवृत्तियां, जो महज मुट्ठी भर नीति निर्माताओं तक सीमित नहीं हैं बल्कि शिक्षाविदों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और ट्रेड यूनियनों से जुड़े लोगों के बीच भी देखी गयी हैं, कारगर नीतियों के निर्माण में बाधक हैं जबकि अन्य देशों में बाल मजदूरी की समाप्ति तथा अनिवार्य शिक्षा नीति को लागू करने से संबंधित सुधारवादी आंदोलनों में यही तबका सबसे आगे रहा है। केन्द्र अथवा राज्य सरकारों के स्तर पर राजनीतिक परिवर्तन से जरूरी नहीं कि नीतियों में कोई परिवर्तन हो क्योंकि इन मुद्दों पर भारत के राजनीतिक दलों में कोई मतभेद नहीं है। जिन राज्यों में गैरकांग्रेसी सरकारें रहीं हैं उन्होंने भी कांग्रेसी सरकारों की तुलना में कोई पहल नहीं ली हालांकि प्राथमिक शिक्षा तथा बाल–मजदूरी कानून को लागू करने की जिम्मेदारी राज्य पर ही होती है। अगर परिवर्तन के मार्ग में रुकावटें उन लोगों की प्रवृत्तियों के कारण हैं जो सरकारी नीति का निर्माण और कार्यान्वयन करते हैं अथवा इसे प्रभावित करते हैं और अगर यह प्रवृत्तियां गहराई से जड़ जमाये ऐसी धारणाओं पर आधारित हैं जिन्हें आसानी से हिलाया नहीं जा सकता तो क्या सुधार की कोई संभावना है? हां, यह तभी संभव है जब वे लोग जो नीतियों का निर्माण करते हैं और नीतियों को प्रभावित करते हैं,समस्या के संदर्भ में सोच के अपने तरीके में बदलाव लायें।

टिप्पणियां

1. सुश्री मीना गुप्ता, श्रम मंत्रालय में निदेशक से बातचीत जो *'दि लाइयर्स* (नयी दिल्ली), संख्या–7 (अगस्त 1988), पृ. 33 में प्रकाशित। सुश्री गुप्ता ने 1986 के बाल मजदूरी (निषेध और विनियमन) कानून तैयार करने में मदद पहुंचायी।

2. भारत का संविधान, अनुच्छेद 45।

3. वही, अनुच्छेद.24

4.जे.पी. नायक, *'एलीमेंट्री एजूकेशन इन इंडिया: ए प्रॉमिस टू कीप'* (नयी दिल्ली एलायड पब्लिसर्स, 1975)

5. *सेंसस आफ इंडिया 1981 सीरीज I, पार्ट 2– स्पेशल।* रिपोर्ट और तालिकाएं 5 प्रतिशत नमूने के आंकड़ों पर आधारित हैं, तालिका सी–4 (नयी दिल्ली : रजिस्ट्रार जनरल और सेंसस कमिश्नर, 1983) पृष्ठ 208

6. ओ.पी. शर्मा और राबर्ट डी रदरफोर्ड, *रीसेंट लिटरेसी ट्रेंडस इन इंडिया* (नयी दिल्लीः रजिस्ट्रार जनरल और सेंसस कमिश्नर का आफिस, सामयिक पुस्तिका संख्या–1 1987) पृष्ठ 6। 1901 में कुल निरक्षरों की संख्या 22 करोड़ 25 लाख

थी जो 1951 तक बढ़कर 29 करोड़ 42 लाख हो गयी। निरक्षरों की संख्या में वृद्धि का कारण युवाओं के बीच निरक्षरता दर का निरंतर उच्च होना है। 1981 में 10–14 आयुवर्ग के 43.5 प्रतिशत और 15–19 आयुवर्ग के 44.6 प्रतिशत लोग निरक्षर थे। इससे ऊपर के आयुवर्ग में 56.7 प्रतिशत महिलाएं तथा 34 प्रतिशत पुरुष निरक्षर थे। (वही, पृ. 30–31)

7. श्रम मंत्रालय, *रिपोर्ट ऑफ दि कमेटी ऑन चाइल्ड लेबर*। (नयी दिल्ली भारत सरकार, 1979)

8. श्रम मंत्रालय, *वार्षिक रिपोर्ट 1983–84* (नयी दिल्ली, भारत सरकार, 1985)

9. वही, पृष्ठ 54

10. हरबर्ट पासिन, "जापान", जेम्स एस. कोल मैन द्वारा संपादित *एजूकेशन एंड पोलिटीकल डेवलपमेंट* में (प्रिंसटन यूनीवर्सिटी प्रेस, 1965) पृ. 272

11. विश्व बैंक, *वर्ल्ड डेवलमेंट रिपोर्ट 1985* (न्यूयार्क: आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1985)

12. विश्व बैंक, *वर्ल्ड डेवलपमेंट रिपोर्ट 1987* (न्यूयार्क: आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1987)

2
भारत के मजदूर बच्चे

हैदराबाद से 20 किलोमीटर की दूरी पर स्थित एक गांव के बाहर मवेशियों को चराते हुए जिन आधा दर्जन बच्चों से मेरी मुलाकात हुई, उनमें 12 वर्षीय मादिगा सबसे ज्यादा पढ़ा लिखा था। डेढ़ वर्ष पूर्व मादिगा के मां-बाप ने स्कूल से उसकी पढ़ाई छुड़ाकर स्थानीय डेयरी के मालिक श्री रेड्डी के यहां उसे काम पर लगा दिया था। मादिगा के मां-बाप ने अपने सबसे बड़े बेटे की शादी का खर्च उठाने के लिए श्री रेड्डी से 2000 रुपये उधार लिये थे। इस कर्ज का सूद चुकता करने के लिए और साथ ही एक बंधक के रूप में कोई सामान रखने के लिए मादिगा को श्री रेड्डी के यहां काम पर लगा दिया गया। जमींदार रेड्डी मादिगा को प्रति माह एक घड़ा चावल (16 किलो) और 20 रुपये देता था। मादिगा ने बताया कि उसे अगर मौका मिलता तो वह फिर स्कूल में दाखिल हो जाता लेकिन वह तब तक रेड्डी का घर नहीं छोड़ सकता जब तक उसके मां-बाप के सर से कर्ज का बोझ न उतर जाय। चूंकि उसके मां-बाप खेतिहर मजदूर हैं, इसलिए इस बात के कोई आसार नहीं दिखाई देते कि वे इतने पैसे बचा सकेंगे जिससे रेड्डी का कर्जा उतर सके। मैंने पूछा– "तुम्हारे मां-बाप ने तुम्हारे भाई की शादी के लिए क्यों इतने पैसे उधार लिये?" मादिगा ने जवाब दिया– "यह परिवार की इज्जत का मामला था।"

जिन अन्य लड़कों से मेरी मुलाकात हुई वे अधिक से अधिक एक या दो साल तक स्कूल गये थे। इनमें एक आठ वर्ष का बच्चा था जो मवेशी चरा रहा था और जिसने कभी भी स्कूल के दर्शन नहीं किये थे। मादिगा की तरह वे भी भूतपूर्व अछूत थे और वे सभी बंधुआ मजदूर थे। प्रताब सिंगाराम नामक इस गांव में एक प्राइमरी स्कूल है। लेकिन गांव के महज लगभग 50

प्रतिशत बच्चे ही इस स्कूल में दाखिल हैं। लड़के मवेशी चराते हैं और लड़कियां घर के काम में हाथ बंटाती हैं ताकि उनकी माएं मजदूरी कर सकें। स्कूल के हेडमास्टर को इस बात की बहुत स्पष्ट जानकारी नहीं थी कि कितने बच्चों ने स्कूल में दाखिला लिया और ऐसे कितने बच्चे थे जिन्होंने पहली कक्षा में प्रवेश लेने के बाद प्राथमिक कक्षाओं तक पढ़ाई जारी रखी लेकिन 1980 में हैदराबाद के एक विख्यात "एडमिनिस्ट्रेशन स्टाफ कालेज" द्वारा 1980 में किये गये अध्ययन की एक अप्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार आंध्र प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में स्कूलों की कक्षा एक में दाखिल 9,00,000 लड़कों और 6,46,000 लड़कियों में से केवल 2,30,000 लड़के और 1,26,000 लड़कियां ही कक्षा पांच तक पहुंच सकीं। दूसरे शब्दों में कहें तो कक्षा एक में दाखिल बच्चों में से केवल 23 प्रतिशत बच्चे ही कक्षा पांच तक पहुंच सके। चूंकि कक्षा एक में दाखिले में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई इसलिए यह मान लेना उचित होगा कि केवल एक चौथाई लड़कों और 1/5 हिस्सा लड़कियों ने चौथे दर्जे तक की पढ़ाई पूरी की और स्कूल में पढ़ने के यही न्यूनतम वर्ष हैं जिनके बारे में अधिकांश विशेषज्ञों का मानना है कि बाद के जीवन में कारगर साक्षरता बनाये रखने के लिए ये जरूरी वर्ष हैं।

मजदूर बच्चों की संख्या कितनी?

स्कूलों में न जाने वाले भारत के 8 करोड़ 20 लाख बच्चों में से कामगार बच्चों की संख्या कितनी? कितने बच्चे मजदूरी के काम में लगे हैं इसका अनुमान लगाने में एक कठिनाई यह है कि इनमें से बहुत से बच्चे बिना किसी वेतन या मजदूरी के अपने मां-बाप के साथ खेतों में अथवा घरेलू उद्योगों में काम करते हैं और इनके बारे में जनगणना की रिपोर्ट में किसी तरह का उल्लेख नहीं होता है। कालीन, माचिस, आतिशबाजी, बीड़ी, पीतल के बर्तन, हीरे, शीशे, हौजरी, हथकरघा से बुने कपड़े, कढ़ाई, चूड़ी और परंपरागत हस्त शिल्प जैसे उद्योगों में बड़े पैमाने पर बच्चे काम करते हैं जो प्रायः मजदूरी भी पाते हैं लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वे बिना किसी मजदूरी के अपने मां-बाप के साथ काम कर रहे होते हैं। चाय बागानों में पत्तियां तोड़कर बच्चे अपनी मां की डोलची मे डाल देते हैं और उन्हें खुद अपनी डोलची तभी मिलती है जब वे 12-13 वर्ष के हो जाते है। जो बच्चे अपने मां-बाप के मवेशी चराते हैं, उनके लिए पानी भरते और लकड़ी लाते हैं तथा खाना बनाते हैं, उन्हें कामगार बच्चों की श्रेणी में नहीं रखा जाता हालांकि अगर इन्हीं कामों के लिए इन्हें दूसरों से मजदूरी मिल रही हो तो वे बाल मजदूर माने जायेंगे।

यहां तक कि जिन्हें मजदूरी मिल रही है उनकी भी आसानी से गिनती नहीं हो सकती। घरेलू उद्योगों में लगे बच्चों की संख्या के बारे में जनगणना की रिपोर्ट कुछ नहीं बतातीं। इन रिपोर्टों में उन अनेक बच्चों का भी जिक्र नहीं होता है जिन्हें मध्यवर्गीय परिवार अपने यहां काम के लिए रखे हैं। उन बच्चों का भी इनमें जिक्र नहीं मिलेगा जो रेस्तराओं, चाय की दुकानों और सड़कों के किनारे बनी दुकानों में काम कर रहे हैं। हॉकर का काम बच्चे करते हैं, वे अखबार बांटते हैं, घूम-घूमकर झल्ली बटोरते हैं, जूते पर पालिश करते हैं, जहां निर्माण का कार्य चल रहा हो वहां हैल्पर के रूप में लगे रहते हैं। बच्चे पत्थर खदानों में पत्थर तोड़ते हैं और ट्रकों से सामान चढ़ाने-उतारने का काम करते हैं। अनेक बच्चे अप्रेंटिस के रूप में काम करते हैं (सरकारी कारखानों तक में) और जाहिर है कि उन्हें कामगार बच्चों के रूप में कहीं दर्ज नहीं किया जाता। यही हाल सड़कों पर मवालियों की तरह घूमते बच्चों का-खासतौर से भिखारियों और वेश्याओं का भी है।

बाल श्रमिक के बारे में किसी परिभाषा की अनिश्चितता और इनकी गणना के काम की जटिलता ने ऐसी स्थिति ला दी है कि भारत में बाल मजदूरी का आंकड़ा प्रायः भिन्न-भिन्न मिलता है। भारत की 1981 की जनगणना रिपोर्ट में केवल 1 करोड़ 36 लाख बच्चों को मजदूर के रूप में बताया गया है जिनमें से 81 लाख पुरुष और 55 लाख महिलाएं हैं या 4-14 आयुवर्ग के कुल 7.6 प्रतिशत बच्चे इस श्रेणी में आते हैं।[2] इनमें से 1 करोड़ 16 लाख बच्चे खेती के काम में लगे हैं। 10 लाख से कुछ अधिक बच्चे कारखानों में, प्रोसेसिंग, रिपेयर, वाणिज्य-व्यापार, यातायात परिवहन, निर्माण तथा अन्य सेवाओं में काम करते हैं। अनेक बच्चे घरेलू उद्योगों और छोटे-छोटे कारखानों में काम कर रहे हैं- कालीन उद्योग में जहां बच्चे या तो खुद अपने घरों में या मालिक बुनकरों और करघा के मालिकों के घरों में काम करते हैं, शीशा और चूड़ी उद्योग में यह मिलते हैं जो मुख्यतया कारखाने के शेडों में स्थित हैं, इन्हें आप हीरे काटने के काम में, पीतल के बर्तन, बीड़ी निर्माण, जरी निर्माण तथा झल्ली बटोरने के काम में लगे देख सकते हैं।

अन्य अध्ययनों में बाल मजदूरों की संख्या अपेक्षाकृत ज्यादा मिलती है। नेशनल सैंपुल सर्वे की 1983 की आधिकारिक रिपोर्ट में 1 करोड़ 74 लाख बच्चों को मजदूर बताया गया है जबकि श्रम मंत्रालय द्वारा प्रायोजित बड़ौदा के "आपरेशन्स रिसर्च ग्रुप" के अध्ययन के निष्कर्ष में बताया गया है कि नकद अथवा अन्य रूप में काम का भुगतान पाने वाले बच्चों सहित बाल मजदूरों की संख्या 4 करोड़ 40 लाख थी।

विभिन्न आकलनों में इतना ज्यादा अंतर होने के कारण यह पता करना

ही बहुत मुश्किल हो जाता है कि बाल श्रमिकों की संख्या बढ़ी है या इसमें कमी आयी है। सरकार को श्रम विभाग के अनुसार 1948 के बाद से कारखानों में रोजगार के मामले में उल्लेखनीय गिरावट आयी है लेकिन कानून में परिवर्तन इस गिरावट के आभास का कारण हो सकता है। 1948 के फैक्ट्रीज ऐक्ट में प्रावधान है कि दस या इससे अधिक कर्मचारियों वाली यूनिट में, जिसमें विद्युत शक्ति का इस्तेमाल किया जाता है और बीस अथवा इससे अधिक मजदूरों वाली यूनिट में, जिसमें विद्युत शक्ति का इस्तेमाल नहीं किया जाता है, बाल मजदूरों को नहीं रखा जा सकता है। इसका नतीजा यह है कि बच्चे ऐसे छोटे कारखानों में काम करते हैं जिन पर फैक्ट्रीज ऐक्ट लागू नहीं होता– साथ ही कभी कभार अगर फैक्ट्रीज इंस्पेक्टर ने कारखाने के अंदर कदम रखा तो कारखाने का मालिक बच्चों को कहता कि वे कारखाने से चले जायं। 1971 और 1981 की जनगणना के आंकड़ों की तुलना से पता चलता है कि बाल मजदूरी में वृद्धि हुई है: 1971 की जनगणना रिपोर्ट में बताया गया कि मजदूरों के रूप में 1 करोड़ 7 लाख बच्चे (कुल बच्चों का 4.6 प्रतिशत) थे और 1981 की रिपोर्ट में ऐसे बच्चों की संख्या 1 करोड़ 36 लाख (कुल बच्चों का 5.2 प्रतिशत) थी। जनगणना के ये आंकड़े नेशनल सैम्पुल सर्वे के आंकड़ों से मेल खाते हैं जिनमें 1972–73 में 1 करोड़ 63 लाख तथा 1983 में 1 करोड़ 74 लाख बाल मजदूर बताए गये थे।

राज्यों के अंदर बाल मजदूरी और स्कूलों के दाखिले के आंकड़े आश्चर्यजनक हैं। सभी अध्ययनों में इस बात पर सहमति है कि बाल मजदूरी आंध्र प्रदेश में सबसे ज्यादा और केरल में सबसे कम है। साक्षरता दर तथा प्राइमरी और मिडिल स्कूलों में दाखिले के मामले में आंध्र प्रदेश औसत से काफी नीचे है जबकि केरल इस मामले में सबसे ऊपर है।

बच्चों का काम

स्कूल न जाने वाले बच्चे किस तरह का काम करते हैं? वे किन हालात में काम करते हैं, वे कितना पैसा कमा लेते हैं? वे किस तरह का कौशल (यदि कौशल है तो) हासिल करते हैं? आमदनी के लिए उनका परिवार उन पर कितना निर्भर है? क्या बच्चे अपनी इच्छा से स्कूल छोड़ते हैं या उनसे स्कूल छोड़ने के लिए उनके मां-बाप द्वारा कहा जाता है? अर्थव्यवस्था के खास खास क्षेत्रों की स्थितियों के बारे में प्रकाशित अनेक रिपोर्टों से हमें अपने सवालों के कुछ जवाब मिलते हैं।

बंगलोर शहर का बाजार

बंगलोर शहर के बाजार से 14 वर्ष का एक दुबला पतला मुस्लिम लड़का

मोहम्मद चूहे मारने की दवा का विज्ञापन लिये गुजर रहा है। उसने एक दुकान में सात वर्ष की उम्र में नौकरी शुरू की थी और यहां उसका काम रेशम के कीड़ों को उबाल कर उनमें से रेशम के धागे निकालना था। उसने उबलते पानी से बुरी तरह अपनी एक बांह के जलने के बाद (उसने रूखे स्वर में बताया कि इसका उसे कोई मुआवजा नहीं मिला) यह काम छोड़ा और फिर तरह तरह के काम करता ओर छोड़ता रहा। फिर एक दिन उसके एक दोस्त ने बताया कि किस तरह कुछ केमिकल्स को मिलाकर चूहा मारने की दवा तैयार की जा सकती है। अब वह अपनी बनाई दवा के विज्ञापन की तख्ती हाथ में लिए घूम-घूम कर शहर के बाजार में बेचता रहता है।

बाजार में कुछ बच्चे अपने मां-बाप अथवा अपने रिश्तेदारों की दुकानों में काम करते हैं। 15 साल का एक किशोर जानवरों को सजाने वाले आभूषण बेचता है– वह भी मुस्लिम है। वह कभी स्कूल नहीं गया और कई वर्षों तक उसने अपने पिता की दुकान में नौकरी की। वह कहता है कि एक दिन वह खुद इस दुकान का मालिक बन जायेगा। पास ही दो लड़के अपने एक रिश्तेदार के मसाले की दुकान में काम करते हैं जिसके बदले हर एक को प्रतिदिन दस रुपये मिलते हैं।

अनेक बच्चे दुकानदारी में मदद पहुंचाने के काम में लगे हैं। इनमें से कुछ स्कूल भी जाते हैं और पार्ट टाइम काम करते हैं लेकिन ज्यादातर ऐसे हैं जो पूरे समय काम करते हैं। इनमें से कुछ दुकानें वर्कशाप हैं जिसमें कम उम्र के बच्चे "हेल्पर" के रूप में हैं, खराद का काम करते हैं और मरम्मत आदि के काम में लगे रहते हैं। बाजार के एक छोर पर स्थित एक दुकान में ग्यारह साल का एक मुस्लिम लड़का अपने पिता के साथ, जो आटो रिक्शा मेकेनिक है, पिछले पांच साल तक काम किया। इसे कभी भी स्कूल जाने का मौका नहीं मिला। इसे प्रतिदिन पांच रुपये मिलते हैं।

शहर के मध्य स्थित बाजार की सड़क के उस पार 20 फुट लम्बा और 20 फुट चौड़ा एक वर्कशाप है जिसका नाम है ग्लोब इंजीनियरिंग वर्क्स। शानदार नाम वाले इस छोटे से कारखाने के मैनेजर ने बताया कि उसने इस कारखाने में 16 वर्ष पूर्व "हैल्पर" के रूप में काम किया था। उस समय उसकी उम्र महज 7 साल थी। उसने कोई पढ़ाई नहीं की थी और उसे मजदूरी के रूप में रोज चार आने मिलते थे। उसने शान के साथ बताया कि उसे अब हर महीने 1500 रुपये मिलते हैं और उसके नाम के साथ मैनेजर शब्द छपा उसका विजिटिंग कार्ड है। उसने खुद ही थोड़ा बहुत लिखना-पढ़ना और गुणा-भाग करना सीख लिया। कारखाना साफ सुथरा है और पाइपों पर चूड़ी काटने वाली मशीन (जिस पर मार्क लगता है– नटिंघम, 1894) काफी चमक-दमक वाली है। उसके यहां दो लड़के काम करते हैं और ये

लड़के भी उसी की तरह मुस्लिम परिवारों के हैं। बड़े लड़के सईद की उम्र 13 वर्ष है और उसे प्रतिमाह 200 रुपये मिलते हैं तथा उसे यह भी सिखाया जाता है कि इस मशीन का इस्तेमाल कैसे करना चाहिए। छोटे लड़के की उम्र 11 वर्ष है और उसके जिम्मे कारखाने को साफ–सुथरा रखना है– उसे प्रतिदिन 5 रुपये मिलते हैं। दोनों में से किसी ने कभी स्कूल में पढ़ाई नहीं की। 12 वर्ष की उम्र तक सईद घर में ही रहकर अपनी तीन छोटी बहनों की देखरेख में मां की मदद करता था। कारखाने का मैनेजर इस बात के लिए खासतौर से उत्सुक दिखाई दिया कि सईद इस व्यवसाय को सीख ले।

ग्लोब इंजीनियरिंग वर्क्स के निकट अनेक रेस्तरां और टी स्टाल हैं। इनमें बर्तन धोते और मेजें साफ करते केवल बच्चे ही दिखाई देते हैं। मैं जिस रेस्तरां में लंच के लिए गया वहां भी एक 12 साल का लड़का मेज साफ कर रहा था। उसके मां–बाप तमिलनाडु के एक जिले में खेतिहर मजदूर हैं। 10 वर्ष की उम्र में उसके मां–बाप ने उसे काम ढूंढने के लिए बंगलोर भेज दिया। जिस समय वह शहर में आया वह बिलकुल अपढ़ और निरक्षर था। (उसने शान के साथ कहा– "मैं यहां अकेला ही आया") यहां उसे रेस्तरां में नौकरी मिल गयी। उसे प्रति माह 160 रुपये मिलते हैं और इस रेस्तरां में ही वह सोता और खाता है। उसे उम्मीद है कि बड़ा होने पर वह वेटर बन जायेगा और प्रतिमाह 6–7 सौ कमाने लगेगा।

सिकन्दराबाद के मवाली बच्चे

कलकत्ता, बम्बई, मद्रास तथा भारत के अनेक बड़े और मध्यम दर्जे के शहरों की तरह ही सिकन्दराबाद में ढेर सारे बच्चे आपको मिल जायेंगे जो भीख मांगने में, झल्ली बटोरने में, वेश्यावृत्ति में, फेरी लगाने में लगे हैं। इनमें से कुछ छोटे–मोटे अपराधों में शामिल हैं और कुछ नशीली दवाओं की भयंकर गिरफ्त में हैं। इन्हें प्रायः पुलिस परेशान करती है यद्यपि इनमें से अधिकांश अपने मां–बाप के साथ रहते हैं फिर भी कुछ अनाथ हैं अथवा घर से भागकर आये हैं। सिकन्दराबाद में मैं प्रेमसेवा सदन में गया जिसे कैथोलिक समुदाय के लोग मवाली बच्चों के लिए चलाते हैं। इस केन्द्र में 140 लड़के हैं और उनके रहने और खाने की व्यवस्था की गयी है। इनमें से अनेक मां–बाप और रिश्तेदारों की गाली और मार से परेशान होकर अपने–अपने घरों से भाग कर आये हैं। एक लड़के ने बताया कि उसका घर कुरनूल जिले के गांव में है और वह उस समय भागकर आया जब उसके मां–बाप ने उसे पीट दिया था। वह पहले हैदराबाद गया और वहां झल्ली बटोरने का काम करने लगा। बटोरे हुए पुराने कपड़े वह जिस आदमी को बेचता था उसने उसे नशीली दवाएं देना शुरू किया और कुछ ही दिनों में वह इन दवाओं का आदी बन गया। एक दूसरे लड़के को उसके सौतेले बाप ने

इतनी बुरी तरह पीटा कि उसकी एक टांग ही टूट गयी और वह भीख मांगने लगा। एक और लड़का था जिसके चाचा ने काम ढूंढने के लिए उसे हैदराबाद भेज दिया था। इन सभी बच्चों को प्रेमसेवा सदन के पादरी और उनके अन्य सहकर्मी सड़क से उठाकर लाये थे। उनमें से कुछ लड़के बहुत परेशान रहते हैं और समय–समय पर कुछ ने आत्महत्या की भी कोशिश की।

कभी–कभी गरीब परिवार के लोग प्रेमसेवा सदन यह जानने के लिए आते हैं कि क्या उनके बच्चों को यहां रखा जा सकता है। लेकिन यह सदन इस तरह बच्चों को नहीं लेता। जब भी संभव होता है यहां के कर्मचारी बच्चों के मां–बाप और नजदीकी रिश्तेदारों की तलाश करते हैं ताकि इन बच्चों को वापस भेजने की व्यवस्था की जा सके। इस केन्द्र में दो वर्कशाप भी हैं जिनमें से एक में बढ़ईगीरी और दूसरे में सिलाई की शिक्षा दी जाती है। बढ़ईगीरी सीखने वाले लड़के बिक्री के लिए स्टूल बनाते हैं हालांकि यहां मार्केटिंग पर नहीं बल्कि प्रशिक्षण पर जोर दिया जाता है। सिलाई सीखने वाले बच्चे सिलाई करके कुछ पैसे कमा लेते हैं। लगभग एक दर्जन बच्चों को पढ़ना–लिखना सिखाया जाता है। और इस काम के लिए एक अध्यापक है जो रोजाना स्कूल आता है। कुछ बच्चे पड़ोस के स्कूल में भी जाते हैं। वे इस बात के लिए स्वतंत्र हैं कि जब चाहें सेवासदन छोड़कर जा सकते हैं। कुछ तब छोड़ते हैं जब कोई नौकरी उन्हें मिल जाती है, कुछ वापस अपने परिवार में लौट जाते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो दोबारा फिर सड़कों पर ही पहुंच जाते हैं।

शिवाकासी का माचिस उद्योग

प्रसिद्ध दक्षिण भारतीय मंदिर वाले शहर मदुरै से कुछ घंटों में कार से तय करने वाली दूरी पर स्थित शिवाकासी कस्बे में हर जगह काम करने वाले बच्चे देखे जा सकते हैं। 10 वर्षीय लड़की देवी अपने घर के बरामदे में बैठकर माचिस की डिब्बियां बना रही है। असाधारण कुशलता के साथ उसकी छोटी–छोटी उंगलियां लकड़ी के छोटे टुकड़ों को मोड़कर माचिस के खोल में डालती जा रही हैं। फिर अपनी पहली उंगली से वह कागज पर लेई फैलाती है और बक्स के चारों तरफ चिपका देती है। फिर इस डिबिया को अन्य डिबियों के ढेर में फेंक दिया जाता है और उसका काम दुबारा शुरू हो जाता है।वह अपने परिवार में सबसे छोटी है और पिछले दो वर्षों से इस काम को कर रही है। उसके मां–बाप और उसके तीन बड़े भाई खेतिहर मजदूरी का काम करते हैं।

शिवाकासी भारत में बाल मजदूरी के मामले में सबसे ज्यादा प्रचारित

केंद्र है। यहां बच्चों को माचिस, आतिशबाजी और मुद्रण उद्योग में काम करते देखा जा सकता है। लगभग 20 मील के घेरे से पड़ोस के गांव से बस द्वारा बच्चों को शिवाकासी लाया जाता है। उन्हें बसों और गाड़ियों में तड़के तीन से पांच बजे के दौरान लाद दिया जाता है ताकि 6–7 बजे तक वे कारखानों में पहुंच जायं और शाम के 6 से 9 बजे के बीच उन्हें वापस उनके घरों तक पहुंचा दिया जाता है। एक गाड़ी में 150 से 200 तक बच्चे होते हैं। यह बच्चे लगभग 12 घंटे तक काम करते हैं लेकिन घरों से बाहर इन्हें 15 घंटों से भी ज्यादा समय गुजारना पड़ता है। 15 वर्ष से कम आयु के 45 हजार बच्चे शिवाकासी में या आसपास के कारखानों में अथवा खुद अपने गांव के घरेलू उद्योगों में काम करते हैं। संभवतः इतनी बड़ी संख्या में बाल मजदूर दुनिया के किसी भी शहर में नहीं मिल सकते। इनमें से तीन चौथाई बाल मजदूर लड़कियां हैं। हर गांव में एक दलाल होता है जो बच्चों की भर्ती करता है और मां-बाप से यह गारंटी करता है कि जिस समय गाड़ी आयेगी बच्चों को तैयार रहना पड़ेगा। इन दलालों को प्रति माह 150 रुपये मिलते हैं। वे भर्ती किये गये प्रत्येक बच्चे के मां-बाप को अग्रिम राशि के रूप में 200 रुपये तक दे सकते हैं इस राशि को बाद में बच्चे के वेतन में से काटा जाता है।

शहर से सटे बाहरी छोर पर अनेक छोटे–मोटे कारखाने हैं जहां बच्चे काम करते हैं। इनमें से अधिकांश बच्चे आसपास के गांव से आते हैं। ये बच्चे खांचेदार फ्रेमों को माचिस की तीली की लम्बाई के बराबर कटी खच्चियों से भरते हैं। समूचे फ्रेम को कस कर बांध दिया जाता है और इसके सिरे को गोंद तथा रसायनों के गर्म घोल में डुबोया जाता है और फिर सूखने के लिए छोड़ दिया जाता है। सूखने पर इस फ्रेम को खोला जाता है और फिर तीलियों को माचिस की डिब्बियों में भरा जाता है। माचिस की हर डिब्बी हाथ से बनी हुई होती है। डिब्बे का वह हिस्सा, जिससे रगड़ कर आग जलाई जाती है उस पर ब्रश अथवा रोलर की मदद से केमिकल लगाया जाता है। इसके बाद डिब्बे के ऊपर इस खास माचिस का ब्रांड (नाम) चिपकाया जाता है। बच्चों को रोज की दिहाड़ी के आधार पर पैसे दिये जाते हैं। 4 वर्ष से 10 वर्ष की उम्र के छोटे बच्चों को प्रतिदिन 7 से 10 रुपये और बड़े बच्चों को 10 से 15 रुपये दिया जाता है। आमतौर पर बच्चे 8 साल या इससे अधिक उम्र के होते हैं लेकिन मदुरै और शिवाकासी के बीच सड़क के किनारे एक इमली के पेड़ के नीचे मैंने देखा कि एक 3 साल की बच्ची अपनी 6 साल की बहन को माचिस के डिब्बे बनाने में मदद कर रही है। कानूनी तौर से बाल मजदूरी की इजाजत "घरेलू स्वामित्व" वाले छोटे कारखानों को दी गयी है लेकिन बड़ी फैक्ट्ररियों में

इसकी इजाजत नहीं है।

कमला ने अपनी उम्र 16 वर्ष बताया और वह कस्बे के एक माचिस कारखाने में काम करती है। यह "कारखाना" कुल मिलाकर एक बड़ा शेड है। यहां सैकड़ों लड़कियां काम करती हैं और वे भी खांचेदार फ्रेमों में कटी हुई खच्चियां भरती रहती हैं। कमला का गांव शिवाकासी से बाहर है जहां उसके पिता एक खेतिहर मजदूर हैं। कमला जब 6 वर्ष की थी तब वह उस समय अपने छोटे भाई और बहन की देखभाल करती थी जब उसकी मां माचिस कारखाने में काम करने चली जाती थी। 8 वर्ष की उम्र में कमला ने प्रतिदिन कुछ पैसे कमाने शुरू कर दिये थे। वह दिन भर अपने घर के बरामदे में बैठकर माचिस की डिब्बियां बनाती रहती थीं। एक वर्ष बाद उसे अपने गांव से बाहर मुख्य राजमार्ग के पास माचिस बनाने के एक छोटे से कारखाने में काम मिल गया। 14 वर्ष की उम्र में, जो कारखाने में काम करने के लिए कानूनी तौर पर मान्य उम्र है, वह शिवाकासी के कारखाने में काम करने चली गयी। छोटे कारखाने के मुकाबले फैक्ट्री की हालत बेहतर थी। छोटे कारखाने में न तो टायलेट की सुविधा थी, रोशनी की भी अच्छी व्यवस्था नहीं थी और प्राय' यहां पीने का पानी भी नहीं होता था। कमला छोटे कद की दुबली पतली लड़की है जो अपनी बताई हुई उम्र से कई वर्ष छोटी लगती है लेकिन यही हालत फैक्ट्री में काम करने वाली अन्य लड़कियों की भी है। मैंने कमला से पूछा कि वह लिखना पढ़ना जानती है? उसने इंकार में सिर हिलाया और बताया कि उसे स्कूल जाने का कभी भी मौका नहीं मिला।

शिवाकासी की स्थिति पर लोगों का ध्यान सबसे पहले 1976 में उस समय गया जब बच्चों से भरी हुई एक बस उलट गयी और कई बच्चे मर गये। जब यह खबर सामने आई कि ये बच्चे शिवाकासी के माचिस उद्योग में काम करते थे तब तमिलनाडु सरकार ने दुर्घटना की जांच के लिए एक सदस्यीय आयोग का गठन किया। उन दिनों एक मृदुभाषी सिख हरबंस सिंह राज्य के राजस्व बोर्ड में वरिष्ठ अधिकारी थे और इससे पहले वह राज्य सरकार के उद्योग विभाग में काम कर चुके थे। एक सदस्य वाले आयोग के रूप में श्री सिंह ने इलाके का दौरा किया, शिवाकासी की कई फैक्ट्रियों में गये और कर्मचारियों, सरकार के स्थानीय अधिकारियों, यूनियन के प्रतिनिधियों तथा बच्चों के मां-बाप से उन्होंने बातचीत की। उन्होंने पाया कि यहां फैक्ट्रीज ऐक्ट और बाल रोजगार कानून का जबर्दस्त उल्लंघन हो रहा है। बाल रोजगार कानून में यह प्रावधान है कि 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को रोजगार में नहीं रखा जा सकता। उन्होंने देखा कि 5–6 वर्ष तक के भी बच्चे इन माचिस कारखानों में काम कर रहे हैं। इनमें से अधिकांश बच्चे

कभी भी स्कूल नहीं गये थे। ये लोग खतरनाक रसायनों के बीच काम करते थे और प्रायः दुर्घटना के शिकार होते थे। भयानक कार्य स्थितियों में इन्हें घंटों काम करना पड़ता था और आराम करने अथवा खेलने का तनिक भी अवसर नहीं मिलता था। उन्होंने पाया कि यहां कारखाने के मालिकों और डाक्टरों के बीच सांठ–गांठ है जिनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि वे बच्चों की उम्र और उनके स्वास्थ्य के बारे में प्रमाण पत्र देंगे। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में यह भी बताया कि यहां न्यूनतम वेतन कानून का उल्लंघन हो रहा है और कानूनों को लागू करने के लिए जिम्मेदार सरकारी अधिकारी अपनी जिम्मेदारी का बिल्कुल पालन नहीं कर रहे हैं।

हरबंस सिंह ने इस उद्योग में बाल मजदूरी समाप्त करने की सिफारिश नहीं की। उन्होंने शिवाकासी से निर्वाचित सांसद की उस राय पर अपनी सहमति व्यक्त की जिसमें कहा गया था, "बाल मजदूरी एक आर्थिक समस्या है और इस बात को ध्यान में रखकर ही इस समस्या से निबटा जा सकता है कि इससे न तो बाल मजदूरों के परिवारों के सामने कोई दिक्कत पैदा हो और न उद्योगों को कोई परेशानी हो जिन्होंने रोजगार के इतने अवसर पैदा किये हैं।" उन्होंने लिखा, "बाल मजदूरी समाप्त करने से इन उद्योगों के सामने दिक्कत पैदा होगी जो न केवल बच्चों के लिए बल्कि वयस्कों के लिए भी आय का एक महत्वपूर्ण साधन है।"[6] कुछ वर्ष बाद श्री सिंह से मैं नयी दिल्ली में उनके आवास पर मिला, जहां वह रिटायर होने के बाद रह रहे थे तो मैंने उनसे सवाल किया कि उन्होंने ऐसा क्यों सोचा कि माचिस उद्योग में बाल मजदूरी पर रोक नहीं लगानी चाहिए। उन्होंने कहा कि चूंकि यहां वर्षा कम होती है इसलिए समूचा जिला बहुत गरीब है। यहां पैदावार बहुत कम है और बेरोजगारी भी काफी है। कारखानों में काम करके बच्चे अपने परिवार की आय में कुछ वृद्धि कर पाते हैं। इस उद्योग ने उसी समय से बच्चों को काम पर लगा रखा है जब 1920 के दशक में यहां माचिस कारखानों का निर्माण हुआ। इस उद्योग की शुरूआत यहां दो नाडार व्यापारियों ने की थी। नाडार लोग पिछड़ी जाति के हैं और परंपरागत तौर पर ये लोग ताड़ी निकालने का काम करते हैं। ताड़ और खजूर के उत्पादों के व्यापार से इन लोगों में समृद्धि आई है। इनमें से कुछ शिवाकासी में बस गये जो 19वीं शताब्दी के अंतिम दिनों में व्यापार का एक प्रमुख केंद्र बन गया। 1922 में यह सुनकर कि माचिस के उत्पादन में जबर्दस्त मुनाफा है, दो नाडार व्यापारियों ने जर्मनी से मशीनें मंगाई और शिवाकासी में मिलजुल कर एक कारखाने की स्थापना की। चूंकि इस क्षेत्र में मजदूरी की दर बहुत कम थी इसलिए इन्होंने यह तय किया कि मशीन की बजाय हाथ से उत्पादन कराया जाय। इसके कुछ ही समय बाद नाडार समुदाय के अन्य

उद्यमियों ने अपनी–अपनी फैक्ट्रियां खड़ी कर लीं। स्टेट बैंक आफ इंडिया से 1950 के दशक में कर्ज लेने के बाद नाडारों को यहां अपने कारखानों का विस्तार करने का अवसर मिला। उत्पादकों ने "आल इंडिया चैम्बर आफ मैच इंडस्ट्रीज" की स्थापना शिवाकासी में की जिसमें 115 यूनिटों का प्रतिनिधित्व था ताकि वे देश के पैमाने पर माचिस की मार्केटिंग कर सकें।

माचिस उद्योग में सबसे बड़ी प्रतियोगी कम्पनी "विम्को" है। भारत में 1927 में स्थापित स्वीडन की इस कंपनी में सारा काम मशीनों के जरिये होता है। विम्को तथा मशीनों से काम कराने वाली अन्य यूनिटों में केवल 6000 लोग काम करते हैं और इन कंपनियों ने 1978 में 4.3 बिलियन माचिसों का उत्पादन किया जो देश के कुल माचिस उत्पादन का 30 प्रतिशत है। मशीनों से काम न कराने वाली अन्य यूनिटों की तुलना में जहां 250000 लोग काम करते हैं, इस पर लागत कम आती है।गैर मशीनी क्षेत्र को संरक्षण देने के प्रयास में सरकार ने विम्को पर उत्पादन शुल्क लगाया और माचिस उद्योग को कुटीर उद्योग के रूप में विकसित करने के लिए तथा विपणन के काम में सहायता पहुंचाने के लिए खादी ग्रामोद्योग आयोग का गठन किया।

कारखाने के मालिकों और प्रबंधकों ने श्री सिंह को बताया कि उन्हें कम मुनाफा होता है और यह भी बताया कि अगर वे बच्चों को काम पर न लगाकर ज्यादा मजदूरी देकर बड़ों को काम पर लगाएं तो वे विम्को का मुकाबला नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार कारखाने के मालिकों ने अपने खुद के हितों को बचाने के लिए बाल श्रमिकों की जरूरतों पर जोर दिया और बहुराष्ट्रीय कंपनियों का बड़े पैमाने पर विरोध किया। श्री सिंह ने इन कंपनियों के बही खातों का मूल्यांकन किये बगैर यह मान लिया कि अगर बाल मजदूरी को खत्म कर दिया जायेगा तो कई कारखाने बंद हो जायेंगे और इससे यहां के लोगों की आर्थिक स्थिति खराब हो जाएगी। श्री सिंह ने कहा– "अगर वे बच्चों को काम पर नहीं लेते हैं तो उन्हें आस–पास के इलाकों से वयस्कों को काम पर लेना होगा। लेकिन यह उद्योग बाल मजदूर के शोषण पर खड़ा है। प्रबंधकों ने मुझे बताया कि यद्यपि सरकार ने विम्को नामक बहुराष्ट्रीय कंपनी पर भारी उत्पादन शुल्क लगा रखा है, फिर भी अगर इन कंपनियों को काम के एवज में ज्यादा पैसा देना पड़ा तो वे विम्को के सामने टिक नहीं पायेंगे। माचिस उद्योग से बेरोजगारी में कमी आयी है। अगर आप बच्चों के काम करने पर रोक लगायेंगे तो बहुत सारे परिवार बच्चों द्वारा किये जा रहे योगदान को खो बैठेंगे।"

बाल मजदूरी पर रोक लगाने के बजाय श्री सिंह ने अन्य उपायों की चर्चा की। उनका कहना था कि बच्चों की मजदूरी बढ़ाई जानी चाहिए और

अगर इसकी वजह से मालिकों के सामने दिक्कतें पैदा होती हैं तो सरकार को चाहिए कि वह विम्को पर और भी ज्यादा उत्पादन शुल्क लगाये। वह चाहते हैं कि फैक्ट्री के मालिक अपने कारखानों का गांवों तक विस्तार करें ओर गांवों में अपने शेड बनायें ताकि बच्चों को घंटों तक लंबी दूरी न तय करनी पड़े। उन्होंने कहा कि बच्चों को ढोने की बजाय इन बसों को सामान ढोने का काम करना चाहिए। चूंकि ढेर सारे बच्चे अभी भी शिवाकासी में काम करते हैं इसलिए उन्होंने अनुरोध किया कि बसों की स्थिति में सुधार लाया जाय। उन्होंने इस बात की भी सिफारिश की कि सबेरे 8 बजे से 10 बजे तक कारखाने के अंदर ही रोजगार–उन्मुख अनौपचारिक शिक्षा प्रदान की जाय ताकि काम करते समय बच्चों को कुछ शिक्षा मिल सके।

1988 में सरकार ने अनौपचारिक शिक्षा, निःशुल्क स्वास्थ्य सेवा और दोपहर का निःशुल्क भोजन बच्चों को कारखानों में ही प्रदान करने के लिए एक कार्यक्रम की शुरुआत की। इसका खर्च केंद्रीय श्रम मंत्रालय देता था। इस कार्यक्रम के आलोचकों का कहना था कि दोपहर के खाने की व्यवस्था का अर्थ यह हो गया कि अब मालिकों को बाल मजदूर मिलेंगे ही क्योंकि उन्हीं बच्चों को खाना दिया जायेगा जो काम पर आते रहेंगे। इसके अलावा अब मालिकों को सरकार के लेबर इंस्पेक्टरों का भी भय नहीं रह गया क्योंकि अपने इस कदम से सरकार ने खुद ही बाल मजदूरी को वैधानिकता प्रदान कर दी।[7] फिर भी सरकार ने यह जोर देकर कहा कि कारखानों में केवल उन्हीं बच्चों को काम करने की इजाजत दी जायेगी जिनकी उम्र 14 वर्ष अथवा इससे अधिक है।

फिरोजाबाद का कांच उद्योग

आगरा जिले के फिरोजाबाद कस्बे में कांच की चूड़ियां बनाने के जो कारखाने हैं उनमें दो तरह की भट्ठियों का इस्तेमाल होता है। इन कारखानों में देश की 99 प्रतिशत चूड़ियां बनती हैं और भारत के कांच उद्योग का यह सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र है।[8] यहां की "पाट" भट्ठियां अपेक्षाकृत छोटे आकार की हैं। इन भट्ठियों का तापमान 700 डिग्री सेंटीग्रेड से 800 डिग्री सेन्टीग्रेड के बीच होता है। "टैंक" भट्ठियां ज्यादा बड़ी होती हैं और इनका तापमान 1800 डिग्री सेंटीग्रेड तक होता है। कांच की चूड़ियां गैर कानूनी ढंग से टैंक भट्ठियों में बनाई जाती हैं क्योंकि इनकी क्षमता ज्यादा होती है और यह चौबीसों घंटे काम करती हैं हालांकि इनमें बनी चूड़ियां थोड़ी निम्न कोटि की होती हैं क्योंकि पिघले हुए शीशे को बाहर निकालने के बाद इसमें रंग मिलाया जाता है। पकाई वाला (वह व्यक्ति जो चूड़ियों से सजी ट्रे को भट्ठी में रखता है) के लिए छोटे–छोटे

बच्चे ट्रे में चूड़ियां सजाते हैं। बाल मजदूर शीशे के जलते हुए दुम्मटों को भी ढोते हैं जो 4 फुट लम्बे लोहे की छड़ों के सिरे पर चिपके होते हैं। बिना हैण्डिल वाले इन छड़ों को "लबिया" कहते हैं। यहां काम करने वाले मजदूर जलते हुए पदार्थों को लेकर लगातार इधर से उधर घूमते रहते हैं। लबियों के सिरों पर धधकते हुए शीशे के गोलों को धौंकनी में डाला जाता है। धौंकनी से निकलने के बाद इस कांच को एक सांचे में डालते हैं और इस सांचे को लेकर बच्चे दूसरे मजदूर के पास जाते हैं जो इन्हें काटता है। बच्चे आग की धधकती भट्ठियों के करीब ही काम करते हैं और कभी–कभी भट्ठी से पिघला हुआ कांच भी निकालते हैं। पूरा वातावरण रासायनिक धुंए, कालिख और कोयले की धूल से भरा होता है तथा फर्श पर चारों तरफ टूटे हुए कांच के टुकड़े बिखरे रहते हैं।

बड़े कारखानों में सभी मजदूरों को घंटा अथवा दिन के हिसाब से पैसा मिलता है। छोटी यूनिटों में, जहां चूड़ियों को जोड़ा जाता है मजदूरों को पैसे का भुगतान पीस रेट के आधार पर होता है। इन छोटी यूनिटों में 3 या 4 बच्चों सहित लगभग 20 लोग काम करते हैं। इन यूनिटों में हवा के आने जाने का कोई रास्ता नहीं होता और इसी घुटन भरे कमरे में चूड़ियों को गोल आकार देने के लिए एसीटीलीन फ्लेम की मदद से उनके दोनों सिरों को जोड़ा जाता है और इस प्रक्रिया को "जुड़ाई" कहते हैं। अन्य प्रमुख प्रक्रियाएं हैं– कटाई (चूड़ियों पर खांचे बनाना), पकाई (चूड़ियों को भट्ठी में तपाकर मजबूती देना) और सुनहरे तरल पदार्थ को खांचों में भरना ताकि इसमें रंग आ जाये। इसके बाद इसको साफ सुथरा और चमकदार बनाने के लिए एक बार फिर आग में पकाया जाता है। इनमें से कुछ प्रक्रियाएं बहुत ही खतरनाक हैं। खासतौर से वह प्रक्रिया जिसमें चूड़ियों को नाचते हुए पहियों पर रगड़ा जाता है। इससे कांच भरी धूल निकलती है और काफी ताप पैदा होता है। इन सभी प्रक्रियाओं में बच्चे काम में लगाये जाते हैं।

फिरोजाबाद के कारखानों में कांच के विविध उत्पादों मसलन चूड़ियां, बल्बों, मगों, जगों,, झाड़ फानूसों और कटग्लास के उपयोगी सामानों पर काम किया जाता है। इन कारखानों के मालिक इन उत्पादों को तथा बाजार के मूल्य से काफी कम कीमत पर सरकार द्वारा आवंटित कोयले के कोटे में से बचे हुए कोयले को दोबारा बेचकर अच्छी खासी जिंदगी बिताते हैं। कुशल मजदूरों को प्रतिदिन 60 या 65 रुपया दिया जाता है लेकिन इनके काम करने का जीवन बहुत थोड़ा होता है। ऐसे कम ही मजदूर हैं जो 35 वर्ष की उम्र के बाद भी काम करने योग्य बचे रहते हैं। बच्चों को 12 घंटे की एक पारी में काम करने के बदले 10 रुपये दिये जाते हैं और जब वे इतने बड़े हो जाते हैं कि वे शीशे को धौंकनी में पकाने के लायक हो जायं

तो उनकी दैनिक मजदूरी दोगुनी की जा सकती है।

उत्तर प्रदेश सरकार के श्रम विभाग के अनुसार इन यूनिटों में काम करने वाले 65 हजार से 70 हजार कर्मचारियों में से 13 प्रतिशत बच्चे हैं। फिरोजाबाद के श्रम विभाग ने सिफारिश की है कि यहां बाल मजदूरी पर रोक नहीं लगायी जानी चाहिए क्योंकि अगर कोई बच्चा छोटी उम्र से ही यह काम नहीं शुरू करेगा तो यह भीषण ताप को झेलने की क्षमता नहीं हासिल कर सकेगा। बच्चों का महत्व इसलिए भी है क्योंकि बड़ों के मुकाबले वे तेज रफ्तार से एक स्थान से दूसरे स्थान तक जा सकते हैं और इस कारण पिघला हुआ शीशा जमने से पहले ही उस कारीगर तक पहुंच जाता है जो उसे आकार दे रहा होता है। श्रम विभाग ने सुझाव दिया कि यहां हास्टल बनवाये जायं ताकि रात की पारी में काम करने वाले बच्चों को पास ही में ठहरने की सुविधा मिल सके। यद्यपि 1948 के फैक्ट्रीज ऐक्ट के तहत रात में बच्चों से काम लेने की मनाही है फिर भी रात की पारी में 7–8 वर्ष की उम्र तक के बच्चों को भी काम करते हुए देखा जा सकता है। इन कारखानों में रात–रात भर काम होता है ताकि हर रोज शाम को भट्ठी न बुझाना पड़े। भट्ठी को दोबारा जलाना खर्चीला काम है।

नीरा बुरा ने, जिन्होंने फिरोजाबाद के कारखानों का अध्ययन किया था, मजदूरों और बाल–मजदूरों की संख्या का जो ब्यौरा दिया है वह श्रम विभाग से काफी भिन्न है और नीरा बुरा द्वारा प्रस्तुत आंकड़े श्रम विभाग के आंकड़ों से काफी अधिक हैं। फैक्ट्री के मालिकों, मजदूरों और स्थानीय राजनीतिज्ञों के साथ बातचीत के बाद उन्होंने यह अनुमान लगाया कि इन कारखानों में डेढ़ लाख से दो लाख मजदूर तथा 14 वर्ष से कम आयु के 40 से 50,000 बच्चे काम करते हैं।[9]

खुर्जा का मिट्टी बर्तन उद्योग

उत्तर प्रदेश में खुर्जा नामक कस्बे में चीनी मिट्टी का जो बर्तन उद्योग है उसमें लगभग 5,000 बच्चे काम करते हैं और इनमें से अधिकांश "फंटीवाले" हैं। यह बच्चे फंटी से (लकड़ी का एक टुकड़ा जिस पर 5–6 सांचे रखे जाते हैं) खाली सांचे उठाते हैं और उसे कुम्हार तक पहुंचाते हैं। इसके बाद भरे हुए सांचों को सुखाने के लिए ये लोग इसे धूप में डालते हैं। इस काम को स्थानीय भाषा में "उठाई–रखाई" कहा जाता है। सांचों के साथ फंटी का वजन 8 से 11 किलो तक होता है। समाजशास्त्री नीरा बुरा के अनुसार, जिन्होंने खुर्जा में 19 दिन रहकर मजदूरों, फैक्ट्री मालिकों, ठेकेदारों, शिल्पकारों, व्यापारियों, डाक्टरों और सरकारी अधिकारियों से बातचीत की, इन बच्चों को आठ घंटे की ड्यूटी के दौरान सांचे लेकर लगभग एक जहार

चक्कर लगाने पड़ते हैं जिसमें वे छह से सात किलोमीटर की दूरी तय करते हैं।[10] बच्चे उन बर्तनों को, जो अभी पूरी तरह सूखे नहीं होते, लेकर शिल्पकारों के पास भी जाते हैं ताकि उसे अंतिम रूप दिया जा सके। इनको कई तरह के काम करने पड़ते हैं मसलन बर्तनों में पानी भरना, कच्ची मिट्टी से भरे डिब्बों को उठाकर पहुंचाना ताकि उन्हें आंवे में डाला जा सके, डिब्बों में पड़े मिट्टी के टुकड़ों को साफ करना, कुम्हार द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली विद्युत चालित मशीन की सफाई करना, मिट्टी से कंकड़ आदि निकालना, कारखाने की सफाई करना और इधर से उधर दौड़ते भागते रहना।

खुर्जा के बर्तन उद्योग में कार्यरत ज्यादातर बच्चे स्थानीय मजदूरों के बच्चे हैं। इनमें से अधिकांश निरक्षर हैं हालांकि कुछ ने चौथे दर्जे तक पढ़ाई की है। यहां काम करने वाले बच्चों को 150 रुपये प्रतिमाह मिलते हैं और उन्हें रोज आठ घंटे की ड्यूटी देनी पड़ती है। अकुशल मजदूरों को प्रतिमाह 200 रु. और कुशल मजदूरों को 400 रु.मिलते हैं। बुरा का कहना है कि जिन मजदूरों ने यहां कम ही उम्र में काम शुरू किया (अनेक बच्चे 8–9 साल के हैं) और 15–20 वर्षों तक नियमित रूप से काम किया, उन्हें भी वेतन के रूप में उतना ही पैसा मिलता है जितना नई भर्ती वाले किसी वयस्क मजदूर को। बुरा के निष्कर्षों की पुष्टि एक दूसरे जगह के सर्वेक्षण से हो गयी जो 1965 से 1976 के दौरान हैदराबाद के पास किया गया था। यहां के 26 गांवों के सर्वेक्षण से पता चलता है कि जिन लोगों ने बचपन से खेतिहर मजदूर के रूप में काम किया और शिक्षा के लिए कभी किसी स्कूल में दाखिला नहीं लिया, उनकी आय उन लोगों के मुकाबले कम है जिन्होंने कुछ वर्ष स्कूल में बिताए और अपेक्षाकृत ज्यादा उम्र होने तक मजदूरी करने से बचते रहे। जिन्होंने बचपन से ही मजदूरी शुरू की उनकी उम्र बढ़ने के साथ शरीर का वजन कम हो गया और भूस्वामियों द्वारा उन्हें दूसरी श्रेणी के मजदूरों के मुकाबले कम मजदूरी दी गयी। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि मजदूर के रूप में जीवन की प्रारंभिक अवस्था में काम शुरू करने, शारीरिक स्वास्थ्य की स्थिति और जीवन भर मजदूरी कमाने की क्षमता के बीच एक संबंध है।[11]

चूंकि मिट्टी के बर्तन उद्योग में जो कच्चा माल लगाया जाता है उनमें सिलिका भी है इसलिए यहां की धूल के सांस के साथ शरीर के अंदर प्रवेश से एक खास तरह की बीमारी होती है जो स्वास्थ्य की दृष्टि से काफी विनाशकारी है। यहां के अनेक मजदूर दमे की बीमारी, ब्रोंकाइटिस और टी. बी. से पीड़ित हैं। स्थानीय खुर्जा अस्पताल के सुपरिंटेंडेंट डाक्टर सक्सेना का कहना है कि यहां ज्यादातर कुम्हार टी.बी. की शिकायत लेकर आते हैं।

प्रतिदिन यहां के स्थानीय चिकित्सालय में 25 या 30 वयस्क कुम्हार और इतनी ही संख्या में इनके यहां काम करने वाले बच्चे भी आते हैं। इन सबको सांस से संबंधित बीमारी की शिकायत रहती है।

खुर्जा का बर्तन उद्योग वैसे तो काफी पुराना है और यहां के फारसी नक्काशी और रंगों वाले बर्तन तथा हुक्का बहुत मशहूर हैं लेकिन मौजूदा उद्योग अपेक्षाकृत नया है। 1946 में राज्य सरकार ने 8 कुम्हारों को लेकर पाटरी डेवलपमेंट सेंटर की स्थापना की। इसमें छात्रों को भर्ती किया गया और उद्यमी बनने में उन्हें मदद पहुंचायी गयी। चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने वाली 18 यूनिटों को लेकर एक औद्योगिक क्षेत्र का निर्माण किया गया। खुर्जा का बर्तन उद्योग एक व्यापक बाजार के लिए माल तैयार करता है जबकि स्थानीय परंपरागत कुम्हार जो बर्तन तैयार करते हैं उनकी खपत स्थानीय बाजार में ही होती है। इस समय वहां 250 ऐसी यूनिटें हैं जो लगभग 15 हजार टन माल तैयार कर रही हैं जो लघु उद्योग क्षेत्र में देश में तैयार होने वाले कुल बर्तनों का 20 प्रतिशत से भी अधिक है।

इस बर्तन उद्योग में लगभग 20 हजार लोग काम करते हैं जिनमें से 5 हजार ऐसे बच्चे हैं जिनकी उम्र 14 वर्ष से कम है। कुछ यूनिटें ही ऐसी हैं जिनमें दस से कम मजदूर हैं– अधिकांश यूनिटें 25 से अधिक मजदूरों को काम दिए हुए हैं और कुछ में तो 80 से लेकर 90 मजदूर तक काम करते हैं। फैक्ट्री ऐक्ट से बचने के लिए अनेक यूनिटों ने अपने यहां 10 से कम मजदूरों को ही काम करते दिखाया है। 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखानों में काम पर लगाने पर प्रतिबंध है लेकिन छोटी यूनिटों पर यह प्रतिबंध लागू नहीं होता। छोटी यूनिटों में मालिकों से यह भी अपेक्षा नहीं की जाती कि वे मजदूरों को पेयजल, शौचालय, चिकित्सा बीमा और बोनस आदि की सुविधाएं प्रदान करें। छोटी यूनिटों में काम की भी सुरक्षा नहीं है। नीरा बुरा ने लिखा– "खुर्जा में मजदूर, मालिक, ठेकेदार और व्यापारी सभी जानते हैं कि फैक्ट्री ऐक्ट के तहत बच्चों को काम पर लगाना एकदम मना है। जब मैं पहली बार खुर्जा गयी और मैंने लोगों से बातचीत की तो सबने इस बात से इन्कार किया कि यहां बाल मजदूरी है। लेकिन जब मैंने उन्हें काम करते बच्चों की तस्वीरें दिखाई तो उन्होंने इस तथ्य से इन्कार करने का कारण यह बतलाया कि चूंकि फैक्ट्री ऐक्ट के तहत बाल मजदूरी पर प्रतिबंध है इसलिए उन्हे ऐसा करना पड़ा।"[12]

यहां न तो मजदूर और न बच्चे परंपरागत कुम्हार हैं। अधिकांश खेतिहर मजदूरों के परिवारों से आते हैं। अक्सर खेतिहर परिवारों के लोग अपने बच्चों को इन कारखानों में काम करने को भेजते हैं। आमतौर पर ये बच्चे परिवार की आय में थोड़ा इजाफा करते हैं हालांकि इनमें से कुछ ऐसे

भी हैं जो पारिवारिक आय के मुख्य स्रोत हैं। बुरा का कहना है कि "लक्ष्मण दास की उम्र 12 वर्ष है और वह खुर्जा का स्थानीय निवासी है। वह और उसका नौ वर्षीय छोटा भाई– ये दोनों ही अपने परिवार के मुख्य रूप से कमाऊ व्यक्ति हैं। जब लक्ष्मण दास से यह पूछा गया कि उसके पिता क्या करते हैं तो उसने सकुचाते हुए कहा कि वह रिटायर हो चुके हैं। अपने भाई के साथ मिलकर वह सात सदस्यों के अपने परिवार का खर्च चलाता है। जिस समय मैं लक्ष्मण दास से बातचीत कर रही थी वहां का ठेकेदार पास ही खड़ा था और उसने लक्ष्मण के परिवार के बारे में बताया कि बाप शराबी है। मां आलसी है। वे इसलिए काम नहीं करते क्योंकि काम करने के लिए बच्चे तो हैं ही।"[13]

एक दूसरा लड़का उपल तब से यहां काम कर रहा है जब वह छठवीं कक्षा में फेल हो गया। इसकी उम्र 13 वर्ष थी। उसने बताया कि– "मेरे मां-बाप को पैसों की जरूरत थी ताकि मेरी बहन की शादी हो जाए इसलिए मैं अपने भाई के साथ इस कारखाने में काम करने लगा। मैंने सोचा था कि कुछ दिनों बाद मैं दुबारा स्कूल चला जाऊंगा लेकिन एक बार स्कूल छोड़ने के बाद फिर वापस जाना बहुत मुश्किल हो जाता है। अभी मेरी दूसरी बहनों की शादी होनी बाकी है। मेरे पिता के पास बहुत थोड़ी जमीन है।"[14]

कुछ वयस्क लोग अपने घर के बच्चों को खुद ही काम के लिए लाते हैं। ऐसे ही एक व्यक्ति ने बताया– "हमारी मजदूरी यहां इतनी कम है कि हमारे सामने इस बात के अलावा और कोई चारा ही नहीं रहता कि हम अपने बच्चों को भी काम पर लगा दें ताकि परिवार की आय में कुछ वृद्धि हो जाए।"[15] अधिकांश बच्चे अनुसूचित जाति अथवा मुस्लिम परिवारों के हैं। बेशक, इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि ये यूनिटें परिवारों द्वारा चलायी जाने वाली यूनिटें नहीं हैं। खुर्जा के अधिकांश कारखानों निजी स्वामित्व वाले हैं और यहां बड़े पैमाने पर कम लागत वाले सामानों का निर्माण होता है। यहां काम करने वाले बच्चे परंपरागत अप्रेंटिस नहीं हैं और वे कोई ऐसा कौशल भी हासिल नहीं कर रहे हैं जो भविष्य में उनको ज्यादा पैसे कमाने के अवसर प्रदान कर सके।

अपनी रिपोर्ट में नीरा बुरा ने बताया कि कारखाने के मालिकों ने मजदूरों के रूप में बच्चों को प्राथमिकता देने की इच्छा व्यक्त की। रिपोर्ट में कहा गया है– "अगर किसी वयस्क से कहा जाता है कि यह सामान यहां से लेकर वहां पहुंचा दो तो वह बहुत समय ले लेता है। बच्चे इस काम को बड़ी तेजी से पूरा कर लेते हैं। यह ऐसा काम ही नहीं है जिसे बड़े कर सकें।"[16] उन कारखानों के वयस्क मजदूरों ने, जहां बच्चे काम नहीं करते बताया कि –"हम इस काम को पसंद नहीं करते क्योंकि यह बहुत थका देने

वाला काम है। बच्चों का शरीर लचीला होता है और वे तेज दौड़ सकते हैं, तेजी से झुक सकते हैं और फुर्ती के साथ इधर-से उधर जा सकते हैं। उम्र अधिक हो जाने पर यह सब करना बहुत कठिन हो जाता है।"

पुणे के नजदीक का एक गांव

काम करने वाले बच्चों का अंतिम ब्यौरा हमने एक गांव से लिया है जो पुणे से 30 किलोमीटर की दूरी पर है। सही अर्थों में कहें तो ये काम करने वाले बच्चे नहीं हैं क्योंकि इनमें से लगभग सभी ऐसे हैं जिन्हें उनके काम के एवज में कुछ भी पैसा नहीं मिलता। ये भूतपूर्व अछूतों और निम्न जाति के परिवारों की लड़कियां हैं जिन्हें घर के काम काज में हाथ बंटाने के लिए घरों में रखा जाता है। मैंने नौ से 13 वर्ष की उम्र की इन 25 लड़कियों के साथ गांव के उस कमरे में एक शाम बितायी जहां वे हर रोज अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम के लिए इकट्ठा होती थीं। इस कार्यक्रम में पढ़ाई के न तो औपचारिक घंटे हैं, न कोई पाठ्यक्रम है और न परीक्षा ही होती है। यहां बच्चे शाम को 7 बजे से 9 बजे तक रहते हैं। यहां वे खेलते-कूदते और गाते हैं, पढ़ना और गिनती गिनना सीखते हैं और उन्हें स्वास्थ्य तथा विज्ञान की कुछ बुनियादी शिक्षा प्रदान की जाती है। इन बच्चों ने मुझे एक साधारण वैज्ञानिक प्रयोग दिखाया जो उन्होंने सीखा था और कीटाणुओं के बारे में पूछे गये मेरे सवाल का जवाब दिया। यहां की अध्यापिका एक स्थानीय महिला हैं जिसे पुणे के एक गैर सरकारी अनुसंधान और प्रशिक्षण संगठन इंस्टीट्यूट ऑफ एजूकेशन वेतन देता है। थोड़ी बहुत पाठ्य सामग्री भी इंस्टीट्यूट द्वारा दी जाती है। यह कार्यक्रम उन अनेक प्रयोगात्मक कार्यक्रमों में से एक है जिसे विख्यात शिक्षाविद् श्रीमती चित्रा नायक के नेतृत्व वाले इंस्टीट्यूट द्वारा चलाया जाता है।

एक-एक करके सभी लड़कियों ने मेरे सवालों का जवाब दिया। उनका नाम और उम्र क्या है? दिन भर वे क्या काम करती हैं? उनके मां-बाप क्या करते हैं? क्या वे कभी स्कूल गयी हैं और अगर गयी हैं तो कितने सालों तक? इसमें कोई शक नहीं कि वे बच्चे अपनी बात कहने में बहुत तेज और स्पष्ट थे। उनमें से आधे बच्चे एक साल या उससे कम समय तक और शेष दो वर्षों तक स्कूली शिक्षा पा चुके थे। केवल एक लड़की ने तीसरे दर्जे तक पढ़ाई पूरी की थी। इस कार्यक्रम में भाग लेने से पहले तक तीसरी कक्षा पास की हुई लड़की सहित किसी को भी अक्षर ज्ञान नहीं था। इनमें से कुछ बच्चे काम के बदले मजदूरी पाते थे लेकिन अधिकांश घर में अपनी मांओं की मदद में समय बिताते थे। ये लड़कियां अपने छोटे भाई बहनों की देखरेख करती थीं (लगभग सभी लड़कियां अपने घरों में सबसे बड़ी थीं) वे

पानी भरती थीं, जलाने वाली लकड़ी का प्रबंध करती थीं और मवेशियों की देखभाल करती थीं। चूंकि उनकी मांएं अक्सर काम पर रहती थीं इसलिए उन्हें पूरे परिवार के लिए दिन का खाना बनाना पड़ता था।

मैंने उनसे पूछा कि अगर उनका बस चले तो क्या वे स्कूल में रहकर अपनी पढ़ाई जारी रखना चाहेंगी? इसके जवाब में दो को छोड़कर शेष सभी ने अपने हाथ उठाए। दो लड़कियों ने कहा कि वे पढ़ाई में इतनी खराब थीं कि अब दुबारा स्कूल जाना नहीं चाहतीं लेकिन अन्य लड़कियों ने यह बताया कि उन्होंने अपनी मांओं के कहने से पढ़ाई छोड़ दी। मैंने उनसे पूछा कि बड़ी हो जाने पर क्या वे अपनी लड़कियों को स्कूल भेजना पसंद करेंगी। इस सवाल के जवाब में सबने अपने हाथ उठाये। मैंने सवाल किया कि अगर तुम्हें काम करना पड़ा और इस बात की जरूरत हुई कि तुम्हारी जो सबसे बड़ी लड़की है वह छोटे बच्चों की देखभाल करे तो तुम क्या करोगी? एक लड़की ने जवाब दिया कि मैं अपने बच्चों को अपनी सास के पास छोड़ दूंगी। दूसरी ने कहा कि मैं उसे किसी ऐसी जगह रख दूंगी जहां बच्चों की देखभाल होती हो। मैंने पूछा कि मवेशियों की देखभाल कौन करेगा? इस पर एक लड़की ने जवाब दिया कि कई परिवारों के लोग मिलकर सारे मवेशियों को एक जगह रख देंगे और किसी को पैसे देकर इस बात के लिए नियुक्त कर दिया जाएगा कि वह इनकी देखभाल करे। जाहिर था कि बच्चों ने स्कूल जाने अथवा न जाने के अपने मां-बाप के फैसले को एकदम उचित नहीं माना।

निष्कर्ष

बंगलोर के बाजार में बाल मजदूरों की स्थिति, सिकंदराबाद में, माचिस, शीशे और बर्तन उद्योगों में, आंध्र प्रदेश के बंधुआ मजदूरों के बीच और पुणे के एक गांव में जो जांच पड़ताल की गयी उससे निम्नांकित बातें सामने आती हैं।

1. भारत में बाल मजदूरी व्यापक तौर पर औद्योगिक क्रांति और पूंजीवादी व्यवस्था से पूर्व की स्थिति है। 19वीं शताब्दी में इंग्लैंड तथा अमरीका में बच्चे खदानों में और बड़ी फैक्ट्रियों में काम करते थे जबकि भारत में ऐसा नहीं है। यहां के बच्चे कुटीर उद्योगों और घर-गृहस्थी वाले क्षेत्रों सहित असंगठित अनौपचारिक क्षेत्रों अथवा कृषि क्षेत्र में मुख्य रूप से काम करते हैं। भारत में बाल मजदूरी औद्योगीकरण तथा पूंजीवाद के फलस्वरूप नहीं बल्कि यह मजदूर के रूप में बच्चों की परंपरागत भूमिका को बरकरार रखने की वजह से है।
2. भारत में बाल मजदूर आमतौर पर निरक्षर हैं। अधिकांश ऐसे हैं जिनको कभी स्कूल जाने का मौका नहीं मिला और कुछ ऐसे भी हैं

जो स्कूल तो जा सके पर जिन्हें पढ़ाई बीच में छोड़कर आना पड़ा। 19वीं सदी और 20वीं सदी के शुरुआती वर्षों में पश्चिमी देशों में मजदूरी करने वाले बच्चों ने अनिवार्य शिक्षा प्राप्त करते हुए 6 से 9 वर्ष गुजार दिये थे और इनमें से अधिकांश लिख–पढ़ सकते थे।

3. चूंकि भारत में शिक्षा अनिवार्य नहीं है, बच्चे बहुत कम उम्र से ही काम करने लगते हैं। यहां तक कि कुटीर उद्योगों में ऐसे बच्चे भी काम करते हुए देखे जा सकते हैं जिनकी उम्र प्राइमरी कक्षा लायक उम्र से भी कम है।

4. कृषि के क्षेत्र से बाहर कार्यरत कुछ बच्चों को भी कहा जा सकता है कि वे परंपरागत पारिवारिक कौशल सीखने वाले प्रशिक्षु हैं। यहां जिन शहरी कामगार बच्चों का जिक्र किया गया है उनका संबंध नए पेशों से है और इनमें से कुछ ही ऐसे हैं जो अपने मां–बाप की व्यवसायों से जुड़े हुए हैं। किसी कुशल शिल्पी के अप्रेंटिस के रूप में किसी बच्चे की कल्पना करना एक रोमांटिक बात है और जिसका यथार्थ से कोई संबंध नहीं है।

5. बच्चों द्वारा हासिल की गयी यह "निपुणता" कोई ऐसी निपुणता नहीं है जिसे बड़े होने पर न सीखा जा सके। दरअसल यह निपुणता बहुत निम्न स्तर की होती है– साधारण घिसी–पिटी अथवा शारीरिक श्रम से संबंधित।

6. मालिकों और सरकारी अधिकारियों के अंदर आमतौर पर यह धारणा काम करती है कि बच्चों के काम में फुर्ती, धीरज, शारीरिक कौशल, लचीलापन आदि –आदि होते हैं। जिनसे मालिकों को लाभ मिलता है। चूंकि इनमें से कुछ खूबियां उम्र बढ़ने के साथ कम होती जाती हैं इसलिए बड़े होने पर इन्हीं कामों के लिए इन बाल मजदूरों की उपयोगिता समाप्त हो जाती है। इसके विपरीत इन कामों के साथ जोखिम का जो तत्व है वह रोजगार के अवसरों को कम कर सकता है।

7. श्रम के बाजार में शुरुआती प्रवेश इस बात की कोई गारंटी नहीं देता कि आगे चलकर ज्यादा मजदूरी मिल जाएगी। वयस्कों को जो मजदूरी दी जाती है वह इस बात से नहीं तय होती कि उन्होंने बचपन में काम किया था या नहीं। बचपन से ही काम करने के कारण जहां बच्चों की वृद्धि अवरुद्ध हुई है, ऐसे मामलों में वयस्क होने के बाद उनकी मजदूरी ऐसे लोगों के मुकाबले कम रहती है जो बड़े होने पर मजदूरी का काम शुरू करते हैं।

8. कारखानों में बच्चों के काम करने पर प्रतिबंध का होना लेकिन उद्योग–धंधों में बाल मजदूरी पर रोक लगाने के लिए किसी खास उपाय के न होने से मालिकों को यह प्रेरणा मिलती है कि वे छोटे–छोटे घरेलू कारखानों को काम का ठेका दे दें जहां मजदूरी भी कम देनी पड़ती है और जहां की कार्य स्थितियां भी घटिया हैं।

9. बच्चों के काम पर जाने से अथवा घर में उनके श्रमशक्ति के इस्तेमाल से मां–बाप को जहां कुछ लोभ हो रहा है वहां भी यह नहीं पता चल सका है कि अगर ये बच्चे स्कूल जाते होते तो इससे परिवार को कितना नुकसान उठाना पड़ता है। घरेलू आय में बच्चों का आर्थिक योगदान प्रायः काफी कम होता है। कभी–कभी बच्चों को इसलिए भी काम करना पड़ता है क्योंकि मां–बाप ने अपने किसी बच्चे की शादी–ब्याह के अवसर पर कर्ज ले लिया था। जैसाकि पुणे के नजदीक एक गांव के अनौपचारिक स्कूल में बच्चों ने बताया कि स्कूल से हटाने का उनके मां–बाप का फैसला एकमात्र फैसला नहीं था।

बाल मजदूरी के प्रति सरकारी अधिकारियों तथा अन्य लोगों की प्रवृत्तियों के बारे में जानने, इसके कारणों और परिणामों को समझने तथा बाल मजदूरी के समाप्त होने की जरूरत और इसकी संभावना के बारे में अधिकारियों की सोच को प्रभावित करने वाले कारकों पर विचार करने से पूर्व हमें उपरोक्त बातों को ध्यान में रखना होगा।

टिप्पणियां

1. *स्कूल एनरोलमेंटस इन आंध्र* एडमिनिस्ट्रेटिव स्टाफ कालेज, हैदराबाद, 1980।

2. *सेंसस ऑफ इंडिया 1981। सीरिज 1 इंडिया, पार्ट–2 स्पेशल*, तालिकाएं, पृ.2

3. 1 रु. लगभग 7 अमरीकी सेंट के बराबर होता है।

4. मीरा नायर द्वारा निर्मित और निर्देशित फिल्म "सलाम बांबे" में बहुत प्रभावकारी ढंग से बंबई के मवाली बच्चों की पीड़ा तथा अधिकारियों द्वारा उनको प्रताड़ित किये जाने का चित्रण मिलता है। इस फिल्म को कई पुरस्कार मिल चुके हैं।

5. स्मितु कोठारी का विश्लेषण– 'देयर इज ब्लड ऑन दोज मैच स्टिक्सः चाइल्ड लेबर इन शिवाकासी"। *इकोनॉमिक ऐंड पॉलिटकल वीकली* (2 जुलाई, 1983)। देखें मनु एन. कुलकर्णी का लेख "मैच मेकिंग चिल्ड्रेन इन शिवाकासी, "*इकोनामिक ऐंड पालिटिकल वीकली*, 22 अक्टूबर, 1983।

6. रामनाथपुरम् जिले में विभिन्न कारखानों तथा उद्योगों में बाल मजदूर की समस्याओं पर टी. हरबंस सिंह की रिपोर्ट। इसका पुनर्मुद्रण "*ए डाक्यूमेंटेशन ऑन लॉ रिलेटिंग टू इम्प्लायमेंट ऑफ चिल्ड्रेन*" (नई दिल्लीः नेशनल सेंटर फार ह्यूमन

सेटिलमेंट ऐंड इन्वायरमेंट, 1986) में प्रकाशित, पृ. 137, 139।

7. देखें "स्कीम फार शिवाकासी चाइल्ड लेबर, "*हिन्दू इंटरनेशलन एडीशन* (16 अप्रैल 1986)। शिवाकासी में बाल मजदूरों की स्थिति में सुधार लाने के सिलसिले में सरकारी कार्यक्रम के आलोचनात्मक मूल्यांकन के लिए देखें वाल्टर फर्नाडीस, नीरा बुरा और तारा आनंद लिखित "*ए क्रिटिक ऑफ द नेशनल चाइल्ड लेबर प्रोग्राम, शिवाकासी,* (नई दिल्लीः इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट जुलाई 1987)।

8. नीरा बुरा, "ग्लास फैक्ट्रीज ऑफ फिरोजाबाद", *इकोनॉमिक ऐंड पालिटिकल वीकली* (15 नवंबर, और 22 नवंबर 1986)। इंडियन एक्सप्रेस के 5, 6, और 7 अप्रैल 1986 के अंक में शीला बर्से का लेख "ग्लास फैक्ट्रीज ऑफ फिरोजाबाद, "तथा *सूर्या इंडिया* के जून 1986 के अंक में देबाशीष चटर्जी का लेख "चाइल्ड लेबर इन ग्लास इंडस्ट्री," भी देखें।

9. नीरा बुरा, "ग्लास फैक्ट्रीज ऑफ फिरोजाबाद"।

10. इस समीक्षा के लिए मैंने नीराबूरा लिखित 'ए रिपोर्ट ऑन चाइल्ड लेबर इन द पाटरी इंडस्ट्री ऑफ खुर्जा, उ. प्र." (नई दिल्ली, डानिडा, नवंबर 1987) से ली है।

11. के. सत्यनारायण, ए नादमुनी नायडू और बी.एस. नरसिंह राव, "एग्रीकल्चरल इम्प्लाइमेंट, वेज आर्निंग ऐंड न्यूट्रीशनल स्टेटस ऑफ टीन एज, रूरल हैदराबाद ब्वाएज, "*इंडियन जनरल ऑफ न्यूट्रीशन*–17 (1980), पृ.–281–86।

12. नीरा बुरा, "ए रिपोर्ट ऑन चाइल्ड लेबर इन द पाटरी इंडस्ट्रीज, " पृ. 22

13. वही पृ. 23

14. वही पृ. 23

15. वही पृ. 23

16. वही पृ. 23

3
बाल मजदूरी पर संवाद

हरबंस सिंह कमेटी की रिपोर्ट

शिवाकासी के माचिस उद्योग में काम कर रहे बच्चों की स्थिति पर हरबंस सिंह कमेटी ने जो रिपोर्ट प्रस्तुत की थी उस पर आयी प्रतिक्रिया से बाल मजदूरी के प्रति सरकारी अधिकारियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और ट्रेड यूनियनों के व्यापक रुख को समझने में मदद मिलती है। विभिन्न समूहों के नजरिए की समीक्षा हम उस अधिकारी के इंटरव्यू से करते हैं जो उस समय तमिलनाडु के श्रम विभाग का सचिव था जब हरबंस सिंह ने सरकार को अपनी रिपोर्ट सौंपी थी।

मैंने श्री पद्मनाभन नामक इस अधिकारी से कहा कि वह हरबंस सिंह रिपोर्ट पर अपनी और अन्य अधिकारियों की प्रतिक्रिया के बारे में बताए और यह भी बताए कि क्या इस रिपोर्ट की किसी सिफारिश को लागू किया गया है। श्री पदमनाभन ने सबसे पहले शिवाकासी की समूची स्थिति पर टिप्पणी कीः

"शिवाकासी बहुत ही पिछड़ा कृषि क्षेत्र है। यहां के मुख्य उद्योग माचिस, आतिशबाजी और लिथो प्रणाली की छपाई है। 1920 के दशक में कुछ परिश्रमी उद्यमियों ने यहां उद्योगों की स्थापना की। यहां के लोग बहुत पिछड़े हैं और यह बेहद पिछड़ा क्षेत्र है। यहां की फैक्ट्रियों में सबसे पहले बड़ों ने काम करना शुरू किया और फिर उन्होंने सोचा कि उनके बच्चे भी इन्हीं कारखानों में काम करें। माचिस कारखानों में किसानों को लकड़ियां दे दी जाती हैं और माचिस की डिब्बियां बनाने के लिए उन लकड़ियों को लेकर वे घर चले जाते हैं। घर पर परिवार के सभी सदस्य मिलकर इस काम को करते हैं।"

क्या कारखानों में बच्चे काम नहीं करते?

"हां, करते हैं– 10 से 14 साल की उम्र के कुछ बच्चे यहां काम करते हैं।

वे ऐसे बच्चे हैं जिनके परिवार में कोई सदस्य पैसे कमाने वाला नहीं होता। कभी–कभी ऐसा होता है कि बाप इतना बूढ़ा हो गया है कि काम ही नहीं कर सकता था या यह भी होता है कि बाप तो काम कर रहा है और सोचता है कि क्यों न उसका बेटा भी कुछ पैसे कमा ले। यहां हर व्यक्ति चाहता है कि उसका बेटा वही काम करे जो वह करता था। अगर कोई बाप कारखाने में काम करता है तो वह चाहता है कि उसका बेटा भी कारखाने में ही काम करे।

"कारखानों के मालिक भी चाहते हैं कि बच्चे काम करें। बच्चों से काम लेना आसान होता है। न तो अनुशासन की कोई समस्या और न यूनियन की झंझट। इसके अलावा एक बात और है कि बच्चों की उंगलियों में लचीलापन होता है। वे मुलायम होती हैं। बच्चे बड़ों के मुकाबले ज्यादा काम कर सकते हैं और इन सबके बदले में उन्हें बड़ों के मुकाबले केवल एक तिहाई या आधा पैसा देना पड़ता है।

"लेकिन आप जानना चाहेंगे कि कोई बच्चा कारखाने में क्यों काम कर रहा है? असल में यह जिंदा रहने का सवाल है। खेती–बारी के काम में आप अगर कम से कम तीन महीने जमकर काम करेंगे तब थोड़ी फसल मिलेगी जिसे बेचकर कुछ पैसे पा सकते हैं। लेकिन कारखाने में तो तुरत पैसा मिल जाता है। यहां बाल मजदूरी काफी समय से चल रही है। अब इसको एक नियम के दायरे में लाना है। इनके लिए लाने ले जाने की उचित व्यवस्था होनी चाहिए, कारखाने में सुविधाएं होनी चाहिए और सबसे बड़ी बात यह है कि उन्हें उचित पैसे मिलने चाहिए। बच्चों को मुफ्त का मेहनत करने वाला नहीं समझ लेना चाहिए। जो बच्चे स्कूल छोड़कर इन कामों में लगे हुए हैं उनके लिए पढ़ाई की भी उचित व्यवस्था होनी चाहिए। अभी हमारा कानून इस लायक नहीं है कि उन्हें संरक्षण दिया जा सके।"

अगर बाल मजदूरी पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है तो इसका क्या असर होगा?

"यहां ऐसी सैकड़ों हजारों फैक्ट्रियां हैं जिनमें 14 साल से कम उम्र के बच्चे काम करते हैं। क्या इन कारखानों को हम बंद कर दें? बच्चों के मां-बाप कहेंगे कि हम अपने बच्चों को इन कारखानों में काम कराना चाहते हैं। बच्चों को चाहिए भी कि वे अपने मां-बाप को सहारा दें– खासतौर से ऐसे बूढ़े मां-बाप को जिनके पास आय का कोई साधन नहीं है। परिवार के जो बडे लोग हैं वे इन जगहों में काम करना नहीं चाहते क्योंकि उन्हें दूसरी जगह काम मिल सकता है इसलिए वे भी यही कहते हैं कि वे अपने बच्चों को इन कारखानों में भेजेंगे।"

अगर मजदूरी में वृद्धि कर दी जाए तो क्या बड़े लोग इन कारखानों में काम करेंगे?

"इन कारखानों की जो आर्थिक स्थिति है उसके अनुसार बच्चों को ही यहां काम करना चाहिए। आपको आर्थिक और सामाजिक नजरिए से इस समस्या पर निगाह डालनी चाहिए। इसे एक अलग समस्या के रूप में न देखें। हमारा यह कहना है कि जहां बच्चे काम कर रहे हैं वहां उनके लिए आप शिक्षा की व्यवस्था करें। कारखाने में बच्चे को उसके काम में निपुण बनाने की व्यवस्था करें। कारखाने में काम करने वाले बच्चे को इस बात का ज्ञान है कि पटाखे आदि कैसे बनाए जाते हैं। आप खुद ही देखें कि कारखाने के मालिक ने एक अनगढ़ सामग्री ढूंढ़ निकाली है। अब इसको उचित आकार देने की जरूरत है। है न! आपको उसे कौशल प्रदान करना है। ऐसी व्यवस्था करनी है कि बच्चे को कारखाने के अंदर ही उसका भोजन मिल जाए। उसे शौच आदि की सुविधाएं उपलब्ध कराइए। आप इन लड़कों/लड़कियों को इतनी सुविधाएं दें कि वे सचमुच एक कुशल मजदूर बन जाएं। अगर आप बच्चे को कारखाने से निकाल लेंगे तो कारखाना ही बंद हो जाएगा और किसी के पास रोजगार नहीं रहेगा।

"जो बाप वहां काम कर रहा है वह यही चाहेगा कि उसका लड़का भी वहां काम करे। खेती बारी में भी तो ऐसा ही होता है। बाप अपने बेटे को खेत में लेकर जाता है ताकि वह उसकी मदद कर सके। इसलिए बाप सोचता है कि अगर खेती बारी के काम में कोई रोजगार नहीं है तो क्यों न उसका 10–12 साल का बेटा कारखाने में ही जाकर काम करे। क्यों न उसको ऐसा प्रशिक्षण दिया जाए जिससे उसे अपने भविष्य के लिए निश्चिंतता हो जाए। अगर मैं ही लाचार हूं और मेरे पास कोई जमीन नहीं है, कोई जायदाद नहीं है, कोई राजनीतिक स्थिति नहीं है और मैं कारखाने में काम कर रहा हूं तो मैं खुद यह चाहूंगा कि मेरा बेटा भी मेरे साथ कारखाने में जाए ताकि मेरे रिटायर होने के बाद वह काम जारी रखे और परिवार का खर्च चला सके। दरअसल यह एक तरह की अप्रेंटिसशिप है। आज यहां के पिछड़े इलाके वाले गांव में जाइए तो आप पायेंगे कि गांव वालों के लिए दस साल की उम्र बच्चों वाली उम्र नहीं मानी जाती। आप भले ही उसे बच्चा कहें लेकिन गांव वाला कहेगा कि अगर वह एक किलोमीटर तक पैदल चल सकता है, सिनेमा जा सकता है, लोगों से बातचीत कर सकता है और काम कर सकता है तो वह बच्चा है ही नहीं।"

मैंने सवाल किया कि क्यों न तब तक इंतजार किया जाए जब तक वह वयस्क न हो जाए। और तब इसे काम पर लगाया जाए।

"आप देख ही रहे हैं कि बेरोजगारी कितनी बढ़ी हुई है। अगर मैं अपने लड़के के 18 वर्ष की उम्र तक होने का इंतजार करूंगा तो क्या उसे नौकरी मिलने की कोई गारंटी है? 18 वर्ष की उम्र के बाद उसे कौन नौकरी देगा?

हां जिनके पास सत्ता है या जमीन है उनकी बात और है। वैसी हालत में उस बेटे को काम करने के लिए कोई वयस्क भी मिल सकता है। लेकिन हमारे राज्य में 50–60 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा से नीचे जिंदगी गुजार रहे हैं। उनकी आमदनी हर महीने ढाई सौ रुपये के आसपास होगी। यह ऐसी मजबूरी वाली स्थिति है जिसमें बच्चों को काम करना ही पड़ेगा। अगर आप शिवाकासी में 20 हजार बच्चों को काम से अलग कर दें तो उनके परिवारों की क्या हालत होगी? 18 वर्ष की उम्र होने पर उन्हें कौन रोजगार देगा जब कारखाने ही बंद हो चुके होंगे?"

क्या हरबंस सिंह रिपोर्ट को जनता तक पहुंचाया गया?

"नहीं, यह सरकार को दी गयी एक गोपनीय रिपोर्ट थी। सरकार जब भी किसी रिपोर्ट के लिए आयोग गठित करती है तो वह उसे सार्वजनिक नहीं रखती। श्रम मंत्री ने हमसे पूछा था कि शिवाकासी के मुद्दे पर क्या किया जाए। मैंने उनसे कहा कि हम कैसे 20 हजार नौकरियों को खत्म कर सकते हैं। एक सरकारी अधिकारी के लिए जरूरी है कि वह व्यावहारिक हो। इसके अलावा मंत्री जी को भी पता है कि अगर हम इन नौकरियों को समाप्त कर दें तो राजनीतिक समस्या पैदा हो सकती है। इसलिए मंत्रीजी से बात करते समय मैं सिद्धान्तवादी न होकर व्यावहारिक बना रहा।"

एक सामाजिक कार्यकर्ता का दृष्टिकोण

यद्यपि हरबंस सिंह रिपोर्ट को कभी भी जारी नहीं किया गया लेकिन स्मितु कोठारी नामक एक युवा कार्यकर्ता के प्रयासों से इस रिपोर्ट में कही गयी बातों पर अखबारों में काफी चर्चा हो गयी। इस नौजवान ने किसी तरह रिपोर्ट हासिल कर ली और इसके निष्कर्षों को उसने सार्वजनिक कर दिया। इसके बाद स्मितु कोठारी शिवाकासी गए, वहां काम कर रहे बच्चों और उनके मां-बाप, कारखाने के मालिकों, मैनेजरों, फोरमैनों, वितरकों, सरकारी अधिकारियों और स्थानीय राजनीतिक संगठनों के विभिन्न नेताओं से मुलाकात की। उन्होंने काम कर रहे बच्चों की तस्वीरें लीं और अपनी खोजबीन के आधार पर निकाले गये निष्कर्षों को लेख का रूप देते हुए अनेक अखबारों में प्रकाशित कराया। उनकी रिपोर्टों ने उन बातों की पुष्टि की जिन्हें हरबंस सिंह ने अपनी रिपोर्ट में शामिल किया था।

उन्होंने लिखा–"इन कुटीर उद्योगों में से अधिकांश में सामान्य कार्य स्थितियां अत्यन्त अमानवीय थीं। घुटन भरे कमरे, सीलन भरे फर्श और हवा के आने जाने की व्यवस्था से रहित कमरे लगभग हर कारखाने में देखने को मिले। अधिकांश यूनिटों में तरह–तरह के रसायन इधर–उधर बिखरे पड़े थे।"[1]

यद्यपि कोठारी ने हरबंस सिंह द्वारा सरकार को रिपोर्ट दिये जाने के छह वर्ष बाद शिवाकासी का दौरा किया, उन्हें इस बात का कोई संकेत नहीं

मिला कि सुरक्षा की स्थितियों में तनिक भी सुधार हुआ है। उन्होंने लिखा कि सितंबर 1981 में एक दुर्घटना हुई थी। शिवाकासी के बाहरी इलाके में स्थित अरुणाचलम फायर वर्क्स नामक कारखाने में एक भयानक विस्फोट हुआ जिसमें 6 बच्चों सहित 32 लोग मारे गये। कुछ महीनों बाद फरवरी 1982 में पास के एक गांव में आतिशबाजी बनाने के कारखाने में आग लग गयी जिसमें फिर 6 बच्चे मारे गये। जिस समय यह दुर्घटना हुई वे बच्चे पटाखों में विस्फोटक पाउडर भर रहे थे।

शिवाकासी में बाल मजदूरी क्यों है यह लिखते समय कोठारी ने सरकार के विकास कार्यक्रम की आलोचना की। उन्होंने लिखा– "यह जिला बहुत कम विकसित है और यहां प्रायः सूखे की हालत रहती है जिस वजह से बच्चों को बहुराष्ट्रीय माचिस उद्योग के मुकाबले में स्थापित घरेलू और लघु उद्योग क्षेत्र के माचिस उद्योग में नौकरी करनी पड़ती है।"[2] जब मैं दिल्ली में कोठारी से उनके उस कार्यालय में मिला जहां से वह स्वयंसेवी संगठनों के कार्यकर्ताओं के लिए एक मासिक पत्रिका का संपादन करते हैं, उन्होंने मुझे बताया– "बाल मजदूरी हमारे विकास का परिणाम है। हमारी ऐसी नीति है जो लोगों को श्रमशक्ति के खाने में कभी शामिल ही नहीं कर सकती। सरकार ने शिवाकासी क्षेत्र में सिंचाई का विकास करने में कोताही बरती इसलिए यह क्षेत्र गरीब बना रहा और बच्चों को अनिवार्य रूप से मजदूरी का पेशा अपनाना पड़ा।" कोठारी के अनुसार जिले के लिए अनेक सिखई योजनाएं बनीं लेकिन सरकार ने हर प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया। वह इस बात से सहमत हैं कि इस प्रस्तावों को जानबूझ कर रद्द किया गया "क्योंकि कारखानों के मालिक यह नहीं चाहते कि इस क्षेत्र का विकास हो। इसकी वजह यह है कि यहां उन्हें कम मजदूरी पर काम करने के लिए स्थानीय लोग आराम से मिल जाते हैं।" उन्होंने बताया कि जब राज्य के मुख्यमंत्री पद पर कामराज नाडार आसीन हुए तो सरकार ने नाडार जाति के कारखाना मालिकों का समर्थन किया जो विकास परियोजनाओं का विरोध कर रहे थे। कोठारी ने बताया कि तमिलनाडु ने अनेक सिचाई परियोजनाओं को कुशलतापूर्वक लागू किया है लेकिन रामनाथपुरम जिले में, जहां शिवाकासी स्थित है, सिचाई पर होने वाला प्रति व्यक्ति व्यय बहुत कम है। उनका यह भी कहना था कि "बाल मजदूरी की समस्या से निपटने का एकमात्र तरीका यह है कि आप जमीन का विकास करें। अगर वयस्कों के लिए रोजगार के पर्याप्त अवसर होंगे तो वे कारखानों में अपने बच्चों को काम के लिए भेजने की जरूरत नहीं महसूस करेंगे।"

कोठारी बाल मजदूरी पर प्रतिबंध लगाये जाने के खिलाफ हैं। उन्होंने लिखा– "हमारे सामने यह एक कठोर यथार्थ है जिसे हमें स्वीकार करना होगा और ऐसी स्थिति में हम अधिक से अधिक इसको मानवीय बना सकते

हैं..... शिवाकासी में से 45 हजार बच्चों को हटाना एक और गंभीर दुविधाभरी स्थिति पैदा करता है।

इस विस्थापन का असर न केवल उनके मां-बाप की आजीविका पर पड़ेगा बल्कि इससे बहुराष्ट्रीय "विमको" कंपनी को बढ़ावा मिलेगा क्योंकि इस कदम से छोटे और घरेलू उद्योग निश्चय ही प्रभावित होंगे। इन क्षेत्रों के लिए एक विकल्प यह हो सकता है कि वे अपने कामकाज का थोड़ा बहुत मशीनीकरण कर लें। बिडम्बना की बात यह है कि लघु उद्योग क्षेत्र ने इनका इस्तेमाल करने से यह कहकर इन्कार किया है कि इससे रोजगार में कमी आयेगी।" कोठारी बच्चों की जगह पर वयस्कों को काम देने का भी विरोध करते हैं– " अगर..... नौकरियां खत्म होती हैं तो क्या उन मां-बाप को अपने बच्चों की जगह काम मिल सकेगा जो किसी मजबूरी के कारण अपने बच्चों को यहां काम करने के लिए भेजते हैं? निश्चय ही इसका अर्थ यह होगा कि वे अपनी जमीन से अब अंतिम तौर पर अलग हो जायें।"[3]

कोठारी ने आगे कहा अगर बाल मजदूरी में महत्वपूर्ण परिवर्तन कोई बात ला सकती है तो वह यही है कि इस क्षेत्र में बड़े पैमाने पर सिचाई कार्यक्रम शुरू किया जाय। इससे न केवल जमीन की उत्पादकता बढ़ेगी बल्कि कामगार बच्चों के वे मां-बाप भी, जो जमीन के मालिक हैं आर्थिक लाभ का अनुभव करेंगे। लेकिन जैसा कि पहले बताया गया है ऐसे किसी भी कदम का उद्योग के मालिकों द्वारा बहुत विरोध होगा।" कोठारी ने एक जुझारू टिप्पणी के साथ अपनी बात समाप्त की– "इसलिए हम यह नतीजा निकाल सकते हैं कि इस समस्या का अगर कोई समाधान है तो वह है राजनीतिक समाधान। हमारे पास जो मौजूदा बना बनाया ढांचा है उससे बाहर ही समाधान की कल्पना की जा सकती है और उसे अमली रूप दिया जा सकता है। इसके साथ ही बच्चों के अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाले सक्रिय समूहों और या ट्रेड यूनियनों की बड़े पैमाने पर भागीदारी से ही न केवल शिवाकासी में बल्कि समूचे देश में बाल श्रमिकों की पीड़ा को समाप्त किया जा सकता है।"[4]

शिवाकासी मे बाल मजदूरी के प्रति मजदूर संगठनों का क्या दृष्टिकोण है? पश्चिमी देशों में बाल मजदूरी समाप्त करने के आंदोलन में ट्रेड यूनियनें हमेशा अगली पंक्ति में रहीं क्योंकि उनका यह तर्क था कि बच्चों को कम पैसे देकर इसलिए रखा जा रहा है ताकि वयस्क मजदूरों को ज्यादा पैसा न देना पड़े। मैंने कोठारी से सवाल किया। कोठारी ने मेरे सवाल के जवाब में कहा– "शिवाकासी में 4 ट्रेड यूनियनें हैं लेकिन इनमें से किसी की भी दिलचस्पी इस बात में नहीं है कि बाल मजदूरी से संबंधित कानूनों को लागू किया जाए। दरअसल मैं ऐसे किसी यूनियन के बारे में सोच ही नहीं सकता

जिसने बाल मजदूरी के सवाल को उठाया हो। मेरा ख्याल यह है कि यूनियनें इस मुद्दे को इसलिए नहीं उठातीं क्योंकि शिवाकासी में काम की कमी है और आमतौर पर बच्चे उन्हीं परिवारों से आते हैं जिन परिवारों के सदस्य इन यूनियनों में हैं। इसके अलावा मालिकों की यह दलील है कि बच्चे जो काम करते हैं वह उनके लिए बहुत माफिक पड़ता है और इसे बड़े लोग नहीं कर सकते। यही दलील कालीन उद्योग में दी जाती है। इन कारखानों को और भी बच्चों की जरूरत है। वे कहते हैं कि शिवाकासी में बच्चों की कमी है।"

एक औद्योगिक संबंध अधिकारी

मैंने यही सवाल डा. पी. लक्ष्मणन के सामने रखा जो मद्रास स्थित तमिलनाडु श्रम अध्ययन संस्थान के निदेशक हैं। यह संस्थान ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं और फैक्ट्री इंस्पेक्टरों को शिक्षण और प्रशिक्षण देता है। कई वर्षों तक डा. लक्ष्मणन ने ट्रेड यूनियन नेताओं तथा साथ ही सरकारी अधिकारियों और प्रबंधकों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ कर काम किया है। उनका संस्थान राज्य के श्रम विभाग के अधीन है। उन्होंने बताया कि, "शिवाकासी की यूनियनें मुख्य रूप से अपने सदस्यों के लिए और बेहतर सुविधाएं चाहती है। उन्हें बाल मजदूरों से कुछ भी लेना देना नहीं है।"

ऐसा क्यों?

"दरअसल ऐसा करने से वे बच्चों के मां-बाप के बीच अलोकप्रिय हो जायेंगे। मां-बाप कारखाना मालिकों को समर्थन देते हैं। इसके अलावा कुटीर उद्योगों में यूनियनें नहीं हैं जहां बच्चे काम करते हैं। मालिकों द्वारा बाल मजदूरों के पसंद करने का एक कारण यह है कि बच्चे न तो यूनियन बनाते हैं और न प्रदर्शन करते हैं। बच्चे आज्ञाकारी होते हैं। बच्चों से किसी भी तरह का काम लिया जा सकता है। आप किसी भी बच्चे से यह कह सकते हैं कि वह मेज साफ करे या काफी ले आये। लेकिन यही बात आप एक बड़े मजदूर से नहीं कह सकते। बड़े मजदूर अपने काम के घंटों के प्रति सजग होंगे लेकिन बच्चे तब तक काम करते रहेंगे जब तक मालिक उन्हें छुट्टी न दे दे। इसके अलावा उनमें लचीलापन होता है। कई काम वे बड़ों के मुकाबले बेहतर ढंग से कर सकते हैं।"

मैंने डा. लक्ष्मणन से जानना चाहा कि इस बारे में वह क्या सोचते हैं कि तमिलनाडु में लेबर इंस्पेक्टर लोग बाल मजदूरी कानून को लागू कर सकते हैं अथवा नहीं।

उनका जवाब था –" अगर आप कारखानों में जाकर नौकरी वाले रजिस्टर को देखें तो उसमें आपको एक भी बाल मजदूर का नाम दर्ज नहीं मिलेगा। इनको मालिकों की ओर से नगद भुगतान कर दिया जाता है, इन्हें

किसी तरह का लाभ नहीं मिलता और इनकी मजदूरी वयस्कों के मुकाबले बहुत कम होती है। इसलिए न्यूनतम मजदूरी कानूनों का लागू करना अथवा बच्चों को किसी तरह का लाभ दिला पाना बहुत कठिन है। मालिकों को जब भी यह पता चलता है कि जांच के लिए कोई इंस्पेक्टर आ रहा है तो वे बच्चों को वहां से हटा देते हैं। हम इंस्पेक्टर के साथ पुलिस भेजते हैं ताकि कारखाने को चारों ओर से घेरा जा सके, मालिक पर जुर्माना करते हैं और उसे इस बात के लिए मजबूर करते हैं कि वह बच्चों के नाम को रजिस्टर में दर्ज करे। लेकिन होता यह है कि जब हम उसे पकड़ते हैं तो वह रजिस्टर में बच्चों का नाम लिख लेता है और अगले ही दिन वह फिर उन सारे नामों को काट देता है। और अगर हम उसे लेकर अदालत में जायें तो उसे बस 50 से 100 रुपये तक का जुर्माना देना पड़ता है। कानून कहता है कि या तो जुर्माना हो या सजा, लेकिन जजों ने किसी मालिक को जेल की सजा नहीं दी। इसलिए मालिकों को बस यही करना होता है कि वह जुर्माना दे दें और अगली बार फिर कानून तोड़ने के लिए तैयार हो जायं। और अगर कानून तोड़ते समय वह रंगे हाथों पकड़ा गया और हम उसे लेकर अदालत में गये तो यह पता करने में ही कि वह अपराधी है अथवा नहीं अदालत को और छह महीने लग जायेंगे और उसके बाद वह फिर जुर्माना भर देगा। तमिलनाडु में पिछले वर्ष फैक्ट्री कानून के प्रावधानों के तहत 3700 लोगों को दंडित किया गया और लगभग 3500 लोगों को सजा दी गयी। कुल जुर्माना 6 लाख 43 हजार रुपये वसूल हुए और अगर इस पर गौर करें तो इससे पता चलता है कि औसतन एक मामले में जुर्माना 200 रुपये से भी कम हुआ। और इसमें हर तरह का उल्लंघन शामिल है। बाल मजदूरी से संबंधित कानून के उल्लंघन के बारे में अलग से कोई आंकड़ा नहीं है। अधिकांश श्रम कानूनों का पालन नहीं किया जाता है। ऐसा करने के लिए हमें मालिकों के व्यवहार में परिवर्तन लाना होगा और मजदूरों को उनके कानूनी अधिकारों के प्रति जागरूक बनाना होगा।

उन्होंने बताया, "सरकार द्वारा नियुक्ति की गयी कमेटियों ने बाल मजदूरी पर प्रतिबंध लगाने की सिफारिश नहीं की। आखिर बच्चे करेंगे क्या? गरीब लोग कहते हैं कि बच्चे ही उनकी पूंजी हैं और बच्चों को काम पर भेजना इनकी जरूरत है। अगर आप मां-बाप के पास जायें और उनसे कहें कि उन्हें अपने बच्चों को स्कूल भेजना चाहिए तो वे पलट कर जवाब देंगे कि स्कूल भेजने की बजाय उन्हें काम पर भेजा जाना चाहिए।"

मैंने उनसे जानना चाहा कि 10 वर्ष पूर्व हरबंस सिंह रिपोर्ट में जो सिफारिशें की गयी थीं उस पर कुछ अमल हुआ। क्या बच्चों की हालत में किसी तरह का सुधार हुआ। उन्होंने बताया कि उस रिपोर्ट में कहा गया था कि बच्चों की

मजदूरी बढ़ाई जाय, गांव में शेड बनाये जायें ताकि बच्चों को कारखानों तक जाने की जरूरत न पड़े और अनौपचारिक शिक्षा की व्यवस्था की जाए। उन्होंने बताया कि अब तक बस यही प्रगति हो सकी है कि अब यहां लगभग 900 बच्चों के लिए एक अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम चलाया जा रहा है।

उन्होंने यह भी बताया कि तमिलनाडु में माचिस उद्योग ही एकमात्र उद्योग नहीं है जिसमें बाल मजदूर काम करते हैं। यहां बागानों में, बीड़ी उद्योग में, और होटलों तथा छोटी दुकानों में बाल मजदूर दिखाई दे जाएंगे। ढेर सारे खुदरा और थोक विक्रेता अपनी दुकानों में बच्चों को मजदूरी के लिए रखते हैं। यहां पर जैसे–जैसे होटलों की तादाद बढ़ती जा रही है कामगार बच्चों की भी संख्या बढ़ती जा रही है।

क्या आप मानते हैं कि तमिलनाडु में बाल मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई है?

उन्होंने जवाब दिया–"बाल मजदूरों के प्रतिशत में गिरावट आ रही है लेकिन मजदूरी करने वाले बच्चों की संख्या बढ़ रही है। ऐसा जनसंख्या वृद्धि के कारण है। जैसे–जैसे श्रमशक्ति में विकास होता है बाल मजदूरों की संख्या बढ़ती जाती है। अब शिवाकासी का ही उदाहरण लें। अगर मैं बाप होता तो पिछले वर्ष मैंने अपने दो बच्चों को काम पर भेजा होता लेकिन अब मेरे पास एक और बच्चा है जिसे थोड़ा बड़ा होते ही मैं काम पर लगा दूंगा। आज शिवाकासी में पहले के मुकाबले ज्यादा बच्चे हैं।"

मैंने जानना चाहा कि क्या सरकार हरबंस सिंह रिपोर्ट को कभी सार्वजनिक करेगी ? इस पर मैंने उनकी राय जाननी चाही।

उन्होंने कहा कि– "रिपोर्ट में कहा गया है कि कानून का पालन नहीं हो रहा है इसलिए अगर इसे जारी किया गया तो इससे जनता पर बुरा असर पड़ेगा। इसलिए जब तक सरकार कोई कदम उठा नहीं लेती वह उसे प्रकाशित करना नहीं चाहेगी। और जब कोई कार्रवाई कर दी जाएगी तो रिपोर्ट के प्रकाशित होने का कोई तुक ही नहीं है क्योंकि तब तक यह रिपोर्ट पुरानी पड़ चुकी होगी।"

एक कैथोलिक दृष्टिकोण

"मद्रास स्कूल ऑफ सोशल वर्क" के निदेशक फादर के.एन. जार्ज एक कैथोलिक पादरी हैं जो अपने विचारों के लिए दृढ़ रहने के मामले में– खासतौर से गरीबों से संबंधित विषय में ख्याति अर्जित कर चुके हैं। फादर जार्ज बाल मजदूरी को एक "आवश्यक बुराई" कहते हैं। उनका कहना है कि "खेतीबारी के काम में जो मजदूरी मिलती है वह बहुत कम है। खेतिहर मजदूरों को प्रतिदिन 14 रु. मिलते हैं। पति और पत्नी काम करते हैं और मान

लीजिए कि उनके तीन बच्चे हैं तो वे अपने बच्चों को भी काम पर ले जाते हैं। कभी–कभी मवेशियों की देखभाल के लिए बच्चों को प्रतिदिन दो रुपये मिल जाते हैं। किसी मैकेनिक की दुकान में, चाय के स्टाल में, होटलों और गैराजों में बच्चे दिन भर में 12–12 घंटे काम करते हैं, उन्हें न तो उचित खाना मिलता है, न कपड़ा और न वे ठीक से सो पाते हैं। लेकिन इतना तो है कि गैरेज में काम करते समय वे काम सीखते भी हैं। कभी-कभी मां-बाप निर्माण परियोजनाओं में काम करते हैं और बच्चे मदद करते हैं। अगर हम बच्चों को काम से रोक दें तो वे भूखे पेट पड़े रहेंगे। इसलिए मेरा विचार यह है कि जब तक मां-बाप के पास इतना पैसा न हो कि वे परिवार का खर्च चला सकें, बाल मजदूरी एक आवश्यक बुराई के रूप में बनी रहेगी।

"मद्रास में लगभग 1 हजार लड़के ऐसे हैं जो झल्ली बटोरने का काम करते हैं और प्रतिदिन चार रुपये के लगभग कमाते हैं। इन झल्लियों के बदले उन्हें मालिकों से पैसे मिलते हैं जबकि मालिक उन्हीं झल्लियों को 10 रु. में बेच देते हैं। हमारे पास एक ऐसी परियोजना है जिसके तहत हम इन बच्चों को दस्ताने और कुछ गर्म भोजन प्रदान कर रहे हैं। मेरा कहना है कि इन बच्चों को परिवार की आय का साधन बनने दीजिए। मेरी राय है कि हमें अब दूसरे सर्वोत्तम समाधान के बारे में विचार करने की जरूरत है। मुझे नहीं लगता कि परिवार पर चोट पहुंचाए बिना हम इन कानूनों को लागू कर सकते हैं।"

श्रम मंत्रालय के एक अधिकारी का दृष्टिकोण

नई दिल्ली में श्रम मंत्रालय के एक अधिकारी से जो बातचीत हुई उससे हमें यह आभास मिला कि बाल मजदूरी को समाप्त करने की बजाय इसको नियमबद्ध बनाने और इसमें कुछ सुधार करने की जरूरत है। यह अधिकारी एक समय अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की संचालन समिति का सदस्य था और भारत में श्रमनीति के क्षेत्र में इसे काफी प्रभावकारी माना जाता है। उन्होंने बताया कि अगर बाल मजदूरों पर गरीब परिवारों की निर्भरता ध्यान में रखें तो इस समय बाल मजदूरी को समाप्त करने का प्रयास अयथार्थवादी है लेकिन उन्होंने हमें यह भी कहा कि सरकार को पटाखे बनाने वाले कारखानों और हीरे काटने वाले प्रतिष्ठानों जैसे खतरनाक उद्योगों में बाल मजदूरी पर प्रतिबंध लगा देना चाहिए। उनका कहना था कि "जिन अन्य उद्योगों में बच्चे काम कर रहे हैं वहां कार्य-स्थितियां सुधारने में हमें और भी ज्यादा प्रयास करने की जरूरत है। माचिस कारखानों को हमें गांवों में ले जाना चाहिए ताकि बच्चों को ज्यादा लंबी दूरी न तय करनी पड़े और काम भी अपेक्षाकृत सुरक्षित हो। बच्चे जहां काम कर रहे हैं वहां हवा के आने–जाने की उचित व्यवस्था होनी चाहिए और सही ढंग से लगे रोशनदान

होने चाहिए। हथकरघों पर काम करने वाले बच्चों के लिए बेंचों की व्यवस्था होनी चाहिए। इसके अलावा हमें कामगार बच्चों को प्रतिदिन कम से कम एक घंटा पढ़ाना चाहिए। शिक्षा का काम शैक्षिक एजेंसियों की मदद से मालिकों को अपने हाथ में लेना चाहिए।"

उन्होंने आगे बताया कि रोजगार के लिए कोई समान न्यूनतम आयु निर्धारित करने का कानून बनाना गलत होगा क्योंकि इसे लागू नहीं किया जा सकता। इसी कारण वह लघु उद्योग क्षेत्र में बाल मजदूरी को गैर कानूनी बनाने का विरोध करते हैं। इसकी खास वजह यह है कि यह क्षेत्र गरीब परिवारों से आए बहुत से बच्चों को रोजगार प्रदान करता है। अंत में उन्होंने कहा कि "चाहे जो हो हमें बाल मजदूरी को कानूनी रूप देने की भी जरूरत नहीं है। अभी इसे ऐसे ही चलने दें लेकिन लघु और कुटीर उद्योग क्षेत्रों में बच्चों के लिए शिक्षा तथा सामान्य स्थिति को सुधारने की दिशा में हमें काफी काम करने की जरूरत है।"

श्रम मंत्रालय का एक और दृष्टिकोण

श्रम मंत्रालय में बाल मजदूरी से संबंधित कानूनों और उनको लागू करने के विभाग की एक प्रमुख अधिकारी श्रीमती गिरिजा ईश्वरन् से मैंने पूछा कि क्या उनके पास इस बात का कोई प्रमाण है कि शिवाकासी में बाल मजदूरी कानूनों के कार्यान्वयन से गरीबों के हितों पर चोट पहुंचेगी क्योंकि उस हालत में कारखानों को मालिक बंद कर लेंगे या मालिक लोग कारखाने बंद न कर वयस्क मजदूरों को काम पर लगा देंगे। इसके जवाब में उन्होंने बताया कि "शिवाकासी में मैंने मालिकों से मुलाकात की। वे बाल मजदूरों के इस्तेमाल पर तनिक भी शर्मिंदा नहीं थे। उन्होंने कहा कि वे अपने बही–खाते दिखा सकते हैं जिनसे मैं खुद पता लगा लूं कि कितना कम मुनाफा वे कमाते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि अगर सरकार ने बाल मजदूरी समाप्त कर दी तो वयस्क मजदूरों को रखने की बजाय वे अपने कारखानों का मशीनीकरण करेंगे ताकि लागत में कटौती की जा सके। मालिकों को पता है कि अगर उन्होंने बाल मजदूरी समाप्त करने की कोशिश की तो इन बच्चों के मां-बाप और राजनीतिज्ञ काफी हंगामा कर देंगे इसलिए सरकार से निबटने के मामले में वे अपने को काफी समर्थ पाते हैं। आप देखें कि बच्चों का शोषण मालिकों, मां-बाप, यूनियनों, राजनीतिज्ञों सभी के द्वारा हो रहा है। और इन सबकी सरकार से सांठ-गांठ है क्योंकि सरकार कानून को लागू करना नहीं चाहती।"

श्रीमती ईश्वरन् ने कहा कि उनका मंत्रालय बाल मजदूरी के अर्थशास्त्र पर कुछ अध्ययन प्राप्त करने की कोशिश में है। हमें यह जानने की जरूरत है कि क्या बाल मजदूरी न हो तो कुछ कंपनियां समाप्त हो जाएंगी? उनका

कहना है कि वाणिज्य मंत्रालय लघु और कुटीर उद्योगों के विकास को बढ़ावा देने में लगा है ताकि रोजगार के अवसर बढ़ें और इस मंत्रालय का कहना है कि अनेक छोटे उद्योग अगर बाल मजदूरों को काम में न लाएं तो बंद हो जायेंगे। कालीन उद्योग, चूड़ी उद्योग, माचिस उद्योग तथा अन्य कुटीर उद्योग पर बुरा असर पड़ेगा। उन्होंने यह भी बताया कि मंत्रालय का यह भी मानना है कि इनमें से कुछ उद्योग निर्यात की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। "वे मुझसे बताते हैं कि अगर बच्चों को काम पर न लगाया जाए तो कालीन उद्योग ध्वस्त हो जायेगा। उनका कहना है कि पाकिस्तान जैसे अन्य देश बाल मजदूरों का इस्तेमाल करते हैं और ऐसी हालत में हम पाकिस्तान से कैसे मुकाबला कर सकेंगे? वाणिज्य मंत्रालय कहता है कि हमें इसके अर्थशास्त्र पर ध्यान देना होगा।" श्रीमती ईश्वरन् ने बताया कि 1970 वाले दशक के मध्य में जब ईरान के शाह ने कालीन उद्योग में बाल मजदूरी को समाप्त कर दिया और इस पर प्रतिबंध लगा दिया तो वहां कालीनों की कीमतें बढ़ गयीं और निर्यात में, कमी आ गयी जिस कारण भारत अपने कालीन निर्यात को काफी बढ़ा सका।

उनका कहना है कि वाणिज्य मंत्रालय खुद ही बाल मजदूरों के मालिक जैसा है। वाणिज्य मंत्रालय के अधीन कार्यरत हस्तशिल्प के विकास आयुक्त बच्चों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम चलवाते हैं ताकि बच्चे कालीन बुनने का काम सीख लें। कश्मीर, उत्तर प्रदेश तथा उत्तरी भारत के अन्य हिस्सों में सरकारी प्रशिक्षण केंद्र हैं। यहां बच्चों को–जिनके 12 वर्ष की उम्र के होने की उम्मीद की जाती है लेकिन इनमें से कई इससे कम उम्र के हैं–बहुत मामूली मजदूरी दी जाती है (200 से 300 रुपये प्रतिमाह) और वे बुनाई का काम सीखते हैं। इसके बाद उन्हें बुनाई करने वाले छोटे कारखानों और वर्कशापों में काम पर लगाया जाता है। उन्होंने बताया कि प्रायः वे अपने घर के कमरों में बने छोटे–छोटे करघों पर काम करते हैं जो सीलन भरे होते हैं, जिनमें पर्याप्त रोशनी नहीं होती और हवा के आने-जाने के लिए कोई व्यवस्था नहीं होती।

मैंने श्रीमती ईश्वरन् से पूछा कि जिन अधिकारियों ने मुझसे यह बताया है कि बच्चों के लिए कार्य स्थितियां सुधारना संभव है उनका सोचना किस हद तक सही है, श्रीमती ईश्वरन् का जवाब था कि :"घरों के कमरों में 'पिट लूम्स' पर काम करने वाले बच्चों की कार्यस्थितियों को सुधारने की हमने कोशिश की। कालीन की लंबाई नौ फीट होती है इसलिए वे करघे को एक बड़े गड्ढे में रखते हैं और बच्चा ठंडी जमीन पर बैठता है। कभी-कभी यह जमीन इतनी गीली और ठंडी होती है कि बच्चों के पैर कांपने लगते हैं। लेकिन आप इस बारे में कुछ भी नहीं कर सकते क्योंकि गांवों के मकान

ऐसे होते ही नहीं कि करघों को जमीन के स्तर पर रखा जा सके।हमने सुझाव दिया कि मालिकों को करघे के लिए एक शेड बनाना चाहिए लेकिन बच्चों के मां-बाप ने कहा कि इसकी कोई जरूरत नहीं है। वे कहते हैं कि चूंकि पूरा परिवार करघे पर काम करता है और परिवार के सदस्य बारी–बारी इसमें लगे रहते हैं इसलिए प्रत्येक झोपड़े के पास अपना खुद का करघा होना चाहिए। अक्षरशः यह कुटीर उद्योग है।

उन्होंने कहा कि "फिरोजाबाद में मैंने देखा कि झोंपड़ी में चूड़ियां बन रही हैं। औरतों के साथ-साथ छोटे-छोटे बच्चे काम कर रहे हैं। कारखानों में शीशे को ढाला जाता है और मकानों में चूड़ियों को मोमबत्ती की मदद से जोड़ा जाता है। चूड़ी बनाने की प्रक्रिया में कुछ और भी काम हैं और इसे गांव के घरों में पूरा किया जाता है। मैं इन घरों में गई। और वहां मैंने जो गंदगी देखी वह अविश्वसनीय है।"

न्यूनतम वेतन कानून लागू करने के बारे में आपका क्या विचार है?

उन्होंने बताया कि–"चाय बागानों में यूनियनों ने न्यूनतम वेतन में वृद्धि के प्रस्तावों पर ऐतराज किया। उनकी सोच है कि अगर ऐसा हो गया तो कोई भी मालिक बच्चों को काम पर नहीं लेगा। अगर बच्चों को काम पर नहीं लिया गया तो चाय बागान के मालिक बाहर से मजदूर लाएंगे और जब बच्चे बड़े हो जाएंगे तो उन्हें यहां काम पाने में दिक्कत होगी। बागानों में यह दस्तूर है कि इसके मालिक लोग बागान मजदूर के बच्चों को काम पर ले लेते हैं और अगर किसी मजदूर की मृत्यु हो जाती है तो उसके स्थान पर उसके बच्चों को रख लिया जाता है।"

एक अर्थशास्त्री का दृष्टिकोण

मद्रास इंस्टीट्यूट फार डेवलपमेंट स्टडीज के एक युवा और कुशल अर्थशास्त्री नसीर तैयब जी ने घर की आय-वृद्धि में बाल मजदूरों के योगदान तथा माचिस उद्योग में उत्पादन लागत में श्रम के योगदान की जांच पड़ताल की। उनके अनुसार इस अध्ययन का उद्देश्य यह पता करना था कि क्या घरेलू आय और उद्योग के लिए बाल मजदूरी अनिवार्य है। उन्होंने बताया कि "घर की आय में बच्चे जो योगदान करते हैं वह बहुत थोड़ा है लेकिन आमतौर पर यह स्थायी किस्म का है। इसलिए यह महत्वपूर्ण हो सकता है– खासतौर से जब मां-बाप खेतीबारी के काम में लगे हों। हमारे पास अभी तक दूसरे मुद्दे पर कोई आंकड़ा उपलब्ध नहीं है लेकिन हमारी राय है कि श्रम लागत उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना लोग सोचते हैं। हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि अगर शिवाकासी के माचिस उद्योग में बच्चों को काम पर न लगाया जाए और वयस्कों को ज्यादा मजदूरी दी जाए तो यह

उद्योग गिरावट का शिकार हो जाएगा। लेकिन अगर ऐसा होता ही है तो "विमको" पर उत्पादन कर बढ़ा देना चाहिए ताकि लघु उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया जा सके। वैसे भी उन्हें पहले से ही संरक्षण प्राप्त है।

"जब इतनी बहस हो चुकी है तो हमें बाल मजदूरी पर प्रतिबंध लगा देना चाहिए। अगर बच्चों को काम पर से हटा दिया गया तो वयस्कों के लिए रोजगार के ज्यादा अवसर मिलेंगे। शिवाकासी पर हमला किया जाना चाहिए। समस्या यह है कि सरकार इस मामले से निबटना ही नहीं चाहती।"

ऐसा क्यों? मैंने सवाल किया।

"यहां लगभग 18 परिवार हैं जो समूचे उद्योग को नियंत्रित करते हैं और इन सबके संबंध राजनीतिज्ञों से हैं। जब एक बस दुर्घटना हुई थी और इसमें कई बच्चे मारे गए थे तो सम्बद्ध मंत्री ने कहा था कि वह बाल मजदूरी को समाप्त करने के लिए कड़े कदम उठाएंगे। लेकिन कुछ भी नहीं हुआ। इसकी वजह यह है कि मालिकों, राजनीतिज्ञों और परिवारों के बीच एक साठ-गांठ है।"

श्री तैयब के विचार एक अपवाद हैं। मद्रास में लगभग एक दर्जन लोगों से मैंने बातचीत की जिसमें से श्री तैयब जी दूसरे व्यक्ति थे (पहला व्यक्ति भी एक भूतपूर्व सरकारी अधिकारी था और वह भी फिलहाल मद्रास इंस्टीट्यूट ऑफ डेवलपमेंट स्टडीज में कार्यरत है), जिनकी यह धारणा थी कि शिवाकासी तथा राज्य के अन्य स्थानों में बाल मजदूरी पर प्रतिबंध लगा दिया जाना चाहिए। इन दो के अलावा शेष सारे लोगों का कहना था कि सरकार को काम की स्थितियों में सुधार लाना चाहिए। यद्यपि वे इस पर सहमत थे कि खतरनाक उद्योगों में बाल मजदूरी पर प्रतिबंध लगना चाहिए लेकिन माचिस उद्योग में इस पर प्रतिबंध लगाने के पक्ष में नहीं थे।

चाय बागान के एक अधिकारी का दृष्टिकोण

पश्चिम बंगाल के टी–बोर्ड के भूतपूर्व अध्यक्ष ने बताया कि –"मजदूर जमीन के साथ इस तरह जुड़े हुए हैं जैसे चाय की झाड़ियां। वे इन्हीं बागानों में पैदा हुए हैं, उनकी सारी जिंदगी यहीं गुजर जाती है और वे यहीं मर भी जाते हैं। चाय बागानों में जो मांएं काम करती हैं उनके पास ऐसी कोई जगह नहीं है जहां वे अपने बच्चों को छोड़ सकें। वे अपने बच्चे को अपनी पीठ पर बांध लेती हैं और उन्हें पीठ पर बांधे ही काम करती रहती हैं। ऐसे में ज्यादा स्वाभाविक बात यही है कि बच्चा यह जानना चाहे कि उसकी मां क्या कर रही है और पत्तियों को तोड़ने में मां की मदद करे। इस प्रकार वह बच्चा एक मजदूर हो जाता है। बच्चों के लिए चाय की पत्तियां तोड़ना आसान है। उनकी उंगलियां मुलायम होती हैं और चाय की झाड़ियां उनकी

ऊंचाई तक पहुंचती हैं। बच्चा पत्तियों को तोड़ता है और अपनी मां की डोलची में डाल देता है। जो भी वह तोड़ता है उससे मां की मजदूरी में वृद्धि होती है। मैं यह नहीं कहूंगा कि बच्चों को काम पर लगाया गया है। वे अपने मां-बाप की मदद कर रहे हैं। इसके बाद जब वह 12 वर्ष का होता/होती है तो उसे एक अलग डोलची दे दी जाती है ताकि वह अपनी मजदूरी कमा सके। उसे बड़ों के मुकाबले आधी मजदूरी मिलती है।"

पश्चिम बंगाल और असम के चाय बागानों में 12 से 15 वर्ष की आयु के 21,000 बच्चे, 15 से 18 वर्ष आयु के 14,000 किशोर और दो लाख तीन हजार वयस्क पुरुष तथा दो लाख 24 हजार वयस्क महिलाएं काम करती हैं। ऐसा कोई आंकड़ा नहीं उपलब्ध है जिससे यह पता लगाया जा सके कि 12 वर्ष से कम आयु के (चाय बागानों में रोजगार के लिए न्यूनतम आयु) कितने बच्चे अपने मां-बाप को "मदद" पहुंचाते हैं। वयस्कों को प्रतिदिन 9.70 रु. और बच्चों को 4.95 रु. का भुगतान किया जाता है। यहां काम करने वाले मजदूरों को बाजार के मूल्य से 20 प्रतिशत कम पर राशन भी दिया जाता है और प्रत्येक परिवार को रहने के लिए एक क्वार्टर मिलता है जिसमें एक कमरा, एक रसोईघर और कई परिवारों को मिलाकर एक बाथरूम होता है।

मुझे बताया गया कि अब से कुछ वर्ष पूर्व तक बागानों के मालिक बागान मजदूरों के बच्चों को शिक्षा देने के लिए जिम्मेदार थे। इसके बाद सरकार ने यह जिम्मेदारी जिला बोर्डों को सौंप दी लेकिन यह कहा गया कि चाय बागान के मालिक अध्यापकों की तनख्वाह को छोड़कर प्राथमिक विद्यालय की शिक्षा का सारा खर्च स्वयं वहन करें। मुझे बताया गया कि कक्षा एक से पांच तक की प्राथमिक शिक्षा "अनिवार्य" है। टी बोर्ड के भूतपूर्व चेयरमैन ने बताया कि –"बेशक, यह अनिवार्य है लेकिन ऐसी जगह के लिए इसे लागू नहीं किया जाता। कक्षा चार तक आते–आते अधिकांश बच्चे पढ़ाई छोड़ देते हैं। जब वे नौ या दस वर्ष के होते हैं तो यहां काम करने लगते हैं और अपनी मांओं के साथ चाय की पत्तियां तोड़ने में लग जाते हैं। पत्तियां तोड़ने का सीजन जून से सितंबर तक शुरू होता है और इस दौरान बच्चों की मांओं को अतिरिक्त आय हो जाती है। जब सीजन नहीं रहता तो मजदूर लोग दूसरे काम करने लगते हैं। बागानों में मान्यताप्राप्त और अवैध दोनों तरह के बाल मजदूर हैं क्योंकि यहां कुछ बच्चे 12 वर्ष से कम आयु के और कुछ इससे अधिक आयु के काम करते हैं। इन चार महीनों के दौरान ठेके पर भी अतिरिक्त काम होता रहता है और इसमें भी बच्चे काम करते हैं। ठेके के मजदूरों पर न्यूनतम वेतन कानून नहीं लागू होता और उन्हें पीस रेट पर भुगतान किया जाता है। फसल के दिनों में लगभग 40 प्रतिशत मजदूर ठेके पर काम करने वाले होते हैं।

"यहां के मजदूर अपने को कुली कहते हैं। चूंकि इन लोगों की मानसिकता एक खास तरह की बनी हुई है इसलिए इनका कहना है कि बच्चों को पढ़ा–लिखा कर क्या होगा। उनका यह भी कहना है कि यहां चाय उद्योग में सभी बच्चों को काम नहीं मिल सकता इसलिए उन्हें दूसरी जगह मजदूरी ढूंढनी पड़ेगी। बागानों में काम करने वाले कुल में से लगभग आधे लोग (बच्चे) दूसरे तरह की मजदूरी करते हैं जबकि शेष को बागानों में ही काम मिल जाता है।"

पश्चिम बंगाल के श्रम विभाग के सचिव ने मुझे बताया कि बागानों में काम करने के लिए न्यूनतम आयु 12 वर्ष है जबकि उद्योगों में यह 14 वर्ष क्योंकि बागानों के काम को खतरनाक नहीं माना जाता।" हम लोग यानी श्रम विभाग के लोग इस न्यूनतम आयु को 14 वर्ष करना चाहते हैं लेकिन बुनियादी समस्या यह है कि बच्चों के मां-बाप उन्हें काम पर भेजना चाहते हैं। इन बागानों की यूनियनें भी यही कहती हैं कि काम खतरनाक नहीं है और इससे परिवार की आय में वृद्धि होती है।"

मैंने सवाल किया कि क्या यूनियनें यह नहीं समझ पातीं कि अगर बाल मजदूरी समाप्त हो जाएगी तो और भी ज्यादा वयस्कों को रोजगार मिलेगा।

"नहीं, वे कहते हैं कि उनके परिवार के सारे सदस्य अभी बागानों में काम कर रहे हैं इसलिए अगर उनके बच्चे काम करने से वंचित कर दिये जाएंगे तो उनकी आय समाप्त हो जाएगी। अभी तक चाय बागानों में एक प्रथा चलती आ रही है कि अगर कोई मजदूर मर जाता है तो उसके बच्चे को काम पर लगा लिया जाता है। यूनियनों का कहना है कि अगर बच्चों को काम पर नहीं लिया गया तो चाय बागान के मालिक बाहर से मजदूरों को लाएंगे और आगे चलकर जब बच्चे बड़े हो जाएंगे तो उन्हें बागानों में काम नहीं मिल सकेगा। वे यह भी कहते हैं कि बच्चों को शिक्षा देने से कोई लाभ नहीं है क्योंकि यहां एकमात्र रोजगार बागानों में ही है। अगर बच्चों को शिक्षा दे दी गयी तो वे काम ढूंढ़ने कहां जाएंगे?"

क्या सभी बच्चे बागानों में ही काम करते हैं?

"नहीं, कुछ पहाड़ी नौजवान खासतौर से नेपाली लोग शिक्षा प्राप्त करने के बाद सेना में भर्ती हो जाते हैं और कुछ रोजगार की तलाश में मैदानी इलाकों में चले जाते हैं। यहां वे दुकानों में काम करने लगते हैं, ड्राइवर हो जाते हैं या गाड़ियों की मरम्मत आदि के लिए बने वर्कशापों में लग जाते हैं। पहाड़ के लोग मैदानी लोगों के मुकाबले पढ़ाई में ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं। पहाड़ों में मिशनरियों द्वारा संचालित कुछ अच्छे स्कूल हैं और कुछ सरकारी स्कूल भी हैं। मैदानी इलाकों में बागानों में अपेक्षाकृत कम स्कूल हैं और अधिकांश बच्चे तीसरे दर्जे के बाद पढ़ाई छोड़ देते हैं।"

फिर उनका क्या होता है? उन्हें किस तरह का काम मिलता है?

"जिन्हें बागानों में काम नहीं मिलता वे नौकरी की तलाश में शहरों में जाते हैं। वे दुकानों में काम करते हैं, होटलों में मेजें साफ करते हैं। घरेलू काम-काज में बच्चों के रोजगार पर कोई प्रतिबंध नहीं है और यहां का मध्यवर्ग बच्चों को काम पर लगा लेता है। कलकत्ता में लाखों ऐसे बच्चे होंगे जो घरों में काम करते हैं। आमतौर पर लड़के या लड़कियां दो-तीन घरों में कामकाज संभालते हैं, वे स्कूल नहीं जाते, केवल घरेलू काम करते हैं।"

कालीन उद्योग के बारे में एक श्रम सचिव की राय

कालीन उद्योग बच्चों को रोजगार देने वाला महत्वपूर्ण उद्योग है। उत्तर प्रदेश और कश्मीर में भारत सरकार के हस्तशिल्प बोर्ड ने कई प्रशिक्षण कार्यक्रम स्थापित किये हैं जिनमें बच्चे शुरुआती दिनों से ही कालीन बुनना सीखते हैं। निजी प्रतिष्ठानों की वरीयता बच्चों को काम देने की है। उत्तर प्रदेश के श्रम सचिव ने बताया कि कालीन उद्योग के मालिक कहते हैं कि "बच्चों की उंगलियां छोटी हैं, उनकी उंगलियों में लचीलापन है और वे तेजी से इसे चला लेते हैं। अपनी छोटी उंगलियों के कारण बड़ों के मुकाबले वे कालीन में ज्यादा गांठें लगा पाते हैं।"

सचिव ने उन हालात का ब्यौरा दिया जिनमें बच्चों को काम करना पड़ता है। उन्होंने बताया कि किस तरह रोशनी और हवा की उचित व्यवस्था से रहित भीड़ भरे कमरे में उन्हें काम करना पड़ता है। उन्होंने बताया कि–"मैने एक मालिक से इसकी शिकायत की लेकिन उसका कहना था कि बेहतर रोशनी, खिड़की अथवा बेंच आदि की व्यवस्था करने पर लागत बढ़ जाएगी। मैंने कहा कि इतनी धीमी रोशनी से बच्चों की आंख पर बुरा असर पड़ेगा इसलिए उसे बेहतर व्यवस्था करनी चाहिए। इस पर उसने जवाब दिया कि मंत्रालय को चाहिए कि यहां काम करने वाले बड़े लोगों को चश्मे उपलब्ध कराए।"

मैं उस सचिव से पूछा कि क्या इस बारे में कुछ भी नहीं कर सकते? क्या आप उस पर मुकदमा नहीं चला सकते?

"नहीं, फैक्ट्री ऐक्ट इन छोटे प्रतिष्ठानों पर लागू नहीं होता। इस कानून के तहत केवल वही प्रतिष्ठान आते हैं जहां दस से ज्यादा लोग काम करते हों। इसलिए उन कारखानों में बच्चों के लिए कोई कानूनी सुरक्षा नहीं है जहां दस से कम लोग काम कर रहे हैं। मैं समझता हूं कि कानून में ऐसा संशोधन किया जाना चाहिए जिससे इसके दायरे में छोटे प्रतिष्ठान भी आ जाएं। हम इन कारखानों का निरीक्षण कर सकते हैं लेकिन कानून के तहत श्रम विभाग के पास ऐसा कोई तंत्र नहीं है जो असंगठित क्षेत्र से निपट

सके। और यहां तक कि कारखानों के मामले में भी अगर कोई मालिक नियमों का उल्लंघन करता पाया जाता है तो उस पर दो से पांच सौ रुपये तक जुर्माना का ही प्रावधान है। इसके अलावा मामले के निपटारे में दो वर्ष लग सकते हैं और अगर किसी इंस्पेक्टर ने मुकदमे के लिए किसी मामले को लाने की "गलती" कर दी तो मुकदमा जीतने के लिए उस इंस्पेक्टर को न जाने कितनी बार अदालत के चक्कर लगाने पड़ जाते हैं। कानून कहता है कि श्रम कानूनों के उल्लंघन की सजा के तौर पर एक महीने की कैद अथवा जुर्माना हो सकता है लेकिन अदालत ने कभी किसी को कैद की सजा नहीं सुनायी। हमेशा जुर्माना ही किया। श्रम कानूनों का उल्लंघन करने के लिए आज तक कभी कोई जेल नहीं गया।

"कालीन उद्योग में मालिकों का कहना है कि अगर बाल मजदूरी समाप्त कर दी गयी तो कालीनों की लागत में वृद्धि हो जाएगी। उनका कहना है कि अगर वे बच्चों को काम पर नहीं ले सकते तो वे बड़ों को भी काम पर नहीं लेंगे।"

ऐसा क्यों?

"ऐसा बस उनको सबक सिखाने के लिए है। कालीन उद्योग के मालिक आमतौर पर सवर्ण हिंदू हैं अथवा समृद्ध मुसलमान। उन्हें गरीबों की कोई चिंता नहीं है। अब वाणिज्य मंत्रालय ने कालीन उद्योग में बच्चों के लिए एक कार्यक्रम शुरू किया है। उन्हें सिखाया जाता है कि कैसे वे अपने काम में सुधार करें, धागों को कैसे एक दूसरे के साथ जोड़ें और कैंची का इस्तेमाल करते हुए कालीनों की किस तरह फिनिशिंग करें। ये बातें उद्योग विभाग द्वारा सिखाई जाती हैं। प्रशिक्षण के बाद बच्चों को एक प्रमाण पत्र दिया जाता है लेकिन इन बच्चों को अक्षर ज्ञान नहीं कराया जाता। वे सामान्य शिक्षा नहीं पाते। ऐसा इसलिए क्योंकि मां-बाप लालची हैं। इसलिए मां-बाप के अंदर जागरूकता पैदा करने की जरूरत है। उन्हें यह जानने की जरूरत है कि अपने बच्चों से वे जो थोड़ी आय कर रहे हैं उससे ज्यादा महत्वपूर्ण है बच्चों पर पैसा खर्च करना।"

मैंने पूछा कि क्या यह सही है कि वाणिज्य मंत्रालय कालीन उद्योग में बाल मजदूरों के इस्तेमाल का समर्थन करता है? दिल्ली में मुझे एक अधिकारी ने बताया कि मंत्रालय इस बात को लेकर चिंतित है कि अगर कालीन उद्योग में बच्चों ने काम नहीं किया तो कालीनों की बिक्री में भारत कारगर ढंग से पाकिस्तान और ईरान का मुकाबला नहीं कर सकता और निर्यात में गिरावट आ सकती है। मुझे यह भी बताया गया कि उनकी दलील यह भी है कि बच्चों को कम उम्र से ही कालीन बुनने का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए—इस बात का इंतजार नहीं करना चाहिए कि वे 15 वर्ष की उम्र

के हो जाएं तब इसका प्रशिक्षण दिया जाए।

"जी हां, वाणिज्य मंत्रालय की और खासतौर से हस्तशिल्प बोर्ड की यही राय है लेकिन मैं इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हूं। दूसरी समस्या, शायद सबसे बड़ी समस्या का संबंध जनता की मांग से है। मिर्जापुर में कालीन बनाने के कारखानों में मौजूद अमानवीय स्थितियों की रिपोर्टें मिली हैं और कुछ मालिकों को दंडित किया गया है। कारखानों को बंद करने की बात फिर सुनने में आयी है। उस क्षेत्र के लोग इस बात से घबराए हुए हैं कि वे अपने बच्चों को रोजगार नहीं दिला पाएंगे। कांग्रेस पार्टी में भी इस बात को लेकर काफी शोर-शराबा हुआ है कि काम न होने पर यहां के लोगों को खाना भी नहीं नसीब होगा। लेकिन हमने कहा कि हमें बच्चों के रोजगार पर प्रतिबंध लगाना चाहिए। जब हम मिर्जापुर पहुंचे तो कारखाने से यह कहते हुए बच्चे भागने लगे कि बाल मजदूर विरोधी लोग आ गए हैं। अब श्रम मंत्रालय के अधीन चार राज्यों के श्रम मंत्रियों को लेकर एक समिति बनी है जो इस बात का पता कर रही है कि बच्चों के लिए काम की स्थितियों में कैसे सुधार किया जाए। लेकिन हमें बच्चों के रोजगार पर प्रतिबंध लगाना ही चाहिए। अगर कानून को लागू किया गया तो मालिकों को बच्चों की जगह बड़े-लोगों को काम पर लगाना पड़ेगा और उन्हें निर्धारित मजदूरी का भुगतान करना पड़ेगा। अब हालत यह है कि हम ऐसे मालिक नहीं पा सकते जो बच्चों को न्यूनतम मजदूरी भी दें। सबसे बड़ी समस्या यह है कि इस विभाग के पास ऐसी कोई एजेंसी नहीं है जो बाल मजदूरों अथवा न्यूनतम मजदूरी से संबंधित कानूनों को लागू कर सके। समूचे उत्तर प्रदेश में फैक्ट्री ऐक्ट के तहत हमारे पास केवल चालीस इंस्पेक्टर हैं जो 10,000 कारखानों का निरीक्षण करते हैं। इन इंस्पेक्टरों को बाल मजदूरी से भी निपटना पड़ता है। लेकिन वे असंगठित क्षेत्र से नहीं निपट सकते। हमारे कानून पुराने पड़ चुके हैं।

"ग्रामीण क्षेत्रों में मालिकों को यह भी नहीं पता है कि बच्चों को काम पर लगाना अपराध है। यही बात बंधुआ मजदूरों के मामले में भी सच है। इस मामले में भी कानून को लागू करने वाली कोई एजेंसी नहीं है। हमें पता चला कि उत्तर प्रदेश विधान सभा में कई ऐसे सदस्य हैं जिनके यहां पुराने अनुबंधों के अंतर्गत बंधुआ मजदूरों के रूप में बच्चे काम करते हैं।"

बंधुआ मजदूरी की क्या स्थिति है? और दरअसल यह क्या है?

"मान लीजिए कि मैंने कुछ वर्ष पूर्व गांव के जमींदार से 100 रु. उधार लिया। इसके बाद उस उधार को चुकता करने के लिए मैं उस जमींदार के यहां काम करने लगता हूं। जीविका चलाने के लिए मुझे कुछ पैसा मिलता है और बाकी मजदूरी उस कर्ज के चुकता करने के लिए होती है। अगर

कर्ज चुकता होने से पहले ही मेरी मृत्यु हो जाती है तो मेरे बेटे या मेरे नाती पोते उस जमींदार के लिए काम करने लगते हैं। प्रायः बच्चों को बंधुआ मजदूर के रूप में भेज दिया जाता है ताकि कर्ज का भुगतान हो। अगर बंधुआ मजदूरों और बाल मजदूरों पर हम इन कानूनों को लागू करते हैं, तो निश्चय ही एक तरह का वर्ग संघर्ष हो जाएगा।"

मैंने उस सचिव को बताया कि राज्य और केंद्र सरकार के श्रम विभागों में मैंने कई सरकारी अधिकारियों से मुलाकात की लेकिन वह एकमात्र ऐसे अधिकारी मिले जिन्होंने इतनी सख्ती के साथ बाल मजदूरी का विरोध किया। मैंने जानना चाहा कि इस मुद्दे पर आखिर उनके अंदर इतने सशक्त विचार कैसे विकसित हुए?

"मैं पंजाब के अनुसूचित जाति वाले परिवार से हूं। हमारे पास कोई जमीन नहीं थी। हम लोग खेतिहर मजदूर थे। त्यौहारों पर खर्च करने के लिए हमारे पास पैसे नहीं होते थे। नौ वर्ष की उम्र में मेरे पिता ने मुझे स्कूल से हटा दिया और काम पर लगा दिया। मैंने इसके खिलाफ विद्रोह किया क्योंकि मैं पढ़ाई करना चाहता था। मैंने आत्महत्या करने तक की धमकी दे डाली। इसके बाद मेरे मां-बाप मेरी पढ़ाई जारी रखने पर राजी हो गए। मैं अपनी कक्षा में अव्वल आता था इसलिए मेरी पढ़ाई चलती रही और फिर मैं कालेज में भर्ती हुआ। अंततः मैं भारतीय प्रशासनिक सेवा में ले लिया गया। घर में मैं सबसे बड़ा लड़का था और मेरे परिवार के अन्य सदस्य, मेरे छोटे भाई-बहन भी स्कूल जाते रहे। मुझे नहीं लगता कि मेरे पिता इतने गरीब थे कि वह मुझे काम पर भेजते लेकिन उनके परिवार में यह प्रथा नहीं थी कि बच्चों को स्कूल भेजा जाय। अनेक मां-बाप कुछ सोचते नहीं है– बस वे अपने बच्चों को काम पर भेज देते हैं। अगर हम लोग, जो सरकार में हैं इस बात पर जोर दें कि बच्चों को काम पर नहीं भेजा जाना चाहिए तो ये बच्चे स्कूल जायेंगे।

"अब मेरे सभी बच्चे कालेज में पढ़ रहे हैं। अगर मैंने अपने पिता की बात मानी होती तो आज भी मैं गांव में काम कर रहा होता।"

टिप्पणियां

1. स्मितु कोठारी, "देयर इज ब्लड ऑन दोज मैचस्टिक्स : चाइल्ड लेबर इन शिवाकासी," इकोनामिक ऐन्ड पोलिटिकल वीकली (2 जुलाई 1983), पृ. 1193

2. वही, पृ. 1194

3. वही

4. वही, पृ. 1199, 1200

5. बच्चों के गैर कानूनी रोजगार से संबंधित शुरू के अधिकांश कानूनों में 500 रुपये तक के जुर्माना का प्रावधान था। 1986 के बाल मजदूरी (निषेध और विनियमन) कानून में न्यूनतम जुर्माना 10,000 रुपये रखा गया। नये कानून के लागू होने के बारे में कोई भी आंकडा उपलब्ध नहीं है।

4
शिक्षा पर संवाद

शिक्षा मंत्रालय का एक अधिकारी

शिक्षा मंत्रालय के एक वरिष्ठ अधिकारी से मैंने पूछा, "क्या आप तथा अन्य अधिकारी जो शिक्षा के बारे में सरकार की नयी राष्ट्रीय नीति पर राजीव गांधी के साथ काम कर रहे थे, शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए कभी सोचते हैं? अगर आपने इस पर कभी विचार किया तो इसके पक्ष और विपक्ष में कौन सी दलीलें थीं और ऐसा क्यों निर्णय लिया गया कि शिक्षा को अनिवार्य न बनाया जाए?"

जवाब मिला, "इसका सवाल ही नहीं पैदा होता क्योंकि हमारे 22 राज्यों में से 16 राज्यों में पहले से ही अनिवार्य शिक्षा है हालांकि देश की सामाजिक स्थितियों को देखते हुए इन कानूनों को लागू करना संभव नहीं हो सका है।" मैंने कहा कि जानता हूं कि आपके पास अनेक ऐसे सरकारी कानून हैं जिनको "अनिवार्य शिक्षा" के साथ जोड़ा जाता है लेकिन आपके पास जो है वह कानून बनाने का अधिकार है जो स्थानीय अधिकारियों को शिक्षा को अनिवार्य बनाने की अनुमति देता है लेकिन उन्हें इसके लिए मजबूर नहीं करता।

उस अधिकारी ने मेरी बात को काटते हुए कहा, "ऐसी बात नहीं हैं। भले ही इन कानूनों को लागू न किया जाए पर उनमें अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था तो है ही। प्रधानमंत्री ने जब नयी शिक्षा नीति की शुरूआत की तो यह मामला संसद में उठाया गया और मेरे सहायक ने हमारे लिए शोध सामग्री प्रस्तुत की।"

एक बार फिर मैंने उनके इस कथन को चुनौती दी। मैंने उन्हें बताया कि मेरी समझ यह है कि राज्य के कानून को 1870 के ब्रिटिश संसदीय कानून के नमूने पर तैयार किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि

स्थानीय अधिकारियों को ऐसे नियम तैयार करने की अनुमति दी जाती है जो मां-बाप से यह अपेक्षा करें कि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजें और उनके लिए जुर्माने तय करें जो ऐसा करने में विफल होते हैं। एक दशक बाद 1880 में ब्रिटेन की संसद ने एक कानून पारित किया जिसमें स्थानीय अधिकारियों से अपेक्षा की गयी थी कि वे शिक्षा को आदेशात्मक बनावें। मैंने भारत में सरकार द्वारा बनाये गये सभी कानूनों को नहीं देखा है लेकिन जिनको देखा है उनमें से किसी में यह व्यवस्था नहीं है कि अनिवार्य शिक्षा को स्थानीय अधिकारियों के लिए आदेशात्मक बनाया जाय।

"आप गलत कह रहे हैं", अधिकारी ने जवाब दिया और उन्होंने अपने सहायक को बुलाकर राज्य कानून की प्रतिलिपि लाने का निर्देश दिया। जब उनका सहायक एक बड़ा सा फोल्डर ले कर कमरे में घुसा तो मैंने सुझाव दिया कि क्यों न पहले तमिलनाडु के कानून को देखा जाय क्योंकि मैं अभी वहां से लौटा हूं, वहां की कानून का मैंने अध्ययन किया है और इस मामले में सरकार के भूतपूर्व वित्त सचिव से बातचीत की है जिन्होंने मुझे बताया कि किसी भी स्थानीय अधिकरी ने कभी भी शिक्षा को अनिवार्य नहीं बनाया। उस सहायक ने तमिलनाडु के कानून की प्रतिलिपि मुझे पकड़ाई और मैंने संबद्ध हिस्से (अनुच्छेद–44) को पढ़ना शुरू किया, "कोई भी स्थानीय अधिकारी इस उद्देश्य के लिए विशेष रूप से आयोजित बैठक में पारित प्रस्ताव के जरिये, जिसे उपस्थित सदस्यों के कम से कम दो तिहाई मतों का समर्थन प्राप्त हो, यह निर्णय ले सकता (रेखांकन मेरा) है कि उसके अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत समूचे अथवा किसी खास हिस्से में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाया जायेगा।"[1]

अधिकारी महोदय आश्यर्चचकित लगे। हमने फिर अन्य राज्यों के कानूनों को देखा। पंजाब के कानून में भी कहा गया था कि स्थानीय अधिकारी शिक्षा को अनिवार्य बना "सकते" हैं।[2] मैंने ध्यान दिया कि अपनी यात्रा के दौरान मुझे कुछ ऐसे स्थानीय अधिकारी मिले थे जिन्होंने शिक्षा को अनिवार्य बनाया और यह भी गौर किया था कि राज्य सरकारों ने स्थानीय अधिकारियों पर इस बात के लिए दबाव नहीं डाला कि वे इसे लागू करने का तंत्र स्थापित करने के लिए उपकानूनों का निर्माण करें।

उस अधिकारी ने कहा, "ऐसा हुआ होगा। मेरी एक बार एक ऐसे केंद्र शासित प्रदेश में नियुक्ति हो गयी जहां अनिवार्य शिक्षा कानून था। मैंने पाया कि गरीब लोगों पर इस बात के लिए जुर्माना किया जाता था कि वे अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेज रहे हैं। कुछ अध्यापक मां-बाप से इस बात कि लिए प्रतिमाह 10 रुपये वसूल रहे थे क्योंकि उन्होंने स्कूल में यह रिपोर्ट नहीं लिखाई थी कि उनके बच्चे स्कूल नहीं जा रहे हैं। किस तरह कोई

गरीब आदमी अपने बेटे को स्कूल भेज सकता है जबकि घर के मवेशियों की देखभाल के लिए उसे बेटे की जरूरत है? गांव में चारे की कोई व्यवस्था नहीं है। आपरेशन्स रिसर्च ग्रुप के अध्ययन के अनुसार 4 करोड़ 40 लाख बच्चे मजदूरी करते हैं। अगर इन बच्चों को काम करने से रोका नहीं जा सकता तो अनिवार्य शिक्षा थोपने का मतलब शुतुमुर्ग की तरह रेत में गर्दन धंसाकर समस्या का समाधान ढूंढना है। यहां दोहरी समस्या है। हमारे यहां एक शिक्षा प्रणाली है जो हमारे बच्चों के लिए पर्याप्त नहीं है और एक सामाजिक प्रणाली है जो गरीब लोगों को इस बात के लिए बाध्य करती है कि वे अपने बच्चों को स्कूल न भेजें। इसलिए अगर बच्चे स्कूल नहीं जाते हैं तो हम उनके गरीब मां-बाप को कैसे दंड दे सकते हैं? 1995 में सरकार बाल मजदूरी पर एक नये तरह से विचार करेगी और तब हम अनिवार्य शिक्षा के सवाल पर भी ध्यान दे सकते हैं। यह कहने का कोई मतलब नहीं है कि आप इसे कर नहीं सकते।"

उन्होंने आगे कहा, "मैं समझता हूं कि आमतौर पर भारत के लोग चाहते हैं कि उनके बच्चे शिक्षित हों इसलिए हमें कोई दण्डात्मक अधिकार की जरूरत नहीं है जिससे उनके बच्चों को स्कूल भेजा जा सके। इसके अलावा हमें इस बात का क्या अधिकार है कि हम मां-बाप को इस बात के लिए मजबूर करें कि वे बच्चों को स्कूलों में भेजें जो किसी खास मतलब के नहीं हैं। स्कूलों में अच्छे अध्यापक नहीं हैं। प्रायः ऐसा होता है कि वे स्कूल में आते तक नहीं। हमें चाहिए कि सबसे पहले हम देश में ऐसे स्कूलों की स्थापना करें जो सचमुच किसी लायक हों। अभी तो हमारे सारे स्कूल एकदम बकवास हैं।"

मैंने उन्हें बताया कि अब मैं इसे समझ गया कि क्यों सरकारी अधिकारियों ने कामगार बच्चों के लिए अनौपचारिक शिक्षा प्रणाली विकसित की। इसमें यह व्यवस्था है कि काम करने वाले बच्चे शिक्षा ग्रहण करें और प्राइमरी स्कूलों की बजाय गरीबों के बच्चों के लिए इस प्रणाली को ज्यादा उपयोगी माना गया है। बात को बीच में काटते हुए उन्होंने कहा, "कई मां-बाप और बच्चे भी अंशकालिक (पार्ट टाइम) शिक्षा की प्रणाली को पसंद करते हैं।" फिर क्यों नहीं उन बच्चों के लिए, जो प्राइमरी स्कूलों में नहीं जा रहे हैं अनौपचारिक अंशकालिक शिक्षा को अनिवार्य बना दिया जाता? इस सवाल से उन्होंने कन्नी काटी और यह कहते हुए कि कुछ लोग उनसे मिलने आये हैं उन्होंने बातचीत यहीं समाप्त कर दी।

मैं उनके आफिस से लौटते हुए मन ही मन आश्चर्य प्रकट कर रहा था कि इतने बड़े सरकारी अधिकारी को यह भी जानकारी नहीं है कि राज्य सरकारों ने शिक्षा को अनिवार्य नहीं बनाया। लेकिन बाद में सोचने पर मैंने

महसूस किया कि हमारी असहमति एक तकनीकी पहलू को लेकर थी। चाहे कोई कानून "सकता है" या "किया जायेगा" कहे, सभी सरकारी अधिकारी इस बात से सहमत हैं कि वस्तुतः भारत में किसी भी प्राधिकार ने शिक्षा को अनिवार्य नहीं बनाया। यहां कोई भी कानून लागू करने वाला अधिकारी नहीं है, बच्चों के नामों और जन्मतिथियों के अनिवार्य रूप से पंजीकरण कराने का कोई प्रावधान नहीं है, परिगणना का कोई रजिस्टर नहीं है, जिनके बच्चे स्कूल नहीं जा रहे हैं उन मां-बाप और अभिवावकों को नोटिस जारी करने की कोई व्यवस्था नहीं है और बच्चों को स्कूल न भेजने वाले मां-बाप पर किसी तरह के दंड का प्रावधान नहीं है। प्रशासनिक एजेंसियों अथवा अदालतों के सामने मां-बाप या अभिभावकों के खिलाफ कोई मुकदमा नहीं आया। इसके अलावा ऐसा भी नहीं हुआ कि राज्य अथवा केंद्र सरकार में कभी किसी निर्वाचित अथवा नियुक्त अधिकारी ने अनिवार्य शिक्षा कानून लागू करने के लिए दबाव डाला हो।

हमारी बातचीत में मेरे लिए यह सुनना और भी दिलचस्प रहा कि शिक्षा को अनिवार्य नहीं बनाया जाना चाहिए— न केवल इसलिए कि इससे मां-बाप को कामगार बच्चों से आय होती है बल्कि इसलिए भी कि शिक्षा व्यवस्था अपने आप में ही बिल्कुल बेकार है। इस तरह का दृष्टिकोण पहले भी मेरी जानकारी में आया था लेकिन वह केंद्र सरकार के किसी उच्च शिक्षा अधिकारी की ओर से नहीं था।

अहमदाबाद की एक सामाजिक कार्यकर्ता

भारत की शिक्षा प्रणाली की सबसे जबर्दस्त और स्पष्ट आलोचना मुझे श्रीमती इला भट्ट से सुनने को मिली। श्रीमती भट्ट अहमदाबाद की विख्यात सामाजिक कार्यकर्ता हैं और सांसद भी हैं। वह "सेल्फ इम्प्लाइड वीमेंस एसोसिएशन" (सेवा) की संस्थापिका हैं। सेवा ने हजारो महिलाओं और बच्चों को संगठित किया है जिनमें बीड़ी उद्योग, सिले–सिलाए कपड़े बनाने वाले और झल्ली बटोरने वाले शामिल हैं। अधिकांश महिलाएं और बच्चे मध्यवर्गीय परिवारों से सड़े गले सामान इकट्ठा करते हैं। जैसे– पुराने रद्दी कपड़े, बोरियां, बोतलें आदि और इन्हें दुबारा बाजार में बेच देते हैं। श्रीमती भट्ट ने बताया कि इस काम में लगे लोगों में से लगभग एक तिहाई पुराने अछूत हैं, शेष एक तिहाई मुसलमान हैं और इसके अलावा पिछड़ी जातियों के लोग हैं। प्रारंभ में "सेवा" टैक्सटाइल लेबर एसोसिएशन के साथ सम्बद्ध था जो अहमदाबाद की मजबूत यूनियनों में से एक है लेकिन श्रीमती भट्ट के अनुसार हरिजनों के लिए नौकरियों में आरक्षण (कोटा) के सवाल पर यूनियन तथा "सेवा" के बीच मतभेद हो गया और दोनों अलग हो गये। ("मैंने हरिजनों का समर्थन किया", इला भट्ट ने बताया)।

अहमदाबाद के सामाजिक क्षेत्रों में श्रीमती इला भट्ट को जबर्दस्त सम्मान प्राप्त है। उन्होंने सफलतापूर्वक असंगठित क्षेत्र के लोगों को एकजुट किया जिन्हें आसानी से संगठित नहीं किया जा सकता। उन्होंने आत्मनिर्भरता वाली कई परियोजनाएं शुरू कीं जिस पर बाहर की एजेंसियों का ध्यान गया और उन्होंने वित्तीय समर्थन दिया। गरीब महिलाओं की प्रवक्ता के रूप में उनकी काफी ख्याति है। अहमदाबाद में उनके साधारण से मकान के एक हिस्से में बैठकर हमने बातचीत की शुरुआत की। श्रीमती भट्ट ने कहा कि, "हमारी मौजूदा शिक्षा व्यवस्था किसी काम की नहीं है। हमारे स्कूल न तो छात्रों का चरित्र निर्माण करते हैं और न उन्हें स्व–रोजगार के लिए तैयार करते हैं। अध्यापकों को चाहिए कि वे बच्चों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाएं और वही पढ़ाएं जो प्रासंगिक है। लेकिन स्थिति क्या है? पढ़ाई बिलकुल रद्दी है। कभी-कभी तो, और खासतौर से खेतीबारी के दिनों में, अध्यापक स्कूल आते भी नहीं हैं। देश के विकास के लिए स्कूल में बच्चों को सामाजिक मूल्यों से लैस किया जाना चाहिए जो नहीं हो रहा है।"

किस तरह के सामाजिक मूल्य?

"हां, अनुशासन। वे पेड़ न काटें। साप्रदायिक सद्भाव, समानता, अस्पृश्यता की समाप्ति। अगर मैं एक गरीब परिवार से आती हूं लेकिन मुझे अच्छे पैसे मिल रहे हैं तो मैं अपने बच्चे को काम पर नहीं भेजना चाहूंगी। मैं उसे स्कूल भेजूंगी। अगर मजदूरों की आय ज्यादा हो जए तो बाल मजदूरी में कमी आयेगी। लेकिन एक बात और है जिस पर हम ध्यान नहीं देते हैं। हमारे स्कूल बच्चों को 'कैरियर' के लिए तैयार नहीं करते। ऐसे कई कई खोमचे वाले हैं जिनके बेटों ने डिग्रियां हासिल कर ली हैं। लेकिन उनके पास कोई नौकरी नहीं है। शिक्षा व्यवस्था ने उन्हें क्लर्क बनने के लिए शिक्षित किया है। हम सोचते हैं कि अगर हम स्कूल जा रहे हैं तो हमारे पास सफेदपोशों वाली ही नौकरी होनी चाहिए। हमारी शिक्षा व्यवस्था में शारीरिक श्रम के लिए कोई सम्मान नहीं है। इसलिए ये शिक्षित बेटे आज समाज विरोधी तत्व हो गए हैं।

"हमारे प्रायमरी स्कूल भी किसी काम के नहीं रह गए हैं। यहां बच्चे कुछ भी नहीं सीखते। मैं नगर पालिका के स्कूलों में चौथी कक्षा तक पढ़े बच्चों को देखती हूं कि उन्हें लिखना भी नहीं आता।"

अध्यापकों के न पढ़ाने की वजह क्या है? मैंने पूछा।

"इसकी खास वजह यह है कि बच्चों के प्रति प्रेम, उन्हें शिक्षा देने की जरूरत का अभाव है। अध्यापकों को कोई चिंता नहीं होती। कभी-कभी बच्चे टिफिन के डिब्बों में बासी खाना लेकर आते हैं लेकिन अध्यापकों ने उन्हें भी मना नहीं किया। मुझे इन बातों से बहुत अफसोस होता है। ऐसा इसलिए

नहीं है कि अध्यापकों की तनख्वाहें कम हैं। उन्हें प्रतिमाह सात-आठ सौ रुपये मिलते हैं और उनके वेतनमान में वृद्धि भी हुई है। हमारे यहां अध्यापक निम्न मध्यवर्ग के अंग हैं। उनके पास एस.एल.सी. पास (स्कूल लिविंग सर्टिफिकेट) होता है और साथ में अध्यापक का डिप्लोमा जिसे वे दो वर्ष के अध्ययन के बाद प्राप्त करते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में आज वेतन पहले से बेहतर हो गया है और अध्यापक काफी संगठित हैं लेकिन वे पढ़ाते नहीं हैं। अगर हम उनकी इज्जत नहीं करते तो इसलिए क्योंकि हम देखते हैं कि वे पढ़ाने के अलावा अन्य धंधों में लगे हैं।"

अध्यापकों के अंदर प्रेरणा की जो कमी है उसका कारण क्या है?

"मैंने कई स्कूलों को देखा है और कई अध्यापकों से बातचीत की है। अध्यापकों का कहना है कि मां-बाप सहयोग नहीं करते। वे कहते हैं कि छात्रों की हाजिरी नियमित नहीं है और मां-बाप को इसकी परवाह नहीं होती। मैं उनसे पूछती हूं कि आप क्यों नहीं जा कर अभिभावकों से मिलते? इसके जवाब में अध्यापक कहते हैं कि यह उनका काम नहीं है। मैं कहती हूं आप मां-बाप को लिखें कि वे आकर मिलें। इसके जवाब में अध्यापक का कहना है कि उनके पत्र को बच्चे घर तक नहीं पहुंचाते और अगर वे पहुंचा भी दें तो मां-बाप को पढ़ना नहीं आता। अध्यापक की यह भी शिकायत है कि मां-बाप इस पर भी ध्यान नहीं देते कि उनके बच्चों ने होमवर्क पूरा किया या नहीं। मैंने अध्यापकों को यह कहते हुए सुना है कि मां-बाप निम्न जातियों से आते हैं। और उनके बच्चों के पास 'दिमाग नहीं है'।

"अध्यापक लोग कक्षा से बाहर तनिक भी ध्यान नहीं देते। स्कूल तो चिकित्सा प्रणाली की तरह है। यहां दवाएं औषधालय आधारित हैं। डॉक्टर सोचते हैं कि लोगों को औषधालय में आना चाहिए। अध्यापक सोचते हैं कि मां-बाप को क्लास रूम में आना चाहिए। वे कहते हैं कि अभिभावकों के पास जाने की उनकी कोई जिम्मेदारी नहीं है। इसमें कोई शक नहीं कि अध्यापकों में भी कुछ अपवाद हैं। जैसा कि डॉक्टरों में भी देखा जा सकता है। लेकिन मैं आम स्थिति की बात कर रही हूं।

क्या निम्न जाति के अध्यापक बच्चों के साथ बेहतर सलूक करते हैं?

"नहीं,उनका भी रुख सहानुभूतिपूर्ण नहीं है। जब निम्न जाति के बच्चे प्राइवेट स्कूलों में शिक्षा ग्रहण करते हैं तो वे बाबू (क्लर्क) बनना चाहते हैं। वे पीछे मुड़कर नहीं देखना चाहते। वे अपने खुद के समुदाय के लोगों के साथ काम करना नहीं चाहते। निम्न जातियों से आए पढ़े–लिखे कुछ ऐसे स्नातक जरूर हैं जो विरोध का स्वर उठाते हैं लेकिन अधिकांश इन चीजों पर ध्यान नहीं देते।"

मैं देखता हूं कि यहां अहमदाबाद में घरों में बहुत से बच्चे काम करते

हैं। ये कौन लोग हैं और कहां से आते हैं– मैंने जानना चाहा।

"राजस्थान से बड़ी तादाद में बच्चे यहां लाए जाते हैं जो घरों में काम करते हैं। वे घरों में पोंछा लगाते हैं, कपड़े धोते हैं और बर्तनों आदि की सफाई करते हैं। वे एक घर में दिन में दो बार आते हैं और आमतौर से पांच या छह परिवारों के काम संभालते हैं जिनसे उन्हें प्रतिमाह लगभग तीन सौ रुपये की आय होती है। वे अच्छे लड़के हैं। वे न तो कभी चोरी करते हैं और न बदतमीजी से बात करते हैं। वे विनम्र स्वभाव के हैं। उनकी भाषा राजस्थानी की तरह है। लेकिन उनसे संवाद करना कठिन है। आमतौर पर वे 16–17 वर्ष के लड़के होते हैं लेकिन कभी–कभी वे अपने साथ अपने छोटे भाइयों को भी लाते हैं जिनकी उम्र 10 वर्ष और कभी तो छह वर्ष तक की भी होती है। छोटे लड़के किसी एक परिवार के साथ काम करते हैं और प्रतिमाह लगभग सौ रुपये कमाते हैं। अगर वे बीमार पड़ जाते हैं तो फौरन उन्हें उनके घर भेज दिया जाता है। वे डाक्टरों से बहुत घबराते हैं इसलिए बीमार पड़ते ही उनके बड़े भाई फौरन उन्हें घर भेज देते हैं।

"इन मकानों में काम करने वाले लड़के कपड़ा मिलों अथवा अन्य कारखानों में नौकरी ढूंढते रहते हैं। जब तक कारखानों में उन्हें काम नहीं मिल जाता, वे घरों के कामकाज देखते हैं ताकि उनकी कुछ आय होती रहे और कोई जगह मिल सके जहां वे रात गुजार सकें। लेकिन जब उन्हें कारखाने में नौकरी मिल जाती है तो वे झुग्गियों में चले जाते हैं। वे लिख पढ़ नहीं सकते क्योंकि उन्हें कभी शिक्षा नहीं मिली। हमारी यह धारणा है कि अगर आप लिख–पढ़ सकते हों तो आपको इस तरह का काम करने की जरूरत न पड़े।

"इनमें से कई बच्चे कबाड़ी के काम में भी लगे हैं। वे अपनी माओ के साथ काम करते हैं और इस प्रकार वे इस काम को सीख लेते हैं।"

मैंने कहा कि अगर स्कूलों की हालत इतनी खराब है जितनी आप बता रहीं हैं तो भी क्या यह उचित नहीं है कि इतनी कम उम्र में काम शुरू करने की बजाय वे स्कूलों में ही जाएं?

"अपने व्यवसाय को सीखने के ये महत्वपूर्ण वर्ष हैं," उन्होंने जवाब दिया, "और अगर वे स्कूल चले जायेंगे तो तैयारी के इन वर्षों से वे वंचित हो जाएंगे। जो गरीब बच्चे स्कूल जाते हैं वे अपनी पढ़ाई पूरी नहीं कर पाते और डिग्री नहीं हासिल कर पाते। ज्यादा संभावना इसी बात की है कि वे स्कूल के स्तर पर ही पढ़ाई छोड़ दें और कालेज तक न पहुंच पाएं। इसलिए अगर वे स्कूल जाते हैं तो किसी काम के लायक नहीं रह जाते।"

इला भट्ट की यह आलोचना कि प्रारंभिक शिक्षा देने वाले स्कूल विफल हो चुके हैं क्योंकि वे बच्चों को काम के लिए तैयार नहीं करते, मुझे महात्मा

गांधी के विचारों की याद दिलाती है जिसे उन्होंने 1930 के दशक में "बुनियादी शिक्षा" शीर्षक लेख में व्यक्त किया था। बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा पर जाकिर हुसैन कमेटी की रिपोर्ट में गांधी जी के विचारों पर राष्ट्रवादी आंदोलन ने अपनी सहमति व्यक्त की थी। इस रिपोर्ट में कहा गया था कि–

> शिक्षा को किसी शिल्प अथवा उत्पादक कार्य के जरिए प्रदान किया जाना चाहिए और इस उत्पादक कार्य को स्कूल में प्रदान किये जाने वाले अन्य सभी निर्देशों के केंद्र में रखना चाहिए। अगर इस शिल्प को कुशलतापूर्वक और गंभीरता के साथ पढ़ाया गया तो स्कूल को इस योग्य होना चाहिए कि इसके जरिए ही वह अपने अध्यापकों का खर्च वहन कर सके। गांधी जी के अनुसार इससे राज्य को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा योजना तुरत शुरू करने में भी मदद मिलेगी।.....किसी उचित धन के उत्पादक कार्य के जरिए बच्चों को शिक्षित करने के विचार से आधुनिक शिक्षा शास्त्री भी एकमत दिखाई देते हैं। ...मनोवैज्ञानिक स्तर पर देखें तो यह वांछनीय है क्योंकि इससे बच्चेको उस ऐकेडमिक और विशुद्ध रूप से सैद्धान्तिक शिक्षा की बर्बरता से मुक्ति मिलती है जिसके विरुद्ध उसका सक्रिय स्वभाव एक स्वस्थ प्रतिरोध करता रहता है। यह अनुभव के बौद्धिक और व्यावहारिक तत्वों के बीच संतुलन बनाता है और इसे शरीर और मन के बीच समन्वय कायम करने वाली शिक्षा का उपकरण बनाया जा सकता है। इससे बच्चे को सतही साक्षरता नहीं मिलती। जिसमें यह निहित है कि उसे किसी रचनात्मक उद्देश्य के लिए हाथ और बुद्धि के इस्तेमाल की क्षमता हासिल होगी।
>
> सामाजिक दृष्टि से सोचें तो शिक्षा में इस तरह के व्यावहारिक उत्पादक कार्य की शुरुआत से, जिसमें देश के सभी बच्चों को भाग लेने दिया जाए, शारीरिक और बौद्धिक काम के बीच मौजूद विद्वेषपूर्ण अवरोधों को तोड़ने में मदद मिलेगी।[3]

गांधीजी की यह धारणा थी कि उत्पादक शिल्प के जरिए शिक्षा ग्रहण कर स्कूलों को आत्मनिर्भर बनाया जा सकता है। गांधीजी ने लिखा, "साक्षरता अपने आप में कोई शिक्षा नहीं है। इसलिए मैं किसी बच्चे को उपयोगी हस्तशिल्प का प्रशिक्षण देकर शिक्षा शुरू करना चाहूंगा ताकि प्रशिक्षण लेने के साथ-साथ वह उत्पादन भी शुरू कर सके। इस प्रकार प्रत्येक स्कूल को आत्मनिर्भर बनाया जा सकता है बशर्ते इन स्कूलों में जो कुछ उत्पादन हो रहा हो उसे सरकार ले ले।"[4]

गांधीजी और उनके अनुयायी बुनियादी शिक्षा को न केवल गरीबों के लिए दी जाने वाली व्यावहारिक शिक्षा मानते थे बल्कि वे सभी सामाजिक वर्गों के लिए इसे उचित समझते थे। जो लोग हाथ से काम करते हैं और जो मेज कुर्सी पर बैठ कर काम करते हैं, उन दोनों के बीच भारतीय समाज में जो भीषण अंतर है, उसे दूर करने के लिए गांधी प्रतिबद्ध थे। इसके विपरीत जो भारतीय शारीरिक श्रम को औपचारिक शिक्षा के साथ समन्वित करने की आज दलील दे रहे हैं, वे शिक्षा के प्रति गांधी की तरह एक समान स्कूली दृष्टिकोण विकसित करने के लिए जोर नहीं दे रहे हैं बल्कि वे यह चाहते हैं कि कोई ऐसा तरीका सुनिश्चित कर लिया जाय जिससे शहरी और

ग्रामीण क्षेत्र के गरीब घरों के बच्चों को हाथ से काम करने के लिए सही ढंग से तैयार किया जा सके। जैसा कि हमने देखा है, इला भट्ट बाल श्रम को अपने आप में शिक्षा का रूप मानती हैं। वह कुटीर उद्योगों, हस्तशिल्पों अथवा खेतों में बच्चों द्वारा किये जा रहे काम को "बाल मजदूरी" नहीं मानतीं, बल्कि उसे अप्रैंटिसशिप का एक रूप अर्थात शैक्षणिक प्रक्रिया का एक अंग मानती हैं।

अहमदाबाद में मैंने यह पता करने की कोशिश की कि क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जिसने इस विषय पर शोध किया हो कि काम करने वाले बच्चों को किस तरह का कौशल विकसित करना चाहिए। मुझे बताया गया कि मैं दो विद्वानों श्री वी.डी. पटेल और श्री मुखर्जी से मिलूं जो गांधी श्रम संस्थान के अनुसंधान विभाग में काम करते हैं। श्री मुखर्जी ने बताया, "हम देखते हैं कि इन कामों में बच्चों को कोई कौशल नहीं मिलता। अनेक बच्चे रेस्तराओं और होटलों में काम करते हैं जहां उन्हें किसी तरह का कौशल विकसित करने का अवसर नहीं है। कुछ अन्य बच्चे ईंट के भट्ठों में ईंट या मिट्टी ढोते हैं और कुछ पत्थर की खदानों में काम करते हैं। कुछ बच्चे कपास ओटने वाले कारखानों में काम करते हैं जहां उन्हें मशीन के अंदर कपास को ठेलकर डालना होता है और यहां भी वे कुछ नहीं सीखते हैं। उन्हें प्रतिदिन 5 या 6 रुपये मिलते हैं। इन कामों में उन्हें कोई कौशल नहीं हासिल होता और वस्तुतः बड़े होने के बाद वे आमतौर पर इन कामों को छोड़ कर किसी और काम की तलाश में लग जाते हैं। हमने अहमदाबाद क्षेत्र में काम कर रहे बच्चों का एक सर्वेक्षण किया और देखा कि उनके अंदर ऐसा कोई कौशल विकसित नहीं हो है जो उनका भविष्य निर्धारित करने में अथवा किसी और काम के लिए उन्हें तैयार होने में मदद पहुंचा सके।"

श्री मुखर्जी के निष्कर्षों का तुरत ही प्रत्यक्ष प्रमाण सामने आ गया जब एक छोटे बच्चे ने हाथ में चाय का ट्रे लिए कमरे में प्रवेश किया। श्री पटेल ने सफाई दी कि गांधी जी श्रम संस्थान राजस्थान के ग्रामीण क्षेत्र से आये कुछ लड़कों को अपने यहां काम देता है। इस बच्चे की उम्र 10 वर्ष थी। उसकी मां का एक वर्ष पूर्व निधन हुआ था। उसके पिता ने, जो एक खेतिहर मजदूर थे, महज 10 दिन पूर्व अपने गांव के एक व्यक्ति के साथ उसे अहमदाबाद भेजा था। यह बच्चा कभी स्कूल नहीं गया था और इसे पढ़ना-लिखना नहीं आता था। वह और कई लड़कों के साथ संस्थान के कैंटीन में सोता था। इन लड़कों को प्रति माह 80 रुपये मिलते थे।

अहमदाबाद के एक शिक्षक

स्कूली शिक्षा और शारीरिक श्रम का शिक्षा व्यवस्था में किसी तरह समन्वय

किया जाय, इस पर एक परिष्कृत दृष्टिकोण कुमारी जयश्री मेहता ने सामने रखा जो अहमदाबाद के सांइस सेंटर में काम करने वाली एक मेधावी और युवा महिला हैं। कुमारी मेहता का काम गुजरात के स्कूलों के लिए विज्ञान के क्षेत्र में शिक्षण सामग्री विकसित करना है। साइंस सेंटर अहमदाबाद में बाल संग्रहालय का एक हिस्सा है जिसकी स्थापना विक्रम साराभाई ने की थी जो किसी समय प्रधानमंत्री के विज्ञान सलाहकार और भारत के परमाणु एवं नाभिकीय कार्यक्रमों के निदेशक थे।

कुमारी मेहता ने बताया कि राज्य में लगभग 25 हजार प्राइमरी स्कूल हैं। इनमें से लगभग 40 प्रतिशत स्कूलों में केवल एक अध्यापक होते हैं और प्रत्येक स्कूलों में छात्रों की संख्या 60 होती है। अपेक्षाकृत बड़े स्कूलों में आमतौर पर 40 से 45 बच्चों पर एक अध्यापक होते हैं। उन्होंने बताया कि "मेरे गांव में अनेक बच्चे स्कूल नहीं जाते क्योंकि उनके मां-बाप कहते हैं कि उनके पास इतने पैसे नहीं हैं कि वे बच्चों के लिए कपड़े, किताबें या स्लेटें खरीदें। अध्यापक कहते हैं कि बच्चों को स्कूल में कमीज पहननी चाहिए। स्कूली बच्चों को कपड़े देने के कार्यक्रम हैं और सरकार ने दोपहर का भोजन देने का भी कार्यक्रम बनाया है। स्कूल बच्चों को आहार देता है और अध्यापक लोग इनके खाने की व्यवस्था करने में अपना काफी समय खर्च करते हैं।

"जिन बच्चों की उम्र 7 या 8 वर्ष है, वे गांव में अपने ऊपर कुछ जिम्मेदारियां ले लेते हैं। वे जलाने के लिए लकड़ी जुटाते हैं, मवेशियों को चराने ले जाते हैं, खाना बनाते हैं और खेतों में काम करते हैं, अपने छोटे भाई बहनों की देखभाल करते हैं और पानी भरने के लिए कुंए पर जाते हैं। अनेक परिवार शिक्षा को कोई महत्व नहीं देते। अध्यापकों से कहा जाता है कि वे बच्चों को स्कूल में लाने के लिए गांव वालों से जाकर संपर्क करें। लेकिन जब मां-बाप पूछते हैं कि इस शिक्षा से उन्हें क्या मदद मिलेगी तो अध्यापकों के पास कोई जवाब नहीं होता। गांव में इस तरह की भी धारणा है कि जो बच्चे कुछ वर्षों तक स्कूल चले जाते हैं वे फिर गांव के लिए उपयोगी नहीं रह पाते। वे बर्तन बनाने का काम नहीं कर सकते, उन्होंने कोई शिल्प नहीं सीखा है और उन्हें शहरों में भी कोई काम नहीं मिल सकता।

"कई बच्चे तीसरी कक्षा की पढ़ाई खत्म होते-होते स्कूल छोड़ देते हैं जब उनकी परीक्षा के दिन नजदीक आते हैं। जो पास कर लेते हैं वे पढ़ाई आगे चलाते रहते हैं। मैंने एक गांव में काम किया जहां तीसरी कक्षा की परीक्षाओं में भाग लेने वाले 40 बच्चों में से 18 बच्चे फेल हो गये। अगर कोई बच्चा एक से अधिक विषय में फेल होता है तो वह आगे पढ़ाई जारी

नहीं रख सकता। हमारे यहां गुजरात में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा है लेकिन अगर कोई बच्चा परीक्षा में फेल हो जाता है तो उसके मां-बाप उसे स्कूल से बाहर निकाल लेते हैं। 15–16 वर्ष के जिन बच्चों से आपकी यहां मुलाकात होगी उनमें से अधिकांश स्कूल जा चुके हैं और उन्होंने कुछ वर्ष स्कूल में बिताये हैं लेकिन वे लिख-पढ़ नहीं सकते। बीच में पढ़ाई छोड़ने वालों में लड़कियों की संख्या सबसे ज्यादा है। मां-बाप की धारणा यह है कि अगर लड़कियों ने लड़कों से ज्यादा शिक्षा हासिल कर ली तो उनकी शादी नहीं हो सकती। उनका कहना है कि लड़कियों को पढ़ाने से क्या फायदा जब उन्हें घर में ही काम करना है। इसके अलावा लड़के भी यह नहीं चाहते कि लड़कियां ज्यादा पढ़ें क्योंकि वे यह सोचते हैं कि ज्यादा पढ़ लिख लेने से लड़कियां जरूरत से ज्यादा आजाद हो जायेंगी।" कुमारी मेहता ने बताया कि सरकार द्वारा संचालित सभी प्राइमरी स्कूलों में एक ही पाठ्यक्रम है और सब जगह एक ही पाठ्य पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं। उन्होंने प्राइमरी स्कूल में गणित की शिक्षा के लिए कुछ वीडियो टेप और पुस्तिका तैयार की है। उन्होंने कहा कि "हमें बच्चों को किसी कौशल से लैस करना चाहिए ताकि वे आत्मनिर्भर बन सकें। स्कूल को चाहिए कि बच्चों को बढ़ईगीरी, कुम्हारगीरी और कालीन बुनने की शिक्षा दी जाय। प्रत्येक स्कूल में व्यावसायिक प्रशिक्षण कार्यक्रम होना चाहिए ताकि बच्चे केवल मजदूर बनकर न रह जायें। हमें चाहिए कि स्कूलों में शिक्षा और श्रम के बीच समन्वय स्थापित किया जाय। लेकिन अंग्रेजों के जमाने से लेकर अब तक हमारी शिक्षा व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। हम पाठ्यक्रम सुधार की बातें करते हैं लेकिन अगर मैं आपको उन किताबों को दिखाऊं जो 30 वर्ष पहले पढ़ाई जाती थीं और आज इस्तेमाल की जाने वाली पाठ्य पुस्तकों को दिखाऊं तो आप पायेंगे कि हमने बस इतना ही किया है कि आठवीं कक्षा की सामग्री को तीसरी कक्षा की किताबों में भर दिया है। हमने पाठ्यपुस्तक में कोई सुधार नहीं किया है। हमने शिक्षा प्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं किया है। हमें स्कूलों में उन लोगों को लाना चाहिए जो शिल्प के क्षेत्र में हैं। हर गांव में एक कुम्हार, दर्जी, लुहार, मोची आदि हैं लेकिन स्कूल के साथ उनका कोई संबंध नहीं है। गांव में ऐसी औरतें भी हैं जो कसीदाकारी और बुनाई का काम जानती हैं और जिन्हें स्कूल के साथ जोड़ा जा सकता है। जो लोग हमारी शिक्षा प्रणाली को संचालित कर रहे हैं, वे न तो बच्चों की जरूरतों के प्रति और न गांवों में मौजूद कौशल के प्रति संवेदनशील हैं। जब हम ऐसी नई शिक्षण सामग्री प्रस्तुत करते हैं जिनसे अध्यापक परिचित नहीं हैं तो वे इसका इस्तेमाल करना नहीं चाहते और उनके सुपरवाइजर भी इनके इस्तेमाल के लिए प्रोत्साहित नहीं करते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में जो लोग हैं

उनका गुणवत्ता से कोई सरोकार नहीं है। मैं जब उनसे बात करती हूं तो बहुत परेशान हो जाती हूं लेकिन वे कहते हैं कि मैं अभी युवा हूं और जल्दी ही इसे समझ जाऊंगी।"

प्राथमिक विद्यालयों के एक सचिव

श्रीमती भट्ट, कुमारी मेहता तथा स्कूली व्यवस्था के अन्य आलोचकों से बातचीत करने के बाद मैं गुजरात राज्य के प्राथमिक शिक्षा सचिव श्री गोर्धनभाई से मिलने गया। श्री गोर्धनभाई प्रशासनिक सेवा के सदस्य हैं और उन्होंने राज्य के शिक्षा विभाग में कई वर्ष बिताये हैं। सरकारी प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम तैयार करने और इन्हें वित्तीय साधन प्रदान करने का काम राज्य सरकार करती है।

मैंने श्री गोर्धनभाई से पूछा कि क्या गुजरात में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य है? उन्होंने बताया कि 1961 में सातवीं कक्षा तक समूचे राज्य में शिक्षा को अनिवार्य किया गया और इसके अंतर्गत 6 से 14 वर्ष के बच्चों को लिया गया। प्रत्येक जिले में जिले के एक शिक्षा अधिकारी को यह अधिकार दिया गया कि वह बच्चों को स्कूल भेजने के लिए उनके मां-बाप को प्रेरित करें, जिला शिक्षा अधिकारी ने अपने इस अधिकार को स्थानीय शिक्षा निरीक्षकों को सौंप दिया। कानूनी तौर पर यह निरीक्षक उन मां-बाप को दण्डित कर सकते थे जिन्होंने अपने बच्चों को स्कूल न भेजा हो। लेकिन "कानून के पारित होने के बाद सरकार ने फैसला किया कि पिछड़ी जातियों के हित में यह नहीं है कि कानून का पालन न करने वालों को दंडित किया जाय क्योंकि सामाजिक-आर्थिक स्थितियां ऐसी हैं कि गरीब लोग अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेज सकते। हमारी आबादी में 14 प्रतिशत आदिवासी हैं, 7 प्रतिशत अनुसूचित जन जातियों के हैं और 28 प्रतिशत अन्य पिछड़ी जातियों के हैं– इस प्रकार 49 प्रतिशत आबादी पिछड़े लोगों की है। अगर हमने शिक्षा को अनिवार्य कर दिया तो इन लोगों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इसलिए सरकार ने सभी अधिकारियों को निर्देश दिये कि किसी को दंडित न किया जाय। कानून अपने कार्यरूप में नहीं है। अब भारत सरकार का कहना है कि अनिवार्य शिक्षा की बजाय लोगों को प्रेरित करके सबके लिए शिक्षा का काम हाथ में लेना चाहिए।"

मैंने जानना चाहा कि सबके लिए शिक्षा का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए आप किस तरह लोगों को प्रेरित करते हैं?

"1947 का राज्य प्राथमिक शिक्षा कानून जिला पंचायतों को प्राथमिक शिक्षा का काम सौंपता है। पंचायतें स्कूलों को चलाती हैं लेकिन इनका खर्च राज्य सरकार वहन करती है। स्थानीय निकायों ने स्कूलों में भर्ती का अभियान शुरू किया है इसलिए हम उम्मीद करते हैं कि ज्यादा से ज्यादा

बच्चे दाखिला लेंगे। पहले से ही 6 से 11 वर्ष की आयुवर्ग के 93 प्रतिशत बच्चे स्कूलों में हैं।"

क्या यह बच्चे सचमुच स्कूलों में जाते हैं?

"ऐसा है कि काफी बच्चे बीच में पढ़ाई छोड़ देते हैं। पहले दर्जे में जो दाखिला लेते हैं उनमें से केवल 35 प्रतिशत चौथी कक्षा तक पहुंचते हैं। कक्षा एक में दाखिला लेने वाले 100 बच्चों में से केवल 20 कक्षा 7 पास करने तक होते हैं।" मैंने मन ही मन जोड़ लिया कि दाखिला लेने से संबंधित 93 प्रतिशत का जो आंकड़ा दिया गया है उसका कोई अर्थ नहीं है।

"हमने दाखिला शुरू करने का अभियान चलाया। लेकिन आदिवासी इलाकों में बच्चे खेतों में काम करते हैं और अपने छोटे भाई बहनों की देखभाल करते हैं। अगर हम उन्हें इस बात के लिए मजबूर भी कर दें कि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजें तो वे बाद में उन्हें स्कूल से बाहर निकाल देंगे। वे बड़ी मुश्किल से जीवन यापन करते हैं, और उन्हें अपने बच्चों से मदद की जरूरत होती है। हमें उन बच्चों के लिए, जो काम करते हैं दो घंटे की सांध्यकालीन कक्षाएं चलानी होंगी ताकि वे कुछ शिक्षा प्राप्त कर सकें। हमने कुछ ऐसे विषय चुने हैं जो उनके जीवन को सुखद बनाने के लिए उपयोगी हों। स्वास्थ्य तथा सफाई से संबंधित विषय, भाषा और गणित जैसे विषय के मुकाबले, जो नियमित तौर पर स्कूलों में पढ़ाये जाते हैं, यह ज्यादा महत्वपूर्ण है। बच्चों को स्कूल आने के लिए प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से हम जरूरतमंद बच्चों को निःशुल्क पाठ्य पुस्तकें और स्कूली पोशाक दे रहे हैं। यह हम सभी बच्चों के लिए नहीं कर सकते। पाठ्य पुस्तकों की कीमतें एक सेट के लिए लगभग 10 रुपये है। अगर हम सभी बच्चों को निःशुल्क पाठ्य पुस्तकें देना शुरू करें तो एक साल में यह खर्च 6 करोड़ रुपया आयेगा और गुजरात प्राथमिक शिक्षा के लिए कुल निर्धारित राशि महज 191 करोड़ है।"

क्या आप बच्चों को निःशुल्क खाना देते हैं?

"हमने सोचा था कि खासतौर से आदिवासी इलाकों में निःशुल्क भोजन देने से दाखिले की संख्या बढ़ेगी। दोपहर के भोजन कार्यक्रम के अधीन 50 लाख बच्चे आते हैं। हम अनुसूचित जाति के लोगों को नगद राशि भी देते हैं ताकि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजें। यह कहना मुश्किल है कि इन कार्यक्रमों से दाखिला लेने वालों की संख्या बढ़ी है अथवा नहीं।"

गुजरात के स्कूलों में ऐसा क्यों है कि कई जगह केवल एक ही अध्यापक है? मैंने यह कहते हुए सुना है कि एक अध्यापक वाले स्कूलों का संचालन ठीक से नहीं होता है और बीच में पढ़ाई छोड़ने वालों की संख्या इन स्कूलों में अपेक्षाकृत ज्यादा है।

"यह हालत समूचे देश में एक ही जैसी है। हमारे पास 62 लाख बच्चों के लिए एक लाख 45 हजार प्राइमरी स्कूल के अध्यापक और 40 हजार माध्यमिक स्कूल के अध्यापक हैं। अनेक स्कूलों में 50–60 बच्चों के लिए एक अध्यापक है। पहली से चौथी कक्षा वाले स्कूलों में, हमारा कहना है कि बच्चों को एक–डेढ़ किलोमीटर से ज्यादा पैदल नहीं चलना चाहिए लेकिन इसका अर्थ यह हुआ कि हम एक अध्यापक वाले अनेक छोटे स्कूल चलायें। इसके बाद 60 बच्चों में से केवल 20 चौथी कक्षा में पहुंचते हैं और केवल 15 पांचवी कक्षा तक–खासतौर से आदिवासी इलाकों में कक्षा पांच से सात के लिए 15 छात्रों पर एक अध्यापक है। यह अनुपात इसलिए बढ़ गया क्योंकि बहुत से बच्चों ने बीच में पढ़ाई छोड़ दी और ऊंची कक्षाओं के लिए हमें गांव में एक अध्यापक रखना ही होगा वरना स्कूल बंद हो जायेगा।

मैंने पूछा कि आप अपने बच्चों को पढ़ने के लिए कहां भेजते हैं?

"वे एक प्राइवेट स्कूल में जाते हैं। पढ़ाई–लिखाई के लिहाज से यह बेहतर नहीं है। मैं नहीं समझता कि सरकारी स्कूलों के मुकाबले प्राइवेट स्कूलों में शिक्षा का स्तर बढ़िया है। लेकिन प्राइवेट स्कूलों में मां-बाप के प्रति अध्यापकों का रवैया अपेक्षाकृत ज्यादा व्यक्तिगत है। सरकारी स्कूलों में अध्यापकों और प्रधान अध्यापकों का कहना है कि उनका सरोकार मां-बाप से नहीं बल्कि केवल बच्चों से है। सरकारी स्कूलों के अध्यापक उदासीन रहते हैं। उनकी अपनी यूनियनें हैं और वे पढ़ाई–लिखाई पर बहुत ध्यान नहीं देते। स्कूली व्यवस्था में एक बार प्रवेश कर जाने के बाद उन्हें निकाला नहीं जा सकता। आज तक किसी को बर्खास्त नहीं किया गया। शिक्षा के क्षेत्र में मूल समस्या बच्चों के प्रति अध्यापकों के अंदर दिलचस्पी का अभाव है। वे नतीजों (रिजल्ट) की परवाह नहीं करते और उनको इस बात की भी चिंता नहीं है कि जिस शिक्षण पद्धति को वे अपना रहे हैं वह कारगर है अथवा नहीं। हम अध्यापक को पढ़ाने के लिए मजबूर नहीं कर सकते।

"अध्यापकों और बच्चों के बीच किसी तरह का व्यक्तिगत संबंध नहीं है। शिक्षा में नैतिक मूल्यों पर जोर देने की जरूरत है लेकिन जब तक हम अध्यापकों को प्रशिक्षित न करें, छात्रों को नैतिक मूल्यों की शिक्षा कैसे दे सकते हैं।"

और आप यह कैसे करना चाहते हैं?

"हमें चाहिए कि अध्यापकों को गांधी जी के जीवन के बारे में पढ़ायें और हमें ईमानदारी के मूल्यों पर जोर देने की जरूरत है।"

नानाचौक म्युनिसिपल स्कूल

कुछ दिनों बाद मैं बंबई में नानाचौक म्युनिसिपल स्कूल में गया। यहां स्कूल को ढूंढ़ पाना बहुत कठिन था। यह बंबई के एक भीड़ भरे इलाके में स्थित

था जो, मुझे बताया गया कि नानाचौक (बाजार) में ग्रांट रोड रेलवे स्टेशन के पास है। सड़क के किनारे मैंने कई लोगों को रोक कर पूछा कि यह स्कूल कहां है लेकिन कोई बता नहीं सका। फिर मैंने अपनी कार के ड्राइवर से कहा कि उस औरत से वह पूछे जो स्कूली पोशाक पहने एक बच्चे को साथ लेकर जा रही थी। ड्राइवर ने उस साफ सुथरी, सजी–धजी मध्यवर्गीय औरत और उसके बच्चे को देखा और उसने मुड़कर मुझसे कहा– "इनको नहीं पता होगा।" जैसा कि मेरे ड्राइवर ने ठीक ही अनुमान लगाया था म्युनिसिपिल स्कूल में केवल शहर के गरीब लोगों के ही बच्चे पढ़ते हैं क्योंकि मध्यवर्गीय परिवारों के बच्चे प्राइवेट स्कूलों में जाते हैं। यह म्युनिसिपल स्कूल एक भीड़ भरी सड़क के किनारे ईंट की बनी विशाल इमारत में स्थित है जो घनी आबादी वाले गरीब अमरीकी शहरी केंद्रों में बनी स्कूल की इमारतों से भिन्न नहीं है हालांकि उनमें और इसमें एक खास फर्क यह है कि यहां खेलने के लिए कोई मैदान नहीं है। मैंने स्कूल की प्रधानाध्यापिका के साथ स्कूल का भ्रमण किया। वह भारी भरकम और अच्छी बातचीत करने वाली अधेड़ महिला थीं। स्कूल की इमारत में उनके साथ घूमते समय अध्यापकों और छात्रों के रवैये से पता चला कि उनका अच्छा खासा दबदबा है।

मैंने उनसे बताया कि मैं खासतौर से बच्चों के स्कूल में बने रहने की समस्या के प्रति उत्सुक हूं। उन्होंने बताया कि उनके स्कूल में प्रतिवर्ष प्रत्येक कक्षा में 15 से 20 प्रतिशत छात्र बीच में पढ़ाई छोड़ देते हैं। उन्होंने कहा, "बच्चों को कोई प्रेरित नहीं करता। वे परिवार के व्यवसाय में शामिल होना चाहते हैं। अगर बच्चे स्कूल नहीं आते हैं तो हम लोग मां-बाप को पत्र लिखते हैं कि वे खुद आकर स्कूल में मिलें। लेकिन वे काम करने वाले लोग हैं और उनकी स्थिति ऐसी नहीं है कि काम छोड़कर मिलने आयें। ज्यादातर लड़कियां पढ़ाई छोड़ती हैं क्योंकि घरेलू कामकाज संभालती हैं। हम अध्यापक लोग कुछ भी करने में अपने को लाचार पाते हैं।"

क्या अध्यापकों ने कभी मां-बाप के घर जाकर उनसे मिलने की कोशिश की?

"नहीं, हम ऐसा कैसे कर सकते हैं। स्कूल खत्म होने के बाद अध्यापक लोग अपने-अपने घरों को रवाना होते हैं। जो भी हो मां-बाप के अंदर शिक्षा के प्रति कोई उत्साह नहीं है। अनेक बच्चे पहली कक्षा में फेल होने के बाद से ही स्कूल आना बंद कर देते हैं। सरकार अब सोच रही है कि केवल चौथी कक्षा में परीक्षा ली जाय। हो सकता है कि कुछ बच्चे घरेलू जरूरतों के कारण पढ़ाई बीच में बंद करते हों लेकिन अधिकांश बच्चे परीक्षा में फेल होने के कारण आना बंद करते हैं। ज्यादातर बच्चे यहीं झोपड़-पट्टियों में रहते हैं। उनके मां-बाप पढ़े लिखे नहीं हैं। उन्हें और भी ज्यादा आय की

जरूरत है इसलिए बच्चे स्कूल नहीं आ रहे हैं।''

नानाचौक स्कूल में प्राथमिक और माध्यमिक दोनों स्कूल हैं। प्रत्येक कक्षा में 40–50 छात्र होते हैं। कक्षाओं में ब्लैक बोर्ड तो लगे हैं लेकिन पढ़ने अथवा खेलने के लिए कोई सामग्री नहीं है। स्कूल के अंदर कोई ऐसी जगह नहीं है जहां बच्चे खेल सकें। निचली कक्षा के अध्यापक यह प्रदर्शित करते बहुत खुश हो रहे थे कि कितने प्रभावशाली ढंग से उनके कहने पर बच्चे कविताएं सुना रहे थे या उनके सवालों के जवाब दे रहे थे।

मुझे तीसरे दर्जे के लिए निर्धारित साइंस रीडर दिखाई गई जो अंग्रेजी मीडियम के छात्रों के लिए थी। (मराठी और हिंदी मीडियम में भी यहां पढ़ाई होती है।) इस पुस्तक में मानव शरीर रचना विज्ञान वाला अंश तीसरी कक्षा के स्तर से ऊंचा था और वह ऊंची कक्षा के लिए पढ़ाई जाने वाली पुस्तक से लिया गया था। औसतन नौ वर्ष की उम्र के बच्चे के लिहाज से यह काफी आगे का पाठ्यक्रम था।

निचली कक्षा की पढ़ाई निःशुल्क होती है लेकिन माध्यमिक कक्षा के छात्रों को ट्यूशन फी देनी पड़ती है– जिन बच्चों के मां-बाप गरीब हैं अर्थात जिनके मां-बाप की वार्षिक आय 5,000 रु. से कम है उनकी फीस माफ कर दी जाती है। सातवीं कक्षा तक के छात्रों के लिए पाठ्यपुस्तकें निःशुल्क दी जाती हैं लेकिन कापियां और स्लेटें मां-बाप को खरीदनी पड़ती हैं। इस स्कूल में केवल एक तिहाई लड़कियां हैं।

निचली कक्षा के लिए जो अध्यापक नियुक्त किये जाते हैं उनके पास हाई स्कूल का डिप्लोमा होता है और अध्यापन के लिए प्रशिक्षण सर्टिफिकेट होता है। हाई स्कूल के छात्रों को पढ़ाने वाले अध्यापकों के पास कालेज की डिग्री होती है। अध्यापकों की नियुक्ति, स्थानान्तरण अथवा बर्खास्तगी का अधिकार नगर-निगम के शिक्षा विभाग को ही होता है। अध्यापकों को वेतन के रूप में प्रतिमाह 1,000 से लेकर 17,00 रु. मिलते हैं, जिसका अर्थ यह हुआ कि वे निम्न मध्यवर्ग के माने जाते हैं। अपनी आय बढ़ाने के लिए अध्यापकों को यह सुविधा दी गयी है कि वे ट्यूशन पढ़ा सकते हैं। प्राइवेट स्कूलों में वेतन कम होने के बावजूद काम करने का यह फायदा जरूर है कि अध्यापक निजी ट्यूशन के जरिए और भी पैसे कमा सकता है। लेकिन नगर-निगम के स्कूलों में भी अध्यापक स्कूल के बाद बच्चों को पढ़ा कर अतिरिक्त आय कर सकते हैं– ऐसा मुझे वहां की प्रधान अध्यापिका ने भी बताया।

राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद

सबको प्राथमिक शिक्षा देने के लक्ष्य की प्राप्ति में जो सबसे बड़ी बाधा है वह

पहली कक्षा में दाखिल बच्चों को स्कूली व्यवस्था में बनाए रखने की अक्षमता है। यह जानने के लिए कि बीच में पढ़ाई छोड़ देने वाले छात्रों की संख्या इतनी ज्यादा क्यों होती है, मैं नई दिल्ली स्थित राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (एनसीईआरटी) गया जो भारत का सर्वोच्च शैक्षणिक अनुसंधान संस्थान है। यह पाठ्यक्रम के बारे में अनुसंधान कराता है, शिक्षण सामग्री विकसित करता है और इसने कई ऐसे कार्यक्रम तैयार किये हैं जिनसे बीच में पढ़ाई छोड़कर जाने की दर में कमी आ सकती है। दिल्ली के एक छोर पर एनसीआरटी का एक विशाल परिसर है जहां अनुसंधान सुविधाओं के अतिरिक्त यह अध्यापकों तथा शिक्षण से संबंधित प्रशासकों को प्रशिक्षण देता है। मैंने वहां के एक वरिष्ठ प्रोफेसर से भेंट की जिन्हें ड्राप आउट्स की समस्याओं के अध्ययन के लिए काफी ख्याति मिली हुई है। उन्होंने बताया कि एनसीईआरटी इस पक्ष में है कि स्कूलों में दाखिले बढ़ाने तथा स्कूल छोड़कर जाने वालों की संख्या कम करने के लिए कुछ विशेष सुविधाएं प्रदान करने की नीति अपनायी जाए। मसलन निःशुल्क स्कूली पोशाक, निःशुल्क पाठ्य पुस्तकें, लड़कियों को निःशुल्क शिक्षा और दोपहर का भोजन आदि। उन्होंने यह भी महसूस किया कि भारत में केवल एक अध्यापक के बूते पर चलने वाले दो लाख स्कूलों की स्थिति असंतोषजनक है। उन्होंने कहा– "हमारे यहां लगभग छह लाख गांव हैं और इनमें छोटे–छोटे मोहल्लों सहित लगभग नौ लाख "हैबिटेशंस" हैं लेकिन स्कूलों की संख्या केवल पांच लाख है। और कुछ समुदायों में स्कूल जाने के लिए बच्चों को अच्छी खासी दूरी तय करनी पड़ती है। इसलिए एक अध्यापक वाले स्कूल से हम तब तक मुक्ति नहीं पा सकते जब तक इस समस्या को हल न कर लें। आज भारत की शिक्षा व्यवस्था के सामने मुख्य समस्या अनौपचारिक शिक्षा का विस्तार है ताकि घर बैठे ही बच्चों को कुछ शिक्षा प्राप्त हो सके।"

यह प्रोफेसर महोदय एक बुजुर्ग विद्वान थे और उन्हें देखने से लगता था कि वह एक धर्म परायण हिंदू हैं। मैंने गौर किया कि उनके गले में जनेऊ पड़ा हुआ है और माथे पर भभूत का टीका लगा हुआ था। उन्होंने एनसीईआरटी में रहकर अनेक वर्षों तक भारतीय शिक्षा पर अनुसंधान का कार्य किया है। उन्होंने बताया कि– "6 से 15 वर्ष की आयु वर्ग के 70 प्रतिशत बच्चे स्कूल नहीं जाते। (मैंने मन ही मन हिसाब लगाया कि 1981 की जनगणना में यह आंकड़ा 50 प्रतिशत बताया गया था) लेकिन हम इन बच्चों को मजदूरी के काम से हटाना नहीं चाहते क्योंकि उनके मां-बाप को अतिरिक्त आय की जरूरत होती है। हम इस स्थिति में नहीं है कि उनके बच्चों को स्कूल भेजने से उनकी आय में जो कमी आयेगी उसकी भरपाई

कर सकें। इसलिए जब वे अपने परिवारों की मदद कर रहे हैं तो इस काम से हम उन्हें कैसे हटाएं? घरों में, दुकानों और कारखानों में काम कर के यह मध्य वर्ग और उच्च वर्ग को भी मदद पहुंचा रहे हैं। ये बच्चे समाज के उत्पादक सदस्य हैं।

"अब हम अनिवार्य शिक्षा की बात नहीं करते। हमने "अनिवार्य" शब्द ही खत्म कर दिया। अब हम सबके लिए शिक्षा की बात करते हैं। इसके लिए कोई दबाव नहीं। हम मजबूर करके लोगों को शिक्षा नहीं दे सकते। सरकार ने ऐसे कानून बनाए जिनके तहत उन मां-बाप को दंडित करने का प्रावधान है जो अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेजते लेकिन कानून अमल में नहीं है। जनता यह नहीं चाहती कि कोई काम दबाव के जरिए हो। हम शिक्षा में दिलचस्पी विकसित करना चाहते हैं। हम ऐसी पाठ्यसामग्री विकसित करने की कोशिश में लगे हैं जो बच्चों के अंदर दिलचस्पी पैदा करे। इसके अलावा हम चाहते हैं कि अधिक से अधिक बच्चे अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम के तहत आएं। अनौपचारिक कार्यक्रमों के अंतर्गत हम स्वास्थ्य और सफाई, जीवन मूल्यों आदि पर जोर दे सकते हैं न कि शैक्षणिक अनुशासन पर और प्रमाण पत्र देने पर। प्रमाण पत्र हासिल करने के लिए इन बच्चों का औपचारिक कार्यक्रमों में स्थानान्तरण किया जा सकता है। अनौपचारिक क्षेत्र से निकले लगभग 10 प्रतिशत बच्चों को औपचारिक कार्यक्रम में भेजा जा सकता है। अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम की शुरुआत 1978 में उन बच्चों के लिए की गयी थी जो बीच में ही पढ़ाई छोड़ देते हैं। इस तरह के एक लाख 60 हजार केंद्रों में लगभग 40 लाख बच्चे इस कार्यक्रम के तहत शिक्षा ले रहे हैं– प्रत्येक केंद्र मे 20 से 25 बच्चे होते हैं। जहां तक कोष का संबंध है। हमारा जोर अभी भी औपचारिक शिक्षा व्यवस्था पर है लेकिन हम अनौपचारिक शिक्षा का विस्तार करने की कोशिश कर रहे हैं।"

यह प्रोफेसर उन अनेक शिक्षाधिकारियों में से एक थे जिनसे मैं मिला और जो यह मानते हैं कि बीच में पढ़ाई छोड़ देने वाले बच्चों की संख्या यह बताती है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था कितनी अपर्याप्त है और इससे इस तथ्य का भी पता चलता है कि चूंकि गरीब परिवारों को अपनी आय में वृद्धि की जरूरत होती है और उन्हें अपने बच्चों को काम पर लगाना जरूरी हो जाता है, इसलिए वे उन्हें स्कूलों से हटा लेते हैं। अन्य भारतीय शिक्षाविदों से मैंने मुलाकात की और उन सबकी यह राय थी कि ड्राप आउट्स की दर में वृद्धि से यह पता चलता है कि अनिवार्य शिक्षा को लागू करना अवांछनीय है।

एक वैज्ञानिक-शिक्षक

सभी इस बात से सहमत नहीं मिले कि गरीबी के कारण बच्चे स्कूल छोड़ते हैं। डा. वी.जी.कुलकर्णी ने एक वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। वह एक

भौतिक शास्त्री हैं जो अब शिक्षा के क्षेत्र में अनुसंधान कर रहे हैं और जिन्होंने माध्यमिक स्कूलों के लिए विज्ञान की पाठ्य पुस्तकों को विकसित करने का प्रयास किया है।

डा. कुलकर्णी होमी भाभा साइंस सेंटर के निदेशक हैं जो नाना चौक म्युनिसिपल स्कूल के एक हिस्से में स्थित है। इस केंद्र का गठन बंबई के उन वैज्ञानिकों ने किया था जो म्युनिसिपल स्कूलों में विज्ञान की शिक्षा के स्तर से चिंतित महसूस करते थे। इस केंद्र के कर्मचारी इस बात को लेकर भी परेशान लगे कि बीच में पढ़ाई छोड़ने वाले बच्चों की संख्या इतनी ज्यादा क्यों है और इसे कम करने के लिए क्या उपाय किये जा सकते हैं।

डा. कुलकर्णी ने कहा, "हमने देखा कि हमारे स्कूलों में विज्ञान की शिक्षा सचमुच नहीं होती है। हम हिंदू लोग वर्षों से मंत्र रटते रहे हैं और इसी तरह आज स्कूलों में भी हम बच्चों को दूसरे तरह के मंत्र रटने का प्रशिक्षण देते हैं। हम अपने बच्चों को वही दोहराने को कहते हैं जो हम बोल रहे होते हैं। हमने उन्हें कभी विज्ञान को अनुभव करने का प्रशिक्षण नहीं दिया। झोपड़–पट्टियों से आने वाले बच्चों के साथ सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वे नहीं जानते कि किस तरह सवाल किये जाएं। वे अपने हाथ नहीं उठाते हैं। उन्हें उस "औपचारिक" भाषा का ज्ञान नहीं है जिसकी स्कूलों में जरूरत होती है और जो यह भाषा नहीं सीख पाते वे स्कूल छोड़ देते हैं। बंबई के नगर निगम द्वारा संचालित इन स्कूलों में मुख्य रूप से उन बच्चों को लिया जाता है जो सामाजिक तौर पर पिछड़े वर्ग के हैं। अन्य दूसरे प्राइवेट स्कूलों में जाते हैं। हम नगर निगम के शिक्षा अधिकारी के पास गए और हमने उनके समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि हम विज्ञान की शिक्षा देने के लिए अध्यापकों को प्रशिक्षित करना चाहते हैं। अधिकारियों ने कहा कि यह अच्छा विचार है। इसके बाद विज्ञान अध्यापकों की एक बैठक आयोजित करने का निर्णय लिया गया। कुछ प्रधानाध्यापकों ने मीटिंग में हिस्सा लिया लेकिन उन्होंने कहा कि वे अपने अध्यापकों को यहां नहीं भेज सकते इसलिए कोई भी अध्यापक नहीं आया। हमने फिर नाना चौक म्युनिसिपल स्कूल में काम करना तय किया क्योंकि यहां की प्रधान अध्यापिका का रुख बहुत सहायतापूर्ण था। फिर भी असली समस्या अध्यापकों के साथ है। वे छात्रों के लिए जवाबदेह नहीं हैं। अगर छात्र कहते हैं कि अध्यापक जो भी पढ़ा रहा है वह उनके समझ में नहीं आता तो वह अध्यापक एक बार फिर अपने लेक्चर को दुहरा देता है।

"निचली कक्षा को पढ़ाने वाले कुछ अध्यापक बेहतर अध्यापन की कोशिश करते हैं लेकिन माध्यमिक स्कूल के अधिकांश अध्यापक अध्यापन के अलावा दूसरे कामों में लगे रहते हैं। इनमें से कुछ बैंकों में क्लर्क भी हैं।

"हमने सोचा हमारे स्कूलों को खुद हमारे और पश्चिमी देशों के बीच के फर्क को दूर करना चाहिए इसलिए हम अपने बच्चों को विज्ञान और टेक्नालाजी की शिक्षा देना चाहते हैं। निगम स्कूल का बोर्ड कहता है कि निचली कक्षा में विज्ञान और अंग्रेजी के विषयों को शुरू कर स्कूलों को प्राइमरी स्कूलों का स्तर ऊंचा करना चाहिए। इसका अर्थ बस यही है कि ऊंची कक्षा के पाठ्यपुस्तकों से सामग्री लेकर निचली कक्षा की पाठ्य पुस्तकों में डाल दिया जाय। शिक्षा विभाग ने रूसी और अमरीकी पाठ्यपुस्तकों से सामग्री ली और इस पर कोई ध्यान नहीं दिया कि यह सामग्री किस स्तर के छात्र के लिए है। हमारे पास किस तरह की प्रयोगशालाएं हैं और हमारे अध्यापक किस हद तक प्रशिक्षित हैं।

"मेरा कहना है कि ड्राप आउट (स्वेच्छा से पढ़ाई छोड़ने वालों) की संख्या शून्य है लेकिन पुस आउट (पढ़ाई छोड़ने को मजबूर किये जाने वालों) की संख्या बहुत ज्यादा है। हमारी शिक्षा व्यवस्था की यह गड़बड़ी है कि बच्चों को स्कूल से बाहर ठेल दिया जा रहा है। जब उन्होंने विज्ञान और अंग्रेजी के शिक्षण का स्तर "उन्नत" किया तब और भी ज्यादा बच्चे परीक्षा में फेल होने लगे और ड्राप आउट की दर में वृद्धि हुई । हमारे सेंटर ने विज्ञान पढ़ाने का एक कार्यक्रम विकसित किया और उसे काफी सफलता के साथ कुछ ग्रामीण स्कूलों में आजमाया। नत्तीजा यह हुआ कि वहां ड्राप आउट की दर में कमी आयी। हमने म्युनिसिपल स्कूल बोर्ड के सामने प्रस्ताव रखा कि वह हमारे कार्यक्रम का अपने स्कूलों में इस्तेमाल करे लेकिन उसने इन्कार कर दिया।"

ऐसा क्यों?

"मुझे नहीं पता। यह एक समाजशास्त्रीय प्रश्न है। हमने पता किया कि अध्यापकों के पास उनकी खुद की भाषा नहीं है– वे पाठ्यपुस्तकों की भाषा का ही इस्तेमाल करते हैं। हमने तय किया कि हम इन पुस्तकों की भाषा को सरल बना सकते हैं। इससे अध्यापकों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली भाषा का विकास हुआ और साथ ही बच्चों के लिए पाठ्य सामग्री ज्यादा आसान हो गयी। हम इस कोशिश में हैं कि इस सरलीकृत पाठ्य सामग्री को सरकार इस्तेमाल करे लेकिन इसमें हमें कोई खास सफलता नहीं मिली है। दरअसल हम यहां विज्ञान की शिक्षा पर शोध करते हैं लेकिन इसके लिए सरकार को प्रेरित करने के काम में समय नहीं लगाते। मैं जानता हूं कि वह काम भी बहुत महत्वपूर्ण है लेकिन अभी तक हम उसे नहीं कर सके हैं। हमारा प्रयास है कि विज्ञान की शिक्षा में अनुसंधान के लिए एक चिंता पैदा हो। हम यहां बहुत सारे लोगों को लाये लेकिन हमने अपने लोगों को सेल्समैनशिप के लिए इस्तेमाल नहीं किया।"

मैंने डा. कुलकर्णी को बताया कि मैं प्रायः इस तथ्य से हैरान हो जाता हूं कि यहां भारत में आमतौर पर लोग सही बातें करते हैं लेकिन देखा जाता है कि उन्हें कार्यान्वित करने में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं होती। पश्चिम के मुकाबले भारत के लोगों में कथनी और करनी के बीच जो संबंध है वह बहुत भिन्न किस्म का है। अब मंत्रों की ही बात लीजिए। पश्चिम में हम लोगों के अंदर यह धारणा है कि भारत के लोग मंत्रों को बहुत शक्तिशाली मानते हैं और अगर वे सही शब्द बोल रहे हैं तो आमतौर पर वे दुनिया को बदल देंगे।

डा. कुलकर्णी ने जवाब में कहा, "आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। भारतीय मानस विचारों को बड़ी खूबसूरती के साथ व्यक्त करता है। हम जब कुछ कहते हैं तो सोचते हैं कि ठीक है मैंने अपना करम कर लिया। अगर मैं यह बताने के लिए कोई लेख लिखता हूं कि हम गरीब क्यों हैं तो मैंने अपना काम पूरा कर दिया। बाकी जिम्मेदारी सरकार की है। हम खूबसूरत भाषा पसंद करते हैं। जे.पी. नायक की पुस्तक (वह सरकार के प्रमुख शिक्षा सलाहकार हैं तथा भारतीय शिक्षा पर उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं हैं) या कोठारी आयोग की रिपोर्ट (भारतीय शिक्षा पर एक सरकारी रिपोर्ट) का उदाहरण ले सकते हैं। इसमें विचारों को बेहद खूबसूरती के साथ व्यक्त किया गया है– ठेठ भारतीय मानसिकता की तरह। सूक्तियां रचने में हमारा कोई मुकाबला नहीं कर सकता। हम बिना यह जाने शब्दों को दोहराते रहते हैं कि उनका अर्थ क्या होता है क्योंकि हम यह नहीं समझते कि घटनाओं के घटित होने के पीछे ऐसे कारण होते हैं जिनका वर्णन किया जा सकता है और जिन्हें समझा जा सकता है। हमारे यहां इस दृष्टिकोण का अभाव है। दरअसल हम कारणों पर ध्यान नहीं देते इसलिए हम कुछ भी नहीं करते हैं। हो सकता है कि कुछ न करके ही हम समाज को स्थिर बने रहने में अपना योगदान कर रहे हों।"

"पुश आउट्स" या "ड्राप आउट्स"

स्वेच्छा से पढ़ाई छोड़ देने वाले छात्रों की दर में वृद्धि के कारणों के बारे में मुझे विभिन्न विचार सुनने को मिले। फर्क इतना ही था कि कुछ लोगों ने इसका कारण जबर्दस्त गरीबी को बताया और कुछ ने इसके लिए स्कूलों के वर्तमान स्वरूप को दोषी ठहराया। डा. कुलकर्णी के शब्दों में कहें तो यह मुद्दा "पुश आउट्स" (पढ़ाई छोड़ने को मजबूर कर दिये गये लोग) का है न कि "ड्राप आउट्स" का।

भारतीय स्कूलों में बीच में पढ़ाई छोड़ देने वाले छात्रों की असली संख्या क्या है, इसके बारे में राष्ट्रीय स्तर पर कोई विश्वसनीय सरकारी

आंकड़ा उपलब्ध नहीं है क्योंकि स्कूल में दाखिले से संबंधित जो आंकड़े हैं उनमें काफी चालाकी नजर आती है और वे एकदम अविश्वसनीय हैं। प्रत्येक स्कूल, दाखिले से संबंधित आंकड़ा तैयार कर उसे तालुका आफिस भेजता है जहां से उसे जिला शिक्षा अधिकारी के पास अग्रसारित किया जाता है और यह शिक्षा अधिकारी राज्य के शिक्षा विभाग को भेज देता है। जैसा कि एक शोध कर्ता ने बताया कि–"हर दफ्तर इन आंकड़ों में कुछ जोड़ता जाता है।"

इसके अलावा स्कूल जाने वाले छात्रों के विभिन्न आयु वर्ग के प्रतिशत से संबंधित सरकारी आंकड़े प्रायः गलत होते हैं क्योंकि प्रत्येक आयुवर्ग में बच्चों की जो संख्या दी गयी होती है वह सही नहीं होती। मिसाल के तौर पर शिक्षा मंत्रालय ने बताया कि 8 करोड़ 50 लाख बच्चों में से 7 करोड़ 10 लाख बच्चे अर्थात 83.6 प्रतिशत बच्चे जो 6 से 11 वर्ष के आयुवर्ग के थे, 1979–80 मे प्राइमरी स्कूलों में पढ़ रहे थे। लेकिन 1981 की जनगणना से पता लगता है कि इस आयुवर्ग के 10 करोड़ 88 लाख बच्चे थे जिसका अर्थ यह हुआ कि अभी जो प्रतिशत ऊपर बताया गया था वह घटकर 65. 3 प्रतिशत हो गया। इस प्रकार सरकार ने तो यह अनुमान पेश किया कि 1 करोड़ 40 लाख बच्चे इस आयु वर्ग के स्कूलों में नहीं थे जबकि वास्तव में 6 से 10 वर्ष की उम्र के 3 करोड़ 78 लाख बच्चे स्कूल नहीं गये। (यह आंकड़ा और भी ज्यादा समस्या तब उत्पन्न करता है जब 1981 की जनगणना रिपोर्ट से हमें यह पता चलता है कि पांच से नौ वर्ष के आयुवर्ग के केवल 3 करोड़ 60 लाख बच्चे स्कूल में थे। इसका अर्थ यह हुआ कि 6–11 वर्ष के आयु वर्ग के बच्चों के स्कूल जाने के बारे में मंत्रालय का आंकड़ा अविश्वसनीय रूप से बहुत ज्यादा है।"

दाखिले के बारे में कोई विश्वसनीय आंकड़ा न होने के कारण यह अनुमान लगाना खासतौर से बहुत कठिन हो जाता है कि प्राइमरी स्कूल में भर्ती होने वाले छात्रों में से कितने छात्र ऐसे हैं जो चौथी, पांचवी, या छठी कक्षा तक पढ़ाई पूरी नहीं कर सके। कर्नाटक की स्थिति पर विचार करें जहां 1961 में 6 से 11 वर्ष के आयु वर्ग के बच्चों के लिए अनिवार्य शिक्षा संबंधी तथाकथित कानून के पास होने के बाद सरकारी तौर पर छात्रों की भर्ती का आंकड़ा 98 प्रतिशत बताया गया। बंगलौर स्थित इंस्टीट्यूट फार सोशल ऐंड इकोनॉमिक चेंज ने कर्नाटक का व्यापक अध्ययन करने के बाद बताया कि पहले दो वर्षों में 35 प्रतिशत बच्चे स्कूलों से बीच में ही पढ़ाई छोड़कर चले गये। चौथे वर्ष के अंत तक लड़कों और लड़कियों के लिए ड्राप आउट्स की दर क्रमशः 68.3 प्रतिशत और 78.5 प्रतिशत हो गया। चार वर्षों तक प्राथमिक शिक्षा पूरी करने वाले छात्रों की वास्तविक संख्या 33

प्रतिशत से भी कम थी। ऐसी स्थिति में "98 प्रतिशत" दाखिले का मतलब क्या हुआ?

कर्नाटक के इस अध्ययन को प्रस्तुत करने वाले शोधकर्ताओं ने बताया कि "ड्राप आउट" की परिभाषा यह है कि अगर कोई बच्चा किसी प्राथमिक स्कूल में भर्ती होता है और सातवीं कक्षा तक पढ़ाई पूरी करने से पहले ही वह स्कूल छोड़ देता है तो उसे हम ड्राप आउट कहते हैं... फिलहाल हालत यह है कि अगर किसी बच्चे ने पहली कक्षा में प्रवेश ले लिया है तो हाजिरी रजिस्टर से उसका नाम सात वर्ष तक नहीं काटा जाता है चाहे वह स्कूल में आए अथवा न आए।"[6] दूसरे शब्दों में कहें तो "नामांकन" का मतलब यह हुआ कि बच्चे का स्कूल में पंजीकरण कर दिया गया है। इसका अर्थ हाजिरी से नहीं है।

इन शोधकर्ताओं ने राज्य भर में सर्वेक्षण किया और प्राइमरी स्कूल के 1,876 ड्राप आउट्स से बातचीत की। इनकी रिपोर्ट के अनुसार इन ड्राप आउट्स में से 60 प्रतिशत ऐसे थे जिन्हें लिखना पढ़ना या गिनती गिनना नहीं आता था जबकि शेष 40 प्रतिशत में "थोड़ा बहुत" सीख लिया था।[7] आशा के अनुरूप ही इनके मां-बाप और खासतौर से इनकी मांएं निरक्षर थीं। (मां-बाप में से 93.5 प्रतिशत मांएं निरक्षर थीं) वे गरीबी में दिन गुजारते थे और उनके परिवार की औसत आय प्रतिमाह 300 रु. से भी कम थी।

इस सर्वेक्षण के दौरान सबसे दिलचस्प बात यह देखी गयी कि जिन छात्रों ने बीच में पढ़ाई छोड़ दी वे मजदूरी करने नहीं गए। ज्यादातर बच्चे मवेशियों की देखभाल करके और गोबर तथा ईंधन के लिए लकड़ी इकट्ठा करके, छोटे बच्चों की देखभाल करके मां-बाप को मदद पहुंचाते रहे। इन गतिविधियों को शोधकर्ताओं ने "घरेलू प्रबंधन" का नाम दिया। आमतौर से यह धारणा है कि अगर परिवार की आय बढ़ जाए तो स्कूलों में भर्ती की संख्या में भी वृद्धि होगी लेकिन यहां यह देखने में आया कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाने वाली परियोजनाओं (मसलन दूध देने वाले मवेशियों का पालन आदि) से बाल मजदूरी में वृद्धि हुई है। इन्होंने यह भी देखा कि ड्राप आउट्स में से केवल 20 प्रतिशत ऐसे कामों में लगे थे जिनमें उन्हें मजदूरी मिलती थी और तीन चौथाई लोग खेतीबारी में लगे रहे। काम करने वाले बच्चों की मासिक आय औसतन 25 रु. (कृषि क्षेत्र में) थी और गैर कृषि कार्यों में लगे बच्चों की आय 53 रु. प्रतिमाह थी।

कर्नाटक के इन निष्कर्षों की पुष्टि एक और अध्ययन से हुई जिसे इंस्टीट्यूट फॉर सोशल ऐंड इकोनामिक चेंज के अंतर्गत एस. नयनतारा ने की थी। यह अध्ययन कर्नाटक के टुंकूर जिले में किया गया था। डा. तारा ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि जिले में 6 से 10 वर्ष के बच्चों के लिए स्कूल

में भर्ती का दो दिनों का अभियान चलाया गया। इनमें से जिनका नामांकन हुआ उनकी हाजिरी बहुत अनियमित रही।

भर्ती किये गये अनुसूचित जाति के 45 प्रतिशत बच्चे, जो पहली कक्षा में थे, स्कूल नहीं आए। गांव के प्राइमरी स्कूलों में पहली कक्षा में ड्राप आउट्स की औसत दर 31 प्रतिशत थी और कक्षा दो से चार के बीच 16 प्रतिशत थी।[8] विशेष तौर पर एक दिलचस्प निष्कर्ष यह है कि ड्राप आउट्स में ज्यादातर बच्चे ऐसे थे जो पहली और दूसरी कक्षा की समाप्ति पर परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सके थे (34 प्रतिशत बच्चे पहली कक्षा में फेल हुए और शेष दूसरी कक्षा में) इन अध्ययनों से भी डाक्टर कुलकर्णी के निष्कर्षों की पुष्टि होती है।

कर्नाटक के इन निष्कर्षों और भारत के सबसे ज्यादा आबादी वाले राज्य उत्तर प्रदेश के आंकड़ों में काफी समानता मिलती है।यद्यपि उत्तर प्रदेश सरकार का कहना है कि छह से चौदह वर्ष के आयु वर्ग के एक करोड़ 67 लाख बच्चों (69 प्रतिशत) में से एक करोड़ 15 लाख बच्चों ने स्कूल में अध्ययन किया। लेकिन लखनऊ स्थित गिरि इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज द्वारा किये गये अध्ययन से पता चलता है कि पहली कक्षा में भर्ती किये प्रत्येक 100 में से केवल 35 बच्चे पांचवी कक्षा तक पहुंच सके और आठ वर्ष की स्कूली शिक्षा के बाद केवल 20 बच्चे पढ़ाई पूरी कर सके। मुसलमानों और अनुसूचित जाति के बच्चों की प्रगति सबसे बुरी रही। सभी समूहों में से लड़कियों की भर्ती सबसे कम रही और इनकी ड्राप आउट दर सबसे ज्यादा देखने को मिली। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में ग्रामीण आय में वृद्धि (जो पंजाब और हरियाणा के साथ हरित क्रांति का केंद्र रहा है) से न तो स्कूल में भर्ती होने वालों की संख्या बढ़ी और न ड्राप आउट्स के रेट में कोई कमी आई।

गिरि इंस्टीट्यूट के अध्ययन से कर्नाटक के अध्ययन द्वारा प्राप्त इन निष्कर्षों की भी पुष्टि होती है कि पढ़ाई छोड़ने वाले अधिकांश बच्चे मजदूरी के काम में नहीं गए। इस अध्ययन के निदेशक डा. टी. एस. पपोला की रिपोर्ट में बताया गया है कि ड्राप आउट की सबसे बड़ी संख्या कक्षा एक और दो के बच्चों की है जो 6 से 8 वर्ष के आयु वर्ग के हैं। इनमें से कुछ ही बच्चे उत्पादक कार्यों में लगे हैं। डा. पपोला का कहना है, "जैसा कि अर्थशास्त्रियों की धारणा है–"पूर्वानुमानित आय के रूप में सीधे मौके की लागत, शुरुआती कक्षाओं में विद्यालय छोड़ने वालों की ऊंची दर में एक महत्वपूर्ण कारक नहीं है।"

10 से 12 वर्ष की लड़कियां, जो पढ़ाई बीच में छोड़ देती हैं, आमतौर से घर गृहस्थी के कामों में लग जाती हैं और अपने छोटे भाई बहनों की

देखभाल करती हैं। डा. पपोला ने पाया कि स्कूल में भर्ती और परिवार में बच्चों की संख्या के बीच एक संबंध है। जहां परिवार में कई छोटे बच्चे हों वहां भर्ती की संख्या में गिरावट आ जाती है क्योंकि बड़े बच्चे नन्हे मुन्नों की देखभाल करने के लिए घर में बने रहते हैं।

अगर परिवार में दादा-दादी हैं तो इस बात की ज्यादा संभावना है कि घर के बच्चे स्कूलों में अपनी पढ़ाई जारी रख सकें। डा. पपोला ने आगे बताया कि "स्कूल न जाने वाले छोटे बच्चों की देखभाल करने की व्यवस्था की जानी चाहिए क्योंकि दाखिले को प्रभावित करने वाला यह एक महत्वपूर्ण कारण है।"

हालांकि इसका कोई प्रमाण नहीं है कि परिवार की आय में यदि वृद्धि हो जाए तो दाखिले की दर बढ़ जाएगी और ड्राप आउट्स की दर में कमी आ जाएगी लेकिन डा. पपोला को इस बात के प्रमाण जरूर मिले कि परिवार के सदस्यों का शैक्षणिक स्तर स्कूली दाखिले को प्रभावित करता है। अगर परिवार में कोई शिक्षित व्यक्ति है तो ज्यादा संभावना है कि बच्चे स्कूल जाएं। उन्होंने कहा कि "इससे पता चलता है कि प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम अप्रत्यक्ष रूप से बच्चों के स्कूल दाखिले को प्रभावित कर सकता है क्योंकि प्रौढ़ यह महसूस करने लगते हैं कि शिक्षा केवल उनके लिए ही नहीं बल्कि उनके बच्चों के लिए भी जरूरी है।"

डा. पपोला ने बताया कि स्कूलों का दौरा करने पर उन्हें यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि स्कूल कितने अनाकर्षक हैं। इनमें खेलकूद की कोई सुविधा नहीं है। "मुझे स्कूल के चारों ओर कोई भी खुली जगह नहीं दिखाई दी। कम से कम बच्चों को इतनी जगह तो मिलनी ही चाहिए जहां वे आपस में लड़ सकें। आप जानते ही हैं कि आपस में लड़ना बच्चों का कितना प्रिय खेल है। मैं समझता हूं कि खेलने की जगह का न होना भी हाजिरी में कमी लाता है। मैं ऐसे आंकड़े जुटाने की कोशिश में लगा हूं जो बता सकें कि खेलकूद की जगह और ड्राप आउट्स के बीच क्या संबंध है। इन स्कूलों में उन कार्यक्रमों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता जो बच्चों के अंदर दिलचस्पी पैदा कर सकते हैं। मैंने ऐसे मामले तो जरूर सुने हैं जिनमें स्कूल न जाने के लिए मां-बाप ने अपने बच्चों को पीटा हो लेकिन ऐसा मामला कभी नहीं सुनने में आया जब बच्चे को इसलिए पीटा जाए क्योंकि वह स्कूल जाना चाहता था।"

कर्नाटक और उत्तर प्रदेश के अध्ययन में इस बात पर सहमति दिखाई देती है कि पहली कक्षा में प्रवेश करने वाले बच्चों का कवेल एक तिहाई हिस्सा चौथी कक्षा तक पढ़ाई पूरी कर पाता है। 1975 में जे.पी. नायक ने, जो कई वर्षों तक शिक्षा नीति पर भारत सरकार के विशेष सलाहकार थे,

एक अखिल भारतीय आकलन किया था जिसमें दिए गए आंकड़े कर्नाटक और उत्तर प्रदेश के आंकड़ों से थोड़े ज्यादा थे लेकिन तथ्य रूप में वे एक जैसे थे। जे.पी. नायक ने अपनी रिपोर्ट में लिखा, "कक्षा एक में भर्ती प्रत्येक 100 बच्चों में से लगभग केवल 50 बच्चे कक्षा पांच तक और 25 बच्चे कक्षा आठ तक पहुंच पाते हैं।"[9]

स्कूलों में छात्रों के बने रहने की यह निम्न दर ही वह कारण है जो भारत में सबको प्राथमिक शिक्षा देने का लक्ष्य प्राप्त करने में बाधक है और यही कारण है कि स्कूल दाखिले में प्रभावशाली वृद्धि के आंकड़े होने के बावजूद यहां निरक्षरता दर इतनी ज्यादा है। ड्राप आउट्स की दर उच्च होने का अर्थ यह है कि भारत के शिक्षा व्यय का एक उल्लेखनीय अंश उन बच्चों के लिए है जिन्होंने पर्याप्त शिक्षा प्राप्त नहीं की और जिन्हें वृत्तिमूलक साक्षरता हासिल करनी है। पहली कक्षा में भर्ती होने वालों में से 33 से 40 प्रतिशत तक का चौथी कक्षा तक पहुंचना यह बताता है कि अगर स्कूली व्यवस्था सारे बच्चों को स्कूल में बनाए रखने में सक्षम होती तो उस अवस्था में जो कुल खर्च होता उसके मुकाबले एक साक्षर बच्चा तैयार करना काफी खर्चीला है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति ने बहुत खरे शब्दों में कहा, कि "क्या यह विश्वास किया जा सकता है कि स्वतंत्र भारत में 33 वर्षों की आजादी के बाद भी हम अपने प्राइमरी स्कूलों से बीस लाख साक्षर नहीं बल्कि निरक्षर छात्र पैदा कर रहे हैं?[10]

एक शिक्षा आयोजक

नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक कोआपरेशन ऐंड चाइल्ड डेवलपमेंट के निदेशक से बातचीत में हमने इस मुद्दे पर विचार विमर्श किया कि बच्चों को स्कूल में पढ़ाना अच्छा है अथवा उस जगह जहां वे काम करते हैं। यह संस्थान केंद्र सरकार की आर्थिक मदद से चलता है। यह बाल स्वास्थ्य, पोषण और स्कूल-पूर्व शिक्षा के संबंध में अनुसंधान और प्रशिक्षण का काम करता है। संस्थान ने कारखानों में बच्चों के लिए "क्रेच" की स्थापना की है। स्कूल जाने वाली आयु से कम उम्र के बच्चों के स्वास्थ्य तथा मृत्यु दर में सुधार लाने के लिए यह संस्थान "समन्वित बाल विकास योजना" पर भी काफी काम कर रहा है। इसके निदेशक लम्बे चौड़े प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले हैं जो काफी प्रतिबद्धता के साथ अपनी बात रखते हैं। उनसे बातचीत उनके कार्यालय में हुई जहां उनके स्टाफ के और भी कई सदस्य मौजूद थे जो बीच–बीच में बातचीत में हिस्सा लेते थे और उनकी बातों के पक्ष में कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते थे।

निदेशक महोदय ने भारत के शहरी क्षेत्रों में प्राथमिक और माध्यमिक

स्कूलों के बारे में बताया। उन्होंने बताया कि यहां कई तरह के स्कूल हैं–(1) नगर निगम के स्कूल जो शहरी सम्पत्ति पर लगाए गए शिक्षा संबंधी कर से चलते हैं। (2) उच्चतर माध्यमिक स्कूल जिनमें कक्षा सात से पढ़ाई शुरू होती है और जो राज्य सरकार के शिक्षा विभाग के अधीन हैं, (3) प्राइवेट माध्यमिक स्कूल जिनको सरकार से अनुदान प्राप्त है ("सरकारी सहायता प्राप्त स्कूल") और जिन्हें छात्रों से फीस लेने की अनुमति नहीं है। (4) केंद्र सरकार के कर्मचारियों के लिए शिक्षा मंत्रालय द्वारा संचालित केंद्रीय विद्यालय और (5) प्राइवेट माध्यमिक स्कूल जो छात्रों से फीस लेते हैं और जिन्हें मान्यता तो मिली है लेकिन सरकार से उन्हें कोई धनराशि नहीं मिलती। इस तरह के स्कूलों को उन्होंने "पांच सितारा स्कूल" कहा जैसा कि दून स्कूल है जिसमें राजीव गांधी ने शिक्षा ग्रहण की थी।

उन्होंने बताया कि पिछले कुछ वर्षों में "कान्वेंट" अथवा "सेंट" स्कूलों के लिए लोगों के अंदर एक अजीब सी ललक दिखाई पड़ रही है। अंग्रेजी माध्यम वाले इन प्राइवेट यूनिसेक्स स्कूलों में अच्छी खासी फीस ली जाती है और स्कूलों के नाम चाहे जो हों इन्हें चलाने वाले प्रायः हिंदू हैं। इन स्कूलों ने उच्च मध्य वर्ग को बहुत आकर्षित किया है। उन्होंने बताया कि निम्न वर्ग के लोग अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में भेजते हैं– खासतौर से नगर निगम के स्कूलों में।

उन्होंने बताया कि नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ कोआपरेशन ऐंड चाइल्ड डेवलपमेंट का सरोकार निम्न वर्ग के लोगों की शिक्षा संबंधी समस्याओं से है। इस इंस्टीट्यूट ने स्कूल भर्ती होने से पूर्व की शिक्षा के लिए एक लाख दस हजार केंद्रों को खोलने में मदद की है। इनसे लगभग 45 लाख बच्चे लाभान्वित होते हैं। इन केंद्रों का उद्देश्य स्कूल जाने से पूर्व की उम्र के बच्चों के स्वास्थ्य आदि की देखभाल तो करना ही है साथ ही प्राथमिक विद्यालयों में दाखिले की संख्या भी बढ़ाना है। उन्होंने बताया कि उन्हें यह नहीं पता है कि इन केंद्रों से दाखिले पर कोई असर पड़ा है या नहीं। उन्होंने वही चिर–परिचित जुमला दोहराया कि "गरीब लोग कहते हैं कि उनका दस साल का लड़का स्कूल जाने की बजाय अगर बढ़ईगीरी का काम सीख ले या कालीन बनाने लगे या मवेशियों को ही चराता रहे तो वह ज्यादा बेहतर होगा। स्कूलों में बच्चों को निःशुल्क दोपहर का भोजन देने के कार्यक्रम के फायदों के प्रति वे शंकालु थे। इसकी एक वजह तो यह थी कि यह कार्यक्रम मां-बाप की आर्थिक जरूरतों से मुखातिब नहीं है और दूसरी वजह यह कि इस कार्यक्रम की व्यवस्था को लेकर स्कूलों के अध्यापक इतने व्यस्त हो गए कि पढ़ाई की ही उपेक्षा होने लगी। जिन लोगों से मैंने बातचीत की थी उनकी ही तरह उन्होंने भी काम करने वाले बच्चों की शिक्षा

और उनके कल्याणकार्यों को बढ़ावा देने के कार्यक्रमों को विकसित करने की जरूरत पर बल दिया है। उनका कहना था कि "हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि बाल मजदूरी एक यथार्थ है क्योंकि बच्चे परिवार के साथ काम करके शिल्प सीखते हैं। भारत में बाल मजदूरी को लेकर हमें बहुत परेशानी नहीं होती। बाल मजदूरी को समाप्त करना न तो संभव है और न वांछनीय है। क्योंकि यह एक ऐसा तरीका है जिसमें बच्चों को शिल्पकारी का प्रशिक्षण मिलता है। हां, काम करने के दौरान बच्चे शिक्षा से जरूर वंचित हो जाते हैं इसलिए जरूरत इस बात की है कि कामगार बच्चों को शिक्षा प्राप्त करने की कोई व्यवस्था की जाए।"

लेकिन क्या यह आवश्यक अथवा वांछनीय है कि बच्चे आठ या दस वर्ष की उम्र से ही कारीगरी सीखना शुरू कर दें जबकि वे इस काम को 14 वर्ष की उम्र से भी शुरू कर सकते हैं?

इस पर उन्होंने जवाब दिया, "तब बहुत देर हो जाएगी। मिसाल के तौर पर आप आदिवासियों के बच्चों को देखें। उनके यहां शिल्पकारी घर से ही सीखने की एक परंपरा है। अगर उनको हम स्कूल में डाल दें तो वे उस कला को सीखने के लिए वापस अपने सांस्कृतिक परिवेश में नहीं लौटेंगे। स्कूल में हम जो नई संस्कृति उन्हें पढ़ा रहे हैं, उनसे वे कुछ भी हासिल नहीं कर सके हैं। इस पढ़ाई से उन्हें चपरासी की भी नौकरी नहीं मिल सकती। समस्या यह है कि स्कूल बच्चों को उनकी खुद की संस्कृति से बाहर खींच लाते हैं। इन लोगों की जीवन शैली बदल जाती है लेकिन यह बदलाव उनकी बेहतरी के लिए नहीं है। हमें चाहिए कि उन्हे गांव में ही शिल्पकारी का प्रशिक्षण लेने दें– ऐसी शिल्पकारी, जो जीवन के लिए उन्हें तैयार करती हो। बच्चे पारिवारिक पेशे में अप्रेंटिस की तरह काम करके शिल्पों का प्रशिक्षण लेते हैं। इस तरह की शिक्षा का मूल्यांकन अंकों से नहीं बल्कि इस बात से किया जाता है कि आप अपने परिवार की आय में कितनी वृद्धि कर रहे हैं। इसलिए इन कामों को हमें "काम" नहीं बल्कि प्रशिक्षण कहना चाहिए।

"अगर निम्न आय के इन लोगों को मौका मिलता तो ये अपने बच्चों को परिवार के अंदर शिल्प सिखाने की बजाय डिग्रियां लेने के लिए स्कूलों में भेजते। लेकिन यह एक गलती होती क्योंकि उस हालत में हमारे पास और भी ज्यादा शिक्षित बेरोजगार हो जाते। स्कूल तो बस बेरोजगारों की संख्या बढ़ा रहे हैं। घर में बच्चों को वह शिक्षा मिल रही है जो स्कूलों में नहीं मिलती। आदर्श प्रणाली वह होगी कि ऐसे स्कूल हों जो बच्चों को काम के लिए तैयार करें।"

अगर आप समझते हैं कि यही समाधान है तो क्यों नहीं आप और

आपके सहयोगी स्कूली व्यवस्था को बदलने की कोशिश करते हैं?

"हमें यह करना चाहिए लेकिन हम कर नहीं सकते क्योंकि निम्न आय वाले मां-बाप अपने बच्चों को इसलिए स्कूल भेजना चाहते हैं ताकि वे सफेदपोशों वाली नौकरियां कर सकें।"

टिप्पणियां

1. *तमिलनाडु एलिमेंट्री एजुकेशन एक्ट, 1920* के संशोधनों सहित (मद्रासः गवर्नमेंट आफ तमिलनाडु, 1973), अनुच्छेद–44

2. राज्य शिक्षा कानूनों की यह एक मान्य विशिष्टता है। अनिवार्य शिक्षा की स्थापना के लिए स्थानीय अधिकारियों को पहल का काम सौंपा गया है बशर्ते राज्य सरकार की स्वीकृति हो। तो भी राज्य के अनेक कानून राज्य सरकार को खुद पहल लेने की इजाजत तो देते ही हैं। जो भी हो मुझे ऐसा कोई समुदाय नहीं मिला जिसने अनिवार्य शिक्षा की स्थापना की हो।

3. सी.बी. भाटिया की पुस्तक *"इंडियनाइजेशन ऑफ आवर एजूकेशन"* (कलकत्ताः आल इंडिया फेडरेशन ऑफ एजुकेशन एसोसिएसंस, 1981), पृ. 14 पर उद्धृत।

4. शिव कुमार सैनी की पुस्तक *"डेवलपमेंट ऑफ एजुकेशन इन इंडिया"* (नई दिल्लीः कारमो, 1980), पृ. 72 पर उद्धृत।

5. ए.एस. सीताराम और उषा देवी, *"एजुकेशन इन रूरल एरियाजः कांस्ट्रेंट्स ऐंड प्रासपेक्ट"* (नई दिल्लीःआशीष पब्लिशिंग हाउस, 1985) पृ.3

6. वही पृ. 5

7. वही पृ. 25

8. एस. नयनतारा, *"एजुकेशन इन ए रूरल एनवायरनमेंट"* (नई दिल्लीः आशीष पब्लिशिंग हाउस, 1985), पृ. 58।

9. जे.पी. नायक, *"एलिमेंट्री एजुकेशन इन इंडियाः ए प्रामिस टू कीप"* (बंबईः एलायड पब्लिशर्स, 1975), पृ. 10

10. भाटिया, *"इंडियनाइजेशन ऑफ आवर एजुकेशन,"* पृ. 134

5

बाल श्रम और अनिवार्य शिक्षा नीतियां

1986 और 1987 में भारत सरकार ने कामगार बच्चों के लिए कुछ नयी नीतियां तैयार कीं जिनमें पहली बार श्रम और शिक्षा मंत्रालयों के अधिकारियों के उन विचारों की अभिव्यक्ति होती है जो उनके निजी विचार हैं। सरकार बाल श्रम पर प्रतिबंध लगाने नहीं जा रही है (कुछ अपवादों को छोड़कर) लेकिन वह यह जरूर कहेगी कि काम करने वाले बच्चों की हालत में सुधार हो। सरकार इस बात का भी प्रयास करेगी कि इन बच्चों को सबके लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा हेतु दबाव न डाला जाय बल्कि अल्पकालिक और अनौपचारिक शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की जाय जिसे वे स्वेच्छा से ग्रहण करें। इन नयी नीतियों को अर्द्धसरकारी बयानों तथा खास-खास कार्यक्रमों के लिए अनुदानों के रूप में अनेक अंतराष्ट्रीय एजेंसियों ने अपनी वैधता दे दी। इस अध्याय में हम सबसे पहले बाल श्रम कानूनों के प्रति सरकार के नये दृष्टिकोण की और फिर सरकार की नयी शिक्षा नीति की समीक्षा करेंगे।

बालश्रम नीति

बाल श्रम संबंधी नयी नीति की सरकारी अभिव्यक्ति है "बाल श्रम (निषेध और विनियमन) कानून" जिसे भारतीय संसद ने जनवरी 1987 में अपनी स्वीकृति दे दी। यह कानून कुछ व्यवसायों और प्रक्रियाओं में बच्चों के काम करने पर प्रतिबंध लगाता है तथा अन्य कार्यों में कार्य स्थितियों को संचालित करता है। निम्नांकित व्यवसायों में बच्चों के काम करने पर

प्रतिबंध हैः बीड़ी बनाना, कालीन बुनना, सीमेंट उत्पादन, कपड़े की छपाई, रंगाई और बुनाई, माचिस उद्योग, पटाखे और आतिशबाजी उद्योग, अबरक की कटाई और तुड़ाई, लाख (लाक्षा) उद्योग, साबुन उद्योग, चमड़ा उद्योग, ऊन की सफाई और भवन तथा अन्य निर्माण कार्य। नवगठित बाल श्रम तकनीकी सलाहकार समिति के सुझाव पर केन्द्र सरकार इस सूची में कुछ और क्षेत्रों को शामिल कर सकती है। यह प्रतिबंध केवल उन्हीं बच्चों पर लागू होता है जो 14 वर्ष से कम आयु के हैं। इससे पहले के कानूनों में आयु संबंधी जो विभिन्न सीमाएं निर्धारित थीं, उनका स्थान इस कानून ने ले लिया है (मसलन मर्चेंट शिपिंग और परिवहन के लिए 15 वर्ष तथा बागानों के लिए 12 वर्ष)।

इस कानून में उन कामगार बच्चों को सुरक्षा देने का भी प्रावधान है जो उल्लिखित खतरनाक व्यवसायों और प्रक्रियाओं में काम नहीं करते। इसमें सीमा निर्धारित की गयी है कि बच्चों से लगातार कितने घंटों तक काम लिया जा सकता है (3 घंटे के काम के बाद "कम से कम 1 घंटे का विश्राम ताकि वे आराम कर सकें"), रोजगार के दिनों की संख्या तय की गयी है "किसी प्रतिष्ठान में काम करने वाले प्रत्येक बच्चे को एक सप्ताह में पूरे एक दिन का अवकाश" और काम के समय पर प्रतिबंध लगाया है) "शाम के 7 बजे से सबेरे 8 बजे के दौरान किसी भी बच्चे को न तो काम करने की इजाजत की जायेगी और न उससे काम करने को कहा जायेगा")। केन्द्र और राज्य सरकारों को यह अनुमति दी गयी है कि वे काम के स्थान में सफाई रखने, कूड़ा और फालतू सामानों को उचित जगह फेंकने, हवा और रोशनी की सही व्यवस्था बनाये रखने, तापमान, गर्द, धुएं आदि को व्यवस्थित करने के लिए नियम बनायें। मालिकों से कहा गया है कि वे एक रजिस्टर रखें जिसमें उनके यहां काम करने वाले सभी बच्चों के नाम और उनकी जन्म तिथियां दर्ज हों। कानून के अंतर्गत किसी भी नागरिक को यह अधिकार है कि अगर उसे यह विश्वास है कि निषिद्ध व्यवसायों और प्रक्रियाओं में 14 साल से कम उम्र के बच्चों से काम लिया जा रहा है तो वह स्थानीय अदालतों में शिकायत दर्ज कर सकता है लेकिन साथ ही यह भी जरूरी है कि वह किसी सरकारी डाक्टर से लिया हुआ प्रमाण पत्र पेश करे जिसमें यह बताया गया हो कि काम कर रहे बच्चे 14 वर्ष से कम आयु के हैं।

इस कानून के आलोचकों का कहना है कि सरकार ने बाल श्रम को वैधानिक रूप दे दिया। दरअसल इस विधेयक ने ऐसा ही किया भी । नया कानून बच्चों के रोजगार के मामले में कोई आयुसीमा नहीं लागू करता। इसमें बस यही बताया गया है कि कुछ व्यवसायों और प्रक्रियाओं में बच्चों

के काम पर निषेध है। यहां तक कि इस प्रतिबंध को भी बड़ी सावधानीपूर्वक चारों तरफ से घेर दिया गया है। कानून कहता है कि "इस अनुच्छेद की कोई भी बात उस कारखाने पर लागू नहीं होगी जहां कोई भी प्रक्रिया मालिक द्वारा अपने परिवार के सदस्यों की मदद से चलाई जा रही हो।" इस प्रकार यह कानून कारखानों में माचिस बनाने के काम में बच्चों के लगे रहने पर तो रोक लगाता है लेकिन अगर यही कारखाना परिवार द्वारा चलाया जा रहा हो तो वहां रोक नहीं है।

यहां तक कि काम की स्थितियों से संबंधित नियमों को भी उसी आधार पर घेर दिया गया है जिसमें कहा गया है कि इनमें से कोई प्रतिबंध "उस प्रतिष्ठान पर लागू नहीं होंगे जहां किसी भी प्रक्रिया को चलाने वाला व्यक्ति यह काम अपने परिवार की मदद से कर रहा हो अथवा यह किसी स्कूल पर नहीं लागू होगा जो सरकार की सहायता से चल रहा हो अथवा जिसे सरकारी मान्यता मिली हुई हो।" बाद का यह जुमला सरकार द्वारा चलाये जा रहे उन प्रशिक्षण कार्यक्रमों को भी छूट दे देता है जहां बच्चों को कालीन बुनना सिखाया जा रहा है।

इस कानून में सरकार के भीतर और बाहर वर्षों से चली उस लम्बी बहस की परिणति दिखाई देती है जिसमें एक पक्ष तो बराबर यह तर्क देता रहा है कि सरकार को उन अनेक कानूनों को लागू करने के लिए कदम उठाने चाहिए जो बच्चों के रोजगार पर प्रतिबंध लगाते हैं और दूसरा पक्ष यह दलील देता रहा है कि "मौजूदा सामाजिक आर्थिक स्थितियों" को देखें तो इन कानूनों को लागू करना अयथार्थवादी है और इसकी बजाय सरकार को चाहिए कि काम की स्थितियों में सुधार करे। 1979 में यह बहस उस समय सार्वजनिक हो गयी जब भारत सरकार ने बाल श्रम पर एक समिति का गठन किया जिसके जिम्मे "बच्चों के रोजगार के फलस्वरूप उत्पन्न समस्याओं" की छानबीन करना और मौजूदा कानून की समीक्षा करना था। इस बहस को समझने के लिए हमें सबसे पहले ब्रिटिश सरकार और आजादी के बाद भारत सरकार द्वारा अपनाई गयी नीतियों की समीक्षा करनी चाहिए।

बाल श्रम कानूनः एक वैधानिक इतिहास

बच्चों के रोजगार पर प्रतिबंध अंग्रेजों ने 1881 के इंडियन फैक्ट्रीज ऐक्ट के जरिए शुरू किया था जिसमें न्यूनतम आयु 7 वर्ष रखी गयी थी। 1920 और 1930 के दशक में अंशतः अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के प्रभाव में आकर भारत ने बच्चों के संरक्षण के लिए अनेक कानून बनाये। 1922 में संशोधित फैक्ट्रीज ऐक्ट की आयु सीमा को बढ़ाकर 15 वर्ष कर दिया गया। 1923 के इंडियन माइंस ऐक्ट ने खदानों में काम करने वाले बच्चों की न्यूनतम आयु को

बढ़ाकर 13 वर्ष कर दिया। 1933 में नियुक्त श्रम संबंधी शाही आयोग ने मां बाप द्वारा चलाये जा रहे उस दस्तूर की जांच की जिसमें वे रुक्का लिखकर पैसे ले लेते थे और बदले में अपने बच्चों के श्रम को मालिकों के हवाले कर देते थे– इस प्रथा को बंधुआ मजदूरी कहा गया। यह प्रथा अमृतसर के कालीन बनाने वाले कारखानों और मद्रास के बीड़ी कारखानों में आम थी। यद्यपि भारत सरकार ने करारनामे की प्रथा को समाप्त कर दिया था जिसके अंतर्गत वयस्क लोग अपने खुद के श्रम को एक करार के जरिए गिरवी रख देते थे, लेकिन सरकार ने मां-बाप द्वारा बाल श्रम को गिरवी रखने पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाया।

बाद के बने कानूनों ने अर्थव्यवस्था के खास–खास क्षेत्रों में बच्चों के रोजगार को नियमित कर दिया और अलग–अलग मामलों में रोजगार के लिए न्यूनतम आयु की सीमा निर्धारित कर दी। बाल रोजगार कानून (1938) पहला ऐसा कानून था जो पूरी तरह बाल श्रम पर केंद्रित था। इसने उन व्यवसायों और प्रक्रियाओं की सूची बनायी जिनमें बच्चों को रोजगार नहीं दिया जा सकता और इस समूची सूची को 1987 के कानून में शामिल कर लिया गया। इसी प्रकार इस कानून ने परिवार द्वारा चलाए जा रहे कारखानों को छूट दे दी। 1948 के फैक्ट्रीज ऐक्ट ने कारखानों में काम करने के लिए न्यूनतम आयु 14 वर्ष निर्धारित की, उन कारखानों को कानून की परिधि में लिया जहां कम से कम दस व्यक्ति काम कर रहे हों और जहां बिजली की मदद से उत्पादन किया जा रहा हो तथा जिन कारखानों में बगैर बिजली के काम हो रहा हो वहां कम से कम बीस लोग कार्य करते हों। कानून में यह भी प्रावधान था कि 14 वर्ष से अधिक और 18 वर्ष से कम आयु के लड़के किसी डाक्टर से फिटनैस सर्टीफिकेट लें। जन्म संबंधी प्रमाण पत्र अथवा स्कूल में दाखिल संबंधी प्रमाण पत्र की कोई जरूरत नहीं थी। कानून में इस बात पर भी प्रतिबंध लगाया गया कि लगातार कितने घंटों तक काम किया जा सकता है, रात में काम नहीं किया जा सकता है और कम उम्र के लड़कों से मशीनें नहीं चलवायी जा सकतीं।

भारत की संविधान सभा में संविधान में खासतौर से बच्चों को संरक्षण दिए जाने के उपायों को शामिल किया गया। अनुच्छेद–24 में यह व्यवस्था दी गयी कि "14 वर्ष से कम आयु के किसी भी बच्चे को किसी कारखाने अथवा खदान में अथवा किसी खतरनाक व्यवसाय में नहीं लगाया जा सकता।" अनुच्छेद–39 में यह संकल्प किया गया कि राज्य अपनी नीतियों को यह सुनिश्चित करने के लिए निर्देशित करेगा कि "बच्चों का दुरुपयोग न किया जाए और किसी भी नागरिक को आर्थिक कारणों से मजबूर होकर ऐसा व्यवसाय न अपनाना पड़े जो उसकी उम्र अथवा उसकी क्षमता के

प्रतिकूल हो तथा "बच्चों को इस बात की सुविधाएं और अवसर प्रदान किये जायेंगे कि वे स्वस्थ ढंग से अपना विकास कर सकें और स्वतंत्रता तथा सम्मान की स्थितियों में फल-फूल सकें तथा बचपन और युवा अवस्था को शोषण तथा नैतिक एवं भौतिक अवरोधों के विरुद्ध संरक्षण दिया जाए।" अनुच्छेद 45 में कहा गया कि राज्य इस बात का प्रयास करेगा कि 1960 तक सभी बच्चों को तब तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा दी जाए जब तक उनकी उम्र 14 वर्ष न हो जाए।

इसके बाद भी अनेक कानून बने जिनमें बच्चों को संरक्षण दिया गया था: 1951 के बागान श्रम कानून में 12 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के काम करने पर प्रतिबंध लगाया गया। 1952 के खदान अधिनियम में 15 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के काम करने पर रोक लगायी गयी। 1954 के फैक्ट्रीज ऐक्ट में इस बात की व्यवस्था थी कि 17 वर्ष से कम उम्र के लड़के रात में काम न करें। इसी प्रकार 1966 के बीड़ी और सिगार मजदूर कानून में यह प्रावधान था कि 14 वर्ष से कम उम्र के बच्चे किसी ऐसे कारखाने में काम न करें जहां बीड़ी अथवा सिगार का उत्पादन होता हो। केंद्र सरकार द्वारा बनाए गये यह सारे कानून समूचे देश के लिए थे। राज्य सरकारों ने भी ऐसे कानून बनाए जिनमें 12 साल से 15 साल की उम्र के बच्चों के होटलों, रेस्तरांओ और दुकानों में काम करने के बारे में कुछ नियम निर्धारित किये गये थे।

संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा वर्ष 1979 को अंतर्राष्ट्रीय बाल वर्ष घोषित किया गया और इसके अनुरूप भारत सरकार ने मौजूदा कानूनों की समीक्षा के लिए "बाल श्रम समिति" का गठन किया। 16 सदस्यों की इस समिति में सांसद, बच्चों के मामलों से सम्बद्ध संस्थाओं के प्रतिनिधि और राज्य तथा केंद्रीय श्रम विभागों के अधिकारी शामिल थे। समिति की पहली बैठक में अपना उद्घाटन भाषण देते हुए श्रममंत्री ने कामगार बच्चों के लिए कुछ नई नीतियां बनाने का आह्वान किया। उन्होंने इस तथ्य को रेखांकित किया कि सरकार ने बाल श्रम पर प्रतिबंध लगाने वाले कानूनों को लागू नहीं किया।

> ऐसा नहीं है कि यह वांछनीय उद्देश्य नहीं है... लेकिन बाल मजदूरी पर तुरत कानूनी प्रतिबंध लगाने के प्रस्ताव के संदर्भ में हमें दो तरह की समस्याओं पर विचार करने की जरूरत है। इनमें से एक समस्या को हम आर्थिक समस्या कह सकते हैं जो गरीबी की समस्या से उपजी है। ध्यान देने वाली बात यह है कि बाल मजदूरी पर तुरत प्रतिबंध लगाने से गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन कर रहे बेहद गरीब परिवारों को होने वाली अतिरिक्त आय के कुछ रास्तों को हम बंद तो नहीं कर रहे हैं..... दूसरी समस्या को आप प्रशासनिक समस्या कह सकते हैं क्योंकि आप अपने विवेक के अनुसार कानून तो बना लें लेकिन इसे लागू भी तो करना है। ऐसे कानून से क्या लाभ जो कानून की पुस्तिकाओं में कैद होकर रह जाए? सामाजिक सुधार का स्वरूप व्यावहारिक होना चाहिए.... इन सारे कानूनों के बावजूद आपने देखा होगा कि कुछ क्षेत्रों में, खासतौर से दूर-दराज के इलाकों में, जहां प्रशासन का कोई प्रतिनिधि बडी कठिनाई से पहुंच पता हो, जहां निहित स्वार्थों के बीच आपसी गठजोड़ हो, कानून को तब तक लागू करना बहुत कठिन हो जाता है जब तक ऐसी स्थितियां न हों कि लोग खुद कानून में बताए गये प्रतिबंधों को स्वीकार करने के लिए तैयार न हों। इसलिए अगर हम यह कहते हैं कि कल से देशभर में बाल मजदूरी समाप्त कर दी जानी चाहिए और इसे दंडनीय बना देना चाहिए तो इसे लागू करना बेहद कठिन हो जायेगा।[1]

बाल श्रम पर बनी समिति ने इस दलील को सहानुभूतिपूर्वक सुना। असाधारण रूप से साफगोई से भरे एक बयान में समिति ने इस रिपोर्ट में यह स्वीकार किया कि अधिकांश कानून लागू नहीं किये जा सके हैं :

> मौके का निरीक्षण करने और बातचीत करने के दौरान कमेटी को स्पष्ट रूप से यह आभास मिल गया कि विभिन्न कानूनों को लागू करने के मामले में मौजूदा प्रशासनिक ढांचे में अनेक खामियां हैं। इस काम के लिए नियुक्त निरीक्षकों का कार्य क्षेत्र इतना व्यापक है कि वे अपने अधीन आने वाली गतिविधियों पर नियमित रूप से निगरानी नहीं रख सकते। अनेक राज्यों में अकेले एक इंसपेक्टर से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अनेक जिलों का दौरा करे। इसके अलावा श्रम कानूनों से संबंधित तरह तरह की अन्य जिम्मेदारियों का भी बोझ उस पर होता था। इस स्थिति के नतीजे बहुत साफ थे। बाल श्रम से संबंधित मौजूदा कानूनों के उल्लंघन के आरोप में देश के अधिकांश हिस्सों में व्यवहारतः एक भी व्यक्ति को दंडित नहीं किया गया। एक राज्य में बहुत गर्व के साथ यह बताया गया कि उनके द्वारा इस तरह के मामले में मुकदमा चलाने की पहली कार्रवाई अंतर्राष्ट्रीय बाल वर्ष में हुई। खुद कमेटी ने मौके का निरीक्षण करने के दौरान देखा कि कानूनी प्रावधानों की पूरी तरह अवहेलना करते हुए कुछ कारखानों में मासूम उम्र के बच्चे काम पर लगाये गये हैं। श्रम विभाग के अधिकारियों सहित विभिन्न हितों से सम्बद्ध लोगों से बातचीत के दौरान यह देखा गया कि कुछ स्वाभाविक कारकों के कारण समूची स्थिति की अनदेखी की जा रही थी। दरअसल वहां एक अनैतिक वातावरण मौजूद था। लेबर इंस्पेक्टर को जब भी किसी उल्लंघन का मामला दर्ज करने का अवसर मिला, उसे उचित सबूत इकट्ठा करने में बहुत कठिनाई हुई जिससे वह सही ढंग से अभियोग तैयार कर सके। कानून के विरुद्ध बच्चे को रोजगार में लगाये जाने वाले तथ्य से मालिक और बच्चे के मां-बाप दोनों ही इन्कार करते थे। मौजूदा स्थितियों में सामाजिक मौन स्वीकृति ने भी अन्य निष्पक्ष गवाहों का समर्थन प्राप्त करना कठिन बना दिया था। ऐसे रोजगार में लगे किसी बच्चे के प्रति लोगों के बीच आमतौर पर सहानुभूति दिखाई देती थी। यह भी दलील दी गयी कि अगर बच्चे को इस तरह काम पर न लगाया गया तो सड़कों पर आवारा की तरह घूमता रहेगा और व्यापक तौर पर समुदाय के लिए और भी ज्यादा खतरनाक साबित होगा। काम पर लगाकर उसे आवारा बनने से रोका जा रहा है। कुछ ने यह भी दलील दी कि चूंकि इन बच्चों के मां-बाप भी इस व्यवस्था में लगे हुए हैं, बच्चे के लिए यह संभव नहीं है कि उसे अकेले घर में छोड़ दिया जाय और इसीलिए मां-बाप यह प्रयास करते हैं कि उनका बच्चा भी किसी न किसी प्रतिष्ठान में काम करे। कुछ ने तो यह भी राय व्यक्त की कि जिस परिवेश में बच्चा काम करता है, निश्चय ही वह परिवेश उस

परिवेश से अच्छा है जहां वह रहता था और इसलिए इस परिवेश से हटने के लिए कहकर हम उसकी कोई मदद नहीं कर रहे।[2]

तो भी इस समिति ने सरकार से अनुरोध किया कि वह कानून लागू करने वाली अपनी व्यवस्था को मजबूत बनाये और स्वैच्छिक संगठनों तथा ट्रेड यूनियनों का इस्तेमाल करे। समिति ने प्रस्ताव रखा कि सरकार इस्तगासों की संख्या और दंड की राशि में वृद्धि करे– एक वर्ष के कैद की सजा और 2000 रुपये तक जुर्माना। इसमें यह भी सुझाव दिया गया कि कामगार बच्चों के वास्ते सामूहिक सौदेबाजी को ध्यान में रखते हुए एक संस्थागत ढांचा खड़ा किया जाय हालांकि समिति ने इसका कोई प्रारूप नहीं दिया। समिति ने भी देखा और गौर किया कि अगर बाल श्रम समाप्त कर दिया जाय तो इससे 15 से 59 आयुवर्ग के लोगों को रोजगार का लाभ प्राप्त होगा लेकिन इस तरह के दृष्टिकोण को बहुत "क्रान्तिकारी और संभवतया सरसरी तौर पर अव्यावहारिक" माना। इसकी बजाय समिति ने वयस्कों के लिए न्यूनतम वेतन कानूनों को लागू करने पर जोर दिया। ("अगर मां-बाप की आय में वृद्धि होती है तो अपने बच्चों को काम पर लगाने की उनकी प्रवृत्ति में कमी आयेगी")। समिति ने बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा का समर्थन किया लेकिन वही चिरपरिचित तर्क दोहराया कि "मौजूदा शिक्षा व्यवस्था की उपयोगिता के बारे में गंभीर शंकाएं व्यक्त की गयी हैं," जो "इन बच्चों को भावी व्यवसायों के लिए तैयार नहीं करती। दरअसल यह बच्चों के अंदर "सफेदपोश" नौकरियों के लिए उम्मीदें जगा देती हैं..... शिक्षा के पाठ्यक्रम को बच्चे के उस परिवेश को ध्यान में रखते हुए, जिसमें वह रहता है, इस तरह तैयार किया जाना चाहिए जिससे उसके अंदर अधिक से अधिक कौशल और निपुणता पैदा हो सके।"[3]

समिति ने काम करने वाले बच्चों के लिए अनौपचारिक शिक्षा को मजबूत करने का आवाहन किया। "मालिकों से अनुरोध किया जाना चाहिए कि वे अपने संस्थान में मजदूरों के कल्याण संबंधी उपायों में से शिक्षा को शामिल करना एक महत्वपूर्ण उपाय मानें। समिति की निगाह में इस काम के लिए कोष जुटाने के मकसद से उद्योगों पर उपकर लगाना उचित होगा अथवा विकल्प रूप में उन मालिकों को टैक्सों आदि में रियायत दी जाय जो शिक्षा योजनाएं लागू कर रहे हों।"[4]

समिति के सदस्यों के बीच इस बात पर बहस चली कि क्या रोजगार के लिए समान न्यूनतम आयु सीमा निर्धारित की जानी चाहिए और यदि ऐसा है तो क्या इसे 15 वर्ष या इससे कम किया जाना चाहिए। समिति के एक सदस्य, जो लघु उद्योगों के प्रभारी थे और उपायुक्त थे, ने कहा कि मौजूदा कानूनों में उल्लिखित व्यवसायों को छोड़कर और किसी भी रोजगार के

लिए न्यूनतम आयु सीमा नहीं निर्धारित की गयी है। इस प्रकार किसी भी उम्र के बच्चे घरेलू कामों में मदद पहुंचाने के लिए काम पर लगाये जा सकते हैं जबकि अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में (बागानों, दुकानों और प्रतिष्ठानों) आयु सीमा 12 वर्ष निर्धारित की गयी है। आर्थिक स्थितियों को देखते हुए तथा इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि काफी बड़ी संख्या में बच्चे स्कूल नहीं जाते हैं क्योंकि "स्कूलों में आज जिस तरह की शिक्षा दी जा रही है वह बच्चों के मां-बाप के–लिए खासतौर से ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले मां-बाप के लिए, जो बच्चों को एक आर्थिक पूंजी समझते हैं बेहद अनाकर्षक हैं," उन्होंने सुझाव दिया कि सभी व्यवसायों में रोजगार के लिए न्यूनतम आयु को कम करके 12 वर्ष कर दिया जाय।[5] समिति के अन्य सदस्यों ने यह सवाल किया कि चुने गये खतरनाक व्यवसायों को छोड़कर क्या अन्य व्यवसायों के लिए आयु सीमा निर्धारित की जानी चाहिए? तो भी समिति ने निष्कर्ष रूप में कहा कि किसी भी रोजगार के लिए न्यूनतम आयु 15 वर्ष होनी चाहिए, मौजूदा कानूनों को मजबूत बनाना चाहिए और बच्चों के रोजगार से संबंधित सभी कानूनों को मंत्रालय को लागू करना चाहिए।

सरकार ने इस सिफारिश को नामंजूर कर दिया कि रोजगार में प्रवेश के लिए न्यूनतम आयु 15 वर्ष होनी चाहिए लेकिन उन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया जिनका उद्देश्य काम करने वाले बच्चों की स्थितियों में सुधार लाना था: उन क्षेत्रों में स्वास्थ्य योजनाएं चलाना जहां बाल श्रमिकों की संख्या ज्यादा है, काम करने वाले बच्चों को मालिकों द्वारा पूरक पोषण प्रदान किया जाना और साथ ही सरकार से मालिक को टैक्स छूट का लाभ मिलना तथा काम करने वाले बच्चों के लिए अनौपचारिक शिक्षा की व्यवस्था करना है।[6]

1983 में योजना मंत्री एस.बी. चव्हाण ने बाल श्रम पर प्रतिबंध लगाने के बारे में सरकार की स्थिति का बयान करते हुए कहा कि "मौजूदा सामाजिक आर्थिक दबावों और आवश्यकताओं के कारण यह संभव नहीं है।"[7] सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985–1990) ने, जिसे राष्ट्रीय विकास परिषद की स्वीकृति मिली हुई थी, कहा कि चूंकि बाल श्रम को समाप्त करना संभव नहीं है इसलिए सरकार को चाहिए कि वह कामगार बच्चों की स्थितियों को और भी ज्यादा स्वीकार्य बनाये। बाल श्रमिकों को स्वास्थ्य सेवा, पोषक आहार और शिक्षा प्रदान करने में स्वैच्छिक संस्थाओं की अपेक्षाकृत बड़ी भूमिका का योजना में प्रस्ताव था। इसमें कहा गया था कि बाल श्रम की समाप्ति केवल तभी संभव हो सकती है जब उन परिवारों की स्थितियों में, जिनके बच्चे काम करने के लिए मजबूर होते हैं, उल्लेखनीय सुधार किया जाय।

श्रम मंत्रालय ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट (1983–84) में कहा कि सरकार

ने बाल श्रम को एक "कटु यथार्थ" के रूप में स्वीकार कर लिया है और आर्थिक विकास की मौजूदा अवस्थामें बच्चों को काम करने से रोकना न तो "संभव है और न उचित"।[8]

नवंबर 1985 ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं द्वारा स्थापित बंगलोर स्थित एक संगठन "कंसर्न्ड फार वर्किंग चिल्ड्रेन" (सी डब्ल्यू सी) ने बंगलोर में केंद्र सरकार के शिक्षा विभाग के तत्वावधान में एक राष्ट्रीय सेमीनार का आयोजन किया। इस सेमीनार की अंतिम रिपोर्ट में "बाल श्रमिक", जिसे नियमों की परिधि में रखना चाहिए और "बाल श्रम का शोषण" जिस पर प्रतिबंध लगाना चाहिए, भेद किया गया था। रिपोर्ट में कहा गया था कि सरकार को काम करने वाले बच्चों को संरक्षण देना चाहिए और इन बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।[9] सी. डब्ल्यू सी ने बाल मजदूरी पर विधेयक का एक मसौदा तैयार किया जो उस कानून के लिए एक मॉडल बना जिसे सरकार ने आगे चलकर संसद में पेश किया। समिति के प्रस्ताव को काफी प्रचारित किया गया था और इसकी शुरुआत उसी पुराने चिरपरिचित प्रस्थान बिंदु से हुई थी जिसमें कहा गया था कि "यह अब एक सर्वमान्य तथ्य है कि बाल श्रमिकों की संख्या में वृद्धि बुनियादी तौर पर विकास की समस्या है... भारत जैसे विकासशील देशों में वे परिवार, जिनकी कोई आय नहीं है अथवा जिनकी बहुत मामूली आय है, बच्चों को इस लायक होते ही कि वे घर से बाहर जा सकें, काम के लिए भेज देते हैं– प्रायः 4–5 वर्ष के बच्चों को भी।[10] सी. डब्ल्यू. सी. के मसौदे में इस बात की सिफारिश की गयी थी कि खतरनाक उद्योगों को छोड़कर, जहां आयु सीमा 15 वर्ष निर्धारित की गयी है, बाल श्रमिक के लिए और किसी व्यवसाय में आयु सीमा का निर्धारण न किया जाए। उन्होंने सिफारिश की कि बच्चों के लिए वेतन का निर्धारण एक सरकारी बोर्ड करे, बाल श्रमिकों के रोजगार की शर्तों को लिखित रूप में तैयार किया जाए और उसे इनके मां-बाप तथा सरकार के निरीक्षकों को भेजा जाए, मालिकों से धन लेकर एक बाल श्रमिक विकास कोष तैयार किया जाए, बाल श्रमिकों के लिए सांध्यकालीन और सप्ताहांत में चलने वाले स्कूलों की स्थापना की जाए तथा बाल मजदूरों की यूनियनें बनाई जाएं।

बंगलोर के सेमिनार की रिपोर्ट में निष्कर्ष रूप में कहा गया था कि बाल श्रम और शिक्षा के सवाल को "सत्ता के ढांचे तथा मौजूदा सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में देखा जाए। यह अल्प विकास का एक अंश और उसी का एक उत्पाद है और यह पारिवारिक निर्धनता तथा निम्न उत्पादकता से उपजा हुआ है। इसका ठोस समाधान दीर्घकालिक आर्थिक विकास से ही संभव है। ऐसा करके ही न तो मां-बाप अपने बच्चों को अपनी निम्न आय में

वृद्धि के लिए मजदूरी करने को मजबूर करेंगे और न मालिक इस तलाश में रहेंगे कि कम से कम पैसे देकर काम करने वाले मिल जाएं।[11]

सेमिनार में भाग लेने वालों ने शिक्षा व्यवस्था को पूरी तरह अप्रासंगिक बताया, स्कूल के वार्षिक सत्रों को और समय को अनुपयुक्त कहा ("स्कूल में समूचे दिन का कार्यक्रम प्रत्यक्षतः काम करने वाले बच्चों को अलग रखेगा)", और अनौपचारिक शिक्षा के प्रस्तावों का समर्थन किया। ("स्पष्टतः काम करने वाले बच्चों की शैक्षणिक जरूरतों को अनौपचारिक शिक्षा के जरिए सबसे अच्छे तरीके से पूरा किया जा सकता है")। रिपोर्ट में कहा गया कि सबके लिए शिक्षा के मसले से निपटना कृषि संबंधों, ग्रामीण ऋणधारिता, बंधुआ श्रम और न्यूनतम मजदूरी के भुगतान जैसे मुद्दों पर निर्भर करता है। सेमिनार में आमतौर पर इस बात पर ही जोर दिया गया कि गरीबी का उन्मूलन बाल मजदूरी को समाप्त करने की पूर्व शर्त है।

"कंसर्नड् फार वर्किंग चिल्ड्रेन" द्वारा तैयार किए गए बिल में और बाद में इसके संशोधित प्रारूप में सरकार से जो प्रस्ताव किया गया था, उसका कुछ पत्रकारों और कार्यकर्ताओं ने काफी विरोध किया। डा. नीरा बूरा ने, जो एक समाजशास्त्री हैं और जिन्होंने बाल श्रमिकों की स्थिति पर व्यापक अनुसंधान किया है, प्रस्तावित नई नीति के विरुद्ध कई लेख लिखे जिनमें सरकार पर तीखा प्रहार किया गया था।[12] उन्होंने बाल श्रम संबंधी विधेयक के प्रारूप में निम्नांकित खामियां देखीं:

1. खतरनाक व्यवसायों की सूची लगभग पूरी तरह 1938 के बाल रोजगार कानून से ली गयी है और इसमें नए खतरनाक व्यवसायों को शामिल नहीं किया गया है। इसके अलावा यह भी स्पष्ट नहीं है कि खतरनाक उद्योगों की परिभाषा के लिए क्या मानदंड तैयार किया गया है। मिसाल के तौर पर झल्ली उठाने वाले काम को खतरनाक नहीं बताया गया है। यद्यपि हजारों बच्चे जो लोहा, शीशा, कागज अथवा कपड़ों के टुकड़े उठाते रहते हैं, प्रायः खाने वाली चीजें उठाकर खा लेते हैं और इनमें से कई टिटनेस के तथा चर्म रोगों के शिकार हो जाते हैं।
2. अगर कोई कारखाना परिवार के अंदर चल रहा है तो उसमें खतरनाक काम को छूट दे दी गयी है यद्यपि बीड़ी निर्माण तथा माचिस निर्माण जैसे अनेक उद्योगों में देखा गया है कि इसके मालिक एक अलग ही ढंग से काम करते हैं–वे घरों के अंदर और छोटे छोटे दुकानों में एकदम असंतोषजनक कार्य स्थितियों में लोगों से काम कराते हैं। पारिवारिक श्रम के बहाने मालिकों को बच्चों से काम कराने के प्रतिबंधों से राहत मिल जाती है। जो बच्चे इन छोटे–छोटे कारखानों में काम करते हैं उन्हें किसी भी तरह की सुरक्षा नहीं प्रदान की गयी है।
3. संवैधानिक प्रावधानों के बावजूद खतरनाक व्यवसायों में बच्चों की मजदूरी से संबंधित मौजूदा कानूनों को लागू नहीं किया गया है। क्या आगे यह विश्वास किया जा सकता है कि सरकार नए कानूनों को भी लागू करेगी?
4. उम्र की परवाह किए बगैर तथाकथित गैर खतरनाक व्यवसायों में बाल मजदूरों को वैधानिक रूप दिया जाना संविधान के अनुच्छेद 24, 39, और 45 का उल्लंघन है

जिसमें बाल मजदूरी पर प्रतिबंध लगाया गया है और अनिवार्य शिक्षा की बात कही गयी है।

डा. बुरा ने सरकार के प्रस्तावित राष्ट्रीय बाल श्रम कार्यक्रम की भी आलोचना की। प्रस्तावित कार्यक्रम में काम करने वाले बच्चों को दोपहर का भोजन निःशुल्क देने की बात कही गयी है। डा. बुरा का कहना है कि इससे स्कूल में हाजिरी को बढ़ावा देने के लिए बच्चों को दोपहर का निःशुल्क भोजन देने की सरकार के मौजूदा कार्यक्रम का अवमूल्यन हो जाता है। इसी प्रकार माचिस तथा आतिशबाजी उद्योगों में चिकित्सा एवं अन्य कल्याण सेवाएं प्रदान करने के प्रावधान का अर्थ यह हुआ कि सरकार इन बच्चों को खतरनाक उद्योगों में काम जारी रखने के लिए प्रेरित कर रही है। (बाद में इस प्रावधान को समाप्त कर दिया गया।)

नई दिल्ली में इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट द्वारा बाल श्रम पर आयोजित एक सेमिनार में इंस्टीट्यूट के निदेशक डा. वाल्टर फर्नाडीस ने सरकार पर प्रहार करते हुए कहा कि प्रस्तावित विधेयक माचिस उद्योग, कालीन तथा बीड़ी उद्योग जैसे खतरनाक व्यवसायों में मौजूदा बाल श्रम कानूनों को लागू करने के सरकार के निर्णय को वैधता प्रदान करेगा। यह सेमिनार प्रस्तावित विधेयक का विरोध करने के लिए बुलाया गया था। डा. फर्नाडीस ने कहा कि सरकार को चाहिए कि वह इन उद्योगों से कारगर ढंग से निबटकर बाल मजदूरी को समाप्त करने के लिए ग्रामीण कर्ज समाप्त कानून को लागू न करने की दिशा में बढ़े। उन्होंने सरकार पर आरोप लगाया कि उसके अंदर मौजूदा बाल श्रम कानूनों को लागू करने की इच्छाशक्ति का अभाव है क्योंकि राजनीतिज्ञों को उन लोगों से आर्थिक मदद मिल रही है जो बाल मजदूरों को अपने यहां रोजगार में लगाए हुए हैं।

सम्मेलन की समापन रिपोर्ट में सरकार से अनुरोध किया गया कि वह मौजूदा बाल श्रम कानूनों को लागू करे और 14 वर्ष की उम्र तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के संवैधानिक निर्देशों पर अमल करे। "अगर सबको निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा देने के संवैधानिक निर्देशों का पालन किया जाए तो बच्चे अपने आप ही पूरे समय के काम से मुक्ति पा जाएंगे।"[13] रिपोर्ट में कहा गया है कि प्राथमिक शिक्षा के व्यय में आई कमी से पता चलता है कि बाल मजदूरी को समाप्त करने के प्रति सरकार चिंतित नहीं है।

डा. बुरा ने जिस दूसरे मसले की चर्चा की उसका संबंध "निहित स्वार्थों" की भूमिका से है जो 1938 के बाल मजदूरी कानून अथवा संविधान द्वारा प्रदत्त बच्चों के संरक्षण को लागू होने में बाधा पहुंचा रही है।

शहर की मध्यवर्गीय गृहिणी से लेकर गांव के जमींदार तक, मां-बाप से लेकर असंगठित क्षेत्र के मालिकों तक सभी बाल मजदूरी को बनाए रखना चाहते हैं। आखिरकार अगर आप कम पैसे देकर ज्यादा काम पा लेते हैं तो उसमें नुकसान ही क्या है। इस प्रक्रिया में सबसे ज्यादा चोट जिसे पहुंचती है वह समाज का बच्चा है जिसकी कहीं गिनती नहीं है। सामाजिक सरोकारों से जुड़े लोग अपनी अंतरात्मा को तसल्ली देने के लिए यह बहाना ढूंढते हैं कि बच्चों को रोजगार देकर वे उन्हें भुखमरी से बचा रहे हैं और इसे वे एक सामाजिक सेवा मानते हैं। काम के घंटों को नियमित करने, काम की बेहतर स्थितियां तैयार करने, स्वास्थ्य सुविधाएं प्रदान करने जैसे मामलों पर सी. डब्ल्यू. सी. चाहे कुछ भी कहे, यह एक असंभव काम है। हमारे सामने देशभर में हजारों लाखों बच्चे हैं—यह किसी शहरी गंदी बस्ती में कुछ बच्चों का सवाल नहीं है... यह सोचना पूरी तरह अयथार्थवादी है कि इस विधेयक से बच्चों को फायदा होगा। इससे बस मालिकों और मां-बाप को इस बात की और खुली छूट मिल जाएगी कि वे राज्य की सहमति के साथ अब बच्चों का शोषण कर सकें।

डा. बुरा ने निष्कर्ष रूप में कहा कि बाल श्रम को विनियमित करने के लिए इसे वैधानिक बनाए जाने की बात एक झूठा वायदा है।[14]

फिर भी जहां तक सरकार की बात है, सम्बद्ध मंत्रालयों मे इस नई पहल के लिए व्यापक समर्थन देखने को मिला। हथकरघा और हस्तशिल्प निर्यात निगम के महाप्रबंधक ने कहा कि कालीन उद्योग में बाल मजदूरी पर प्रतिबंध लगाना निर्यात के लिए आत्मघाती होगा। यह निगम एक सरकारी संगठन है जिसके अंतर्गत बच्चों के लिए, जिनमें से कई 14 वर्ष से कम आयु के हैं, दो सौ प्रशिक्षण केंद्र चलाए जाते हैं। केंद्रीय श्रममंत्री पी.ए. संगमा ने कहा कि बाल मजदूरी पर प्रतिबंध लगाने से उन लोगों के सामने कठिनाइयां पैदा हो जाएंगी, जो बच्चों की आय पर निर्भर करते हैं और इसे लागू करना असंभव हो जाएगा। इसकी बजाय सरकार यह चाहेगी कि काम की स्थितियों को कम से कम कष्टप्रद बनाया जाए। मंत्री महोदय ने शिवाकासी के मालिकों का आह्वान किया कि वे सरकार की 14 करोड़ रुपये के लागत वाली राष्ट्रीय बाल श्रम कल्याण परियोजना का समर्थन करें। उन्होंने कहा कि "मैं उद्योगपतियों की अंतर्आत्मा तक अपनी आवाज पहुंचाना चाहता हूं कि वे इस समस्या को मानवीय दृष्टिकोण से देखें।" उन्होंने शिवाकासी के माचिस उद्योग के उन प्रबंधकों की प्रशंसा की जो इस योजना को अपना समर्थन दे रहे थे और कहा कि, "हम यह महसूस करते हैं कि बाल मजदूरी का अस्तित्व लोगों की आर्थिक जरूरतों के कारण है और इसलिए है क्योंकि एक परिवार को किसी से किसी के लिए धन कमाना पड़ता है।"[15]

भारत और अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन

गैर खतरनाक उद्योगों में बाल श्रम को वैधानिक रूप देकर नए विधेयक ने बाल श्रम पर अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के समझौते का उल्लंघन किया है। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अधिकारियों ने अन्य अंतर्राष्ट्रीय संगठनों

के अधिकारियों के साथ बाल श्रम को प्रतिबंधित करने की बजाय इसे विनियमित करने की भारत सरकार की नई रणनीति को अपना समर्थन दिया है। नवंबर 1985 में संयुक्त राष्ट्र ने "दुनिया के सभी हिस्सों में बाल श्रम के शोषण को समाप्त करने के तरीकों" पर जेनेवा में एक सेमीनार का आयोजन किया।[16] इस सेमीनार का आयोजन अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के सहयोग से संयुक्त राष्ट्र महासचिव ने किया था और इसे मानव अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र आयोग की पहल पर बुलाया गया था। इसमें 29 देशों ने भाग लिया था और आई.एल.ओ., यूनेस्को, यूनीसेफ और विश्व स्वास्थ्य संगठन सहित बच्चों से सरोकार रखने वाले महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रतिनिधियों ने भी इसमें हिस्सा लिया था।

इस सेमीनार ने बाल श्रम तथा बाल श्रम के शोषण के बीच भेद के भारतीय दृष्टिकोण पर अपनी सहमति जताई। वक्ताओं ने कहा कि "अनेक विकासशील देशों में बाल मजदूरी से बचा नहीं जा सकता, खासतौर से परिवार के अंदर काम करने वाले बाल श्रमिक से–ज्यादातर ग्रामीण क्षेत्रों में जहां वे परिवार की आय में वृद्धि करते हैं। इस तरह के काम को शोषण नहीं कहा जा सकता..... यह भी देखा गया कि बाल श्रम के कुछ रूपों में सकारात्मक तत्व भी मौजूद हैं। कुछ खास संदर्भों में बच्चे जो काम करते हैं वह उनके प्रशिक्षण की प्रक्रिया है और उससे उन्हें वयस्क जीवन के लिए तैयार होने का मौका मिलता है तथा यह शोषण का मामला नहीं है।"[17]

सेमीनार में बहस का अच्छा खासा हिस्सा इस समस्या के इर्द गिर्द रहा कि बाल श्रम और बाल श्रम के शोषण के बीच कैसे भेद किया जाय। इसके लिए बच्चे की उम्र, काम की प्रकृति, क्या बच्चे अथवा बच्चे के परिवार के जिंदा रहने के लिए काम करना जरूरी था, बच्चा जो काम कर रहा है वहां सुरक्षा और स्वास्थ्य की स्थितियां, काम के घंटे, वेतन में भेदभाव जैसे मुद्दों पर विचार किया गया।

मानव अधिकारों के सहायक महासचिव कुर्त हर्नडेल ने चार मुद्दे उठाये:

1. क्या बाल श्रम की महज मौजूदगी ही शोषण है अथवा बच्चों के रोजगार में किसी खास शोषणकारी तत्व का संदर्भ है। उन्होंने पूछा कि 12 वर्ष से कम आयु के सभी बच्चों के रोजगार को शोषणकारी कहा जा सकता है?
2. "बाल" से आशय क्या है? उन्होंने कहा कि व्यवहार में तीन श्रेणियों का इस्तेमाल किया जाता है: 12 साल से कम उम्र के बच्चे, 12 और 15 वर्ष के बीच के उम्र की बच्चे और 15 तथा 18 वर्ष की उम्र के लोग।
3. हम किस तरह खतरनाक, नुकसानदेह और नैतिक रूप से अन्यायपूर्ण (मसलन बाल वेश्यावृत्ति) तथा बाल श्रम के स्वीकार्य रूपों में भेद करेंगे?
4. शोषणकारी प्रथाओं की "समाप्ति" में किन तत्वों का हाथ होगा? उन्होंने बताया कि 12 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के रोजगार पर प्रतिबंध और सभी खतरनाक तथा असुरक्षित क्रियाकलापों में बाल श्रम पर रोक लगाना ही वह न्यूनतम तरीका है जिसे अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने सुझाया है।

सेमीनार ने सिफारिश की कि निम्नांकित मामलों में बच्चों के रोजगार पर पूरी तरह प्रतिबंध लगाने को ध्यान में रखते हुए राज्यों को चाहिए कि वे बाल श्रम से संबंधित अपने कानूनों की समीक्षा करें: संबद्ध देश में प्राथमिक स्कूली शिक्षा पूरी करने की असामान्य आयु से पूर्व रोजगार, बच्चों का यौन शोषण, रात की पारी में काम, खतरनाक अथवा अस्वास्थ्यकर स्थितियों में काम, गैरकानूनी नशीली दवाओं तथा इन्हें एक जगह से दूसरी जगह ले जाने से संबंधित काम, ऐसे काम जो अमर्यादित हों अथवा जिसमें क्रूरता का व्यवहार किया गया हो।" अन्य सिफारिशों का संबंध कामगार बच्चों की स्थितियों में सुधार से संबंधित था। इनके अंतर्गत निम्न काम आते थे: "आय के समान वितरण के लक्ष्य को ध्यान में रखकर बनाये गये विकास कार्यक्रम शुरू किये जायं, रोजगार के अवसर पैदा किये जायं, छोटे–छोटे व्यवसाय शुरू किये जायं तथा ग्रामीण स्तर पर सुधार कार्य चलाये जायं, जहां भी संभव हो प्राथमिक स्कूल की फीस समाप्त की जाय, स्कूलों के टाइमटेबुल इतने लचीले हों कि काम करने वाला बच्चा भी शिक्षा प्राप्त कर सके।" स्कूली बच्चों और कामगार बच्चों के लिए चिकित्सा सेवाओं में सुधार किया जाय।"[18] अनिवार्य शिक्षा शुरू करने का कोई उल्लेख नहीं हुआ।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन अपने स्थापना–काल से ही बच्चों के रोजगार पर पाबंदी लगाने से संबंधित कानून का हिमायती रहा है। आई. एल.ओ. ने 1919 में अपना पहला 'मिनिमम एज कन्वेंशन' स्वीकार किया जिसमें उद्योगो में रोजगार के लिए न्यूनतम आयु 14 वर्ष निर्धारित की गयी। इसके बाद आई.एल. ओ. ने उन समझौतों को स्वीकृति दी जिनमें खास–खास क्षेत्रों और व्यवसायों के लिए बच्चों की आयु और काम की स्थिति सुनिश्चित की गयी थी। अंतर्राष्ट्रीय बाल वर्ष यानी 1979 में जारी एक घोषणा में बाल मजदूरी को समाप्त करने की आई.एल.ओ. की प्रतिबद्धता पर फिर जोर दिया गया लेकिन इसमें यह भी एलान किया गया कि जब तक यह काम पूरा नहीं हो जाता, आई.एल.ओ. कामगार बच्चों की स्थितियों में सुधार के लिए प्रयास करता रहेगा। 1983 में आई.एल.ओ. के महानिदेशक फ्रांसिस ब्लैंकार्ड की

वार्षिक रिपोर्ट पूरी तरह बाल श्रम के मुद्दे को समर्पित थी। उन्होंने बाल श्रम पर आई.एल.ओ. के रुख को दुहराया और कहा कि "स्कूलों में भर्ती की दरों तथा बाल श्रम के परिमाण में घनिष्ठ एकरूपता है" जिसने न्यूनतम आयु संबंधी आई.एल.ओ. 1973 की उस सिफारिश को रेखांकित किया जिसमें कहा गया था "स्कूलों में पूरे समय की उपस्थिति अथवा स्वीकृत व्यावसायिक प्रवृत्ति में भागीदारी अथवा प्रशिक्षण कार्यक्रमों में भागीदारी को कारगर ढंग से कम से कम उस उम्र तक सुनिश्चित करना चाहिए जो रोजगार में प्रवेश के लिए निर्धारित है।" फ्रांसिस ब्लैंकार्ड ने उन लोगों की राय से सहमति व्यक्त की जो कहते हैं कि "बाल श्रम पूरी तरह गरीबी से जुड़ा हुआ है और जीवन स्तर में लगातार सुधार के जरिये ही इसे समाप्त किया जा सकता है।" लेकिन उन्होंने आगे एक और बात कही कि "इस यथार्थ को मान लिये जाने का मतलब यह नहीं कि कुछ न करने का बहाना मिल जाय। बाल मजदूरी की समस्या इतनी गंभीर है जो प्रायः ऐसे स्वरूपों में मूर्तिमान होती है जो बिल्कुल स्वीकार्य नहीं है। इसलिए इसे तब तक छोड़ा नहीं जा सकता जब तक आर्थिक स्थितियां और सामाजिक ढांचों में बुनियादी तौर पर कोई विकास न हो जाय।[19] उन्होंने राज्यों से अनुरोध किया कि वे अपने यहां कड़ाई के सथ बाल श्रम कानूनों को कार्यान्वित करें और सदस्य देशों से आग्रह किया कि वे 1973 में सम्पन्न आई.एल.ओ. के उस न्यूनतम आयु समझौते की पुष्टि करें जिसमें अधिकांश क्षेत्रों में रोजगार के लिए 15 वर्ष की आयु निर्धारित की गयी है तथा हल्के कामों के लिए 13 वर्ष की आयु को मान्यता मिली है।

लेकिन आई.एल.ओ. तथा अन्य अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के अधिकारी भारत सरकार की इस नयी नीति के प्रति अपेक्षाकृत ज्यादा सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपना रहे थे। व्यापक रूप से प्रचारित कुछ पर्चों के जरिये आई.एल.ओ. इथयोपिया की एक वरिष्ठ अनुसंधान अर्थशास्त्री असेफा बेकेले ने तर्क दिया कि सरकार को चाहिए कि बच्चों को शोषण के चरम रूपों से बचाने की कोशिश भी करे और साथ ही दूसरों के लिए रोजगार की स्थितियां भी पैदा करे। "गरीबी और बाल मजदूरी की बढ़ती हुई घटनाओं के बीच जो घनिष्ठ संबंध है उससे पता चलता है कि बाल श्रम विरोधी नीतियां तथा रोजगार पैदा करने और गरीबी को समाप्त करने में मदद पहुंचाने वाली नीतियां एक दूसरे की कितनी पूरक हैं।[20] उन्होंने लिखा कि इसीलिए ग्रामीण विकास कार्यक्रमों तथा आय बढ़ाने वाले कार्यक्रमों का होना बहुत जरूरी है और इनकी मदद से ही बाल श्रम को समाप्त किया जा सकता है। अपने निष्कर्ष में उन्होंने कहा "विभिन्न राष्ट्रों के बीच आर्थिक अवसरों के समान वितरण सहित मौजूदा अंतर्राष्ट्रीय ढांचे में परिवर्तन...तथा अंतर्राष्ट्रीय विकास रणनीति

द्वारा सुझाये गये अन्य परिवर्तनों के जरिये ही बाल श्रम के विरुद्ध संघर्ष को कारगर ढंग से चलाया जा सकता है।"[21]

आई.एल.ओ., यूनिसेफ, डब्ल्यू.एच.ओ. और मानव अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र आयोग के बीच यह चर्चा का विषय रहा है कि अंतर्राष्ट्रीय संगठन बाल मजदूरी की समाप्ति के लिए दबाव डालने की बजाय "शोषण" को समाप्त करने और बाल मजदूरों की स्थिति को सुधारने के लिए अपने राजनीतिक प्रभाव का इस्तेमाल करें। इन सभी अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों में से प्रत्येक में कुछ अधिकारियों ने इस मुद्दे पर विशेष ध्यान दिया है जिनमें खासतौर से आई.एल.ओ. के असेफा बेकेले, यूनिसेफ के विलियम कजिंस, डब्ल्यू.एच.ओ के डा. पी. एम.शाह और मानव अधिकारों के लिए संयुक्त राष्ट्र आयोग के अब्दुल वहाब बोहदिबा का नाम उल्लेखनीय है। इन अधिकारियों के बीच थोड़े बहुत मतभेद हैं लेकिन मुख्य रूप से देखा जाए तो इन्होंने भी बाल मजदूरी की समाप्ति के बजाय शोषण के निकृष्टतम रूपों को समाप्त करने और बाल मजदूरों की स्थिति को सुधारने की जरूरत पर ही जोर दिया है। भारतीय बाल रोग विशेषज्ञ डा. पी.एम. शाह ने यह सोचकर कि स्वास्थ्य रक्षा संबंधी कार्यक्रमों को सरकारी एजेंसियों और मालिकों के सहयोग से ही विकसित किया जा सकता है, बाल श्रमिकों के लिए इस तरह के कार्यक्रमों पर जोर दिया है। यूनिसेफ के अधिकारियों ने सुझाव रखा है कि उन बच्चों पर, जो खासतौर से कठिन परिस्थितियों में काम करते हैं, सेवाएं प्रदान करने के लिए यूनिसेफ को विशेष ध्यान देना चाहिए। कठिन परिस्थितियों में काम करने वाले बच्चों से उनका आशय स्ट्रीट चिल्ड्रेन तथा शरणार्थियों एवं आव्रजकों के बच्चों से है। जहां तक आइ. एल.ओ. की बात है इसने भी कम से कम अल्प अवधि के लिए बाल श्रम की समाप्ति के बजाय संरक्षण पर जोर दिया है। बेकेले ने लिखा कि खतरनाक और असुरक्षित क्रियां-कलापों में जो बच्चे लगे हैं उनके काम पर रोक लगायी जानी चाहिए। अन्य बच्चों के लिए उचित मजदूरी का प्रावधान, काम के घंटों को कड़ाई के साथ सीमित करना और स्वास्थ्य तथा सुरक्षा के संतोषजनक मानदंडों को बनाए रखने जैसे सुरक्षित उपायों की दलील दी गयी है। शिक्षा के अवसरों को बढ़ाने के लिए कदम उठाये जाने चाहिए जिनमें "अपेक्षाकृत वंचित क्षेत्रों और सामाजिक आर्थिक समूहों के लोगों की आसानी से पहुंच हो, शिक्षा का स्तर ठीक हो ताकि गरीबों के लिए यह और भी ज्यादा प्रासंगिक और आकर्षक हो तथा गरीबों को दी जाने वाली शिक्षा कम खर्च में हो"[22] जैसी बातें शामिल हैं। इस तरह हम एक बार फिर देखते हैं कि यहां भी लाभ पर, न कि अनिवार्यता पर जोर दिया गया है।

इस प्रकार, बाल मजदूरों के बारे में भारत सरकार की स्थिति 1973 के

आई.एल.ओ. समझौते को (अधिकांश विकासशील देशों के साथ भारत ने इस समझौते के पुष्टि नहीं की है।) अनुरूप न होते हुए भी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों और आई.एल.ओ. के अफसरों के बीच इसे उल्लेखनीय समर्थन मिला है।

शिक्षा पर राजीव गांधी की नई राष्ट्रीय नीति

प्रधानमंत्री पद पर चुने जाने के कुछ हफ्तों के अंदर जनवरी 1985 में राजीव गांधी ने घोषणा की कि उन्होंने शिक्षा मंत्रालय को कहा है कि वह देश की शिक्षा प्रणाली की समीक्षा करे और शिक्षा के बारे में एक नई राष्ट्रीय नीति का प्रस्ताव रखे जो भारत को 21वीं शताब्दी में ले जाने में सक्षम हो। उनकी इस घोषणा का जबर्दस्त स्वागत हुआ। इस स्वागत में उत्साह और सनकीपन दोनों था। उत्साह इसलिए कि युवा प्रधानमंत्री ने शासन की बागडोर संभालते ही शिक्षा के क्षेत्र में सुधार को सर्वोच्च प्राथमिकता दी और सनकीपन इसलिए कि अब एक बार फिर एक और समिति का गठन किया जाएगा जिसकी सिफारिशें ठंडे बस्ते में पड़ी रहेंगी। चूंकि इस नई शिक्षा नीति की प्रासंगिकता बाल मजदूरों के प्रति भारत सरकार की नीति को समझने के संदर्भ में है, हम इस नीति और इसके इर्द–गिर्द चली बहस की समीक्षा करेंगे।

अगस्त 1985 में शिक्षा मंत्रालय ने अपनी एक समीक्षा जारी की जिसका शीर्षक था "शिक्षा की चुनौती–नीति संबंधी परिप्रेक्ष्य।[23] 119 पेज के इस दस्तावेज में ढेर सारी सिफारिशें थीं जिसे इसने "शिक्षा संबंधी पुनर्संयोजन" कहा। इसके अंतर्गत प्राथमिक शिक्षा सबको उपलब्ध कराना, स्कूलों में ड्राप आउट्स की दर में कमी करना, देश के प्रत्येक जिले में ग्रामीण क्षेत्रों के अत्यन्त प्रतिभाशाली बच्चों के लिए "आदर्श स्कूलों" की श्रृंखला तैयार करना, स्कूलों में नई संचार टेक्नालॉजी का इस्तेमाल करना, माध्यमिक शिक्षा को व्यवसायगत शिक्षा का रूप देना, जिन्होंने कभी स्कूल में प्रवेश नहीं किया अथवा स्कूली शिक्षा पूरी नहीं की उनके लिए अनौपचारिक शिक्षा का विस्तार करना, नौकरी और डिग्री के बीच संबंध को समाप्त करना, शिक्षा को सामाजिक दृष्टि से और भी प्रासंगिक बनाना तथा विश्वविद्यालयों में गलत राजनीति के प्रवेश को समाप्त करना आदि बातें शामिल थीं। इसके बाद इन प्रस्तावों पर महीनों तक सार्वजनिक बहस चलती रही, शिक्षाविदों के असंख्य सम्मेलन हुए और सरकार द्वारा 23 "टास्क फोर्स" की नियुक्ति हुई जिसको यह जिम्मेदारी दी गयी कि वह शिक्षा पर प्रस्तावित राष्ट्रीय नीति के अधीन आने वाले खास-खास विषयों को ध्यान में रखते हुए विस्तृत सिफारिशें प्रस्तुत करे।[24]

शिक्षा संबंधी सरकारी प्रस्ताव की काफी आलोचना हुई लेकिन इस बात पर सहमति थी कि "शिक्षा की चुनौती" दस्तावेज में सुधारों को लागू करने और पूर्ववर्ती सरकारों द्वारा नियुक्त आयोगों द्वारा निर्धारित लक्ष्यों को पूरा करने की सरकारी विफलता की असाधारण रूप से आलोचना प्रस्तुत की गयी है। इस रिपोर्ट में इस तथ्य को भी रेखांकित किया गया था कि 1950 से 1983 के बीच प्राइमरी स्कूलों की संख्या में जबर्दस्त वृद्धि हुई (2,10,000 से 5,04,000) और छात्रों की संख्या में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई जो 1950–51 में 28 लाख से बढ़ाकर 1982-83 में 11 करोड़ 40 लाख हो गयी। अर्थात प्रतिवर्ष 4.5 प्रतिशत की दर से विकास हुआ। अधिकांश राज्यों ने बताया कि उनके यहां 100 प्रतिशत से भी ज्यादा लड़कों ने और 75 प्रतिशत लड़कियों ने स्कूलों में दाखिला लिया।

आत्मालोचना की भावना से प्रेरित होकर इस रिपोर्ट ने शैक्षणिक विकास के मामले में अपनी असफलताओं को इस प्रकार सामने रखा।

1. प्राइमरी स्कूलों में जिन छात्रों ने दाखिला लिया उनमें से एक चौथाई निर्धारित आयुवर्ग से या तो नीचे थे या इससे ऊपर थे और अगर 1971–81 के दौरान दाखिले में हुई वृद्धि दर को छोड़ दें तो वह वृद्धि विशिष्ट आयु वर्ग की जनसंख्या वृद्धि दर से नीचे है। इसका निहितार्थ यह है कि निरक्षर आबादी की संख्या समय के साथ बढ़ती रही है।
2. यद्यपि प्राइमरी स्कूलों में लड़कियों के नामांकन में वृद्धि हुई लेकिन अनेक राज्यों में स्थिति असंतोषजनक रही। भारत के सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश में लड़कियों के लिए दाखिले का कुल अनुपात 49 प्रतिशत है। (इनमें निर्धारित आयु से कम और ज्यादा दोनों शामिल हैं)। राजस्थान के जालौर जिले में महज 17 प्रतिशत लड़कियों ने दाखिला लिया।
3. वैसे तो अधिकांश बच्चों को अपने घर से लगभग 1 किलोमीटर की दूरी पर एक प्राइमरी स्कूल उपलब्ध है लेकिन भारत की समूची आबादी के लगभग पांचवें हिस्से के पास कोई स्कूल नहीं है। जिनको स्कूल उपलब्ध हैं उनकी भी स्थिति प्रायः असंतोषजनक रही है। 40 प्रतिशत स्कूलों के पास अपनी कोई पक्की इमारत नहीं है, नौ प्रतिशत के पास किसी भी तरह का भवन नहीं है, 40 प्रतिशत के पास ब्लैकबोर्ड नहीं है, 60 प्रतिशत के पास पेयजल की सुविधा नहीं है, 70 प्रतिशत के पास किसी तरह का पुस्तकालय नहीं है, 53 प्रतिशत स्कूलों में कोई खेल का मैदान नहीं है, 89 प्रतिशत में शौचालय की सुविधा नहीं है, 35 प्रतिशत स्कूल ऐसे हैं जिनमें 3–4 विभिन्न कक्षाओं को पढ़ाने में भी केवल एक अध्यापक है, "अनेक स्कूल ऐसे हैं जिनमें लंबे समय तक

किसी अध्यापक की नियुक्ति नहीं हुई और कुछ अध्यापक ऐसे हैं जिन्होंने अयोग्य लोगों को अपनी जगह पर पढ़ाने का ठेका दे रखा है।"[26]

4. कक्षा एक और कक्षा पांच के बीच ड्राप आउट्स की संख्या लगभग 60 प्रतिशत है। कक्षा एक में भर्ती हुए 100 बच्चों में से केवल 23 बच्चे कक्षा आठ तक पहुंच पाते हैं। "बरबादी का जो परिणाम है वह देश के शैक्षणिक विकास को कमजोर कर रहा है।[27] कुछ राज्यों में ड्राप आउट्स की दर में उल्लेखनीय कमी है लेकिन उत्तर प्रदेश में इसमें लगातार वृद्धि होती गयी है।
5. 1951 में साक्षरता दर 16.7 प्रतिशत थी जो बढ़कर 36.2 प्रतिशत हो गयी और साक्षरों की संख्या में चार गुनी वृद्धि हुई–6 करोड़ से बढ़कर 24 करोड़ 80 लाख– फिर भी 1947 से लेकर 1981 के बीच निरक्षरों की कुल संख्या में वृद्धि होती गयी है। आजादी के समय यह संख्या 28.40 लाख थी जो 1981 में बढ़कर 42 करोड़ 40 लाख हो गयी। पुरुषों और महिलाओं की साक्षरता के बीच में काफी भेद है। पुरुषों में साक्षरता 46.9 प्रतिशत है जबकि महिलाओं में यह 24.8 प्रतिशत है। ग्रामीण क्षेत्रों में पुरुषों की साक्षरता दर 40.8 प्रतिशत और महिलाओं की 18 प्रतिशत है। शहरी क्षेत्रों में यह क्रमशः 65.9 प्रतिशत और 47.8 प्रतिशत है।
6. क्षेत्रीय विषमताएं भी काफी है। मिसाल के तौर पर केरल में साक्षरता दर 70.4 प्रतिशत है जबकि राजस्थान में यह महज 24.4 प्रतिशत है। (1981 में राजस्थान में केवल 11.4 प्रतिशत महिलाएं साक्षर थीं।), आठ राज्य ऐसे हैं जहां साक्षरता दर राष्ट्रीय औसत से 5 या 5 प्रतिशत से कुछ अधिक है। ये राज्य हैं गुजरात, हिमाचल प्रदेश, केरल, महाराष्ट्र, मणिपुर, नागालैंड, तमिलनाडु और त्रिपुरा। पांच राज्य ऐसे हैं जहां साक्षरता दर राष्ट्रीय औसत से पांच या पांच प्रतिशत से कम है। ये राज्य हैं: आंध्र प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान और उत्तर प्रदेश। (राज्य साक्षरता दर के बारे में तालिका 5.1 देखें, राज्यों में स्कूलों में दाखिले की दर के बारे में तालिका 5.2 देखें)।
7. भारत अपने कुल राष्ट्रीय उत्पाद का 3 प्रतिशत शिक्षा पर खर्च करता है जो दक्षिण एशिया के अन्य देशों के बराबर है लेकिन यह राशि अनेक विकासशील देशों में खर्च की जाने वाली राशि से तथा 1966 में गठित शिक्षा आयोग द्वारा सुझायी गयी राशि से 6 प्रतिशत कम है। 1950–51 में शिक्षा बजट का 43 प्रतिशत प्राथमिक शिक्षा के लिए था लेकिन 1976 आते आते प्राथमिक शिक्षा के खर्च के मद में केवल 27 प्रतिशत

रह गया। कुल व्यय का 90 प्रतिशत से भी अधिक हिस्सा अध्यापकों के वेतन और प्रशासन पर खर्च होता है। प्रतिवर्ष प्रत्येक छात्र पर केंद्र तथा राज्यों द्वारा व्यय किये जाने वाले कुल खर्च में सही अर्थों में गिरावट आयी है। विज्ञान उपकरणों, पोस्टरों और चार्टों अथवा पुस्तकों, किट्स और यहां तक कि ब्लैकबोर्डों के लिए भी बहुत कम पैसा उपलबध है। (प्राथमिक शिक्षा पर 1951 से 1985 के दौरान व्यय होने वाले आंकड़ों के लिए तालिका 5.3 देखें।)
8. ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा पर होने वाला व्यय असाधरण रूप से कम है। 1970–1971 में ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा पर 4.9 बिलियन रुपया खर्च किया गया जबकि शहरी क्षेत्रों के लिए यह राशि 6.2 बिलियन थी जिसका नतीजा यह था कि "शहरी क्षेत्रों में स्कूल और कॉलेज की इमारतें ग्रामीण क्षेत्रों के मुकाबले बहुत अच्छी थीं और इनकी देखरेख भी बहुत अच्छे ढंग से की जाती थी।[28] शहरी क्षेत्रों में निजी प्रबंध के तहत चलने वाले श्रेष्ठ संस्थानों ने शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के बीच की विषमता को और भी ज्यादा उजागर किया है।
9. प्रथम पंचवर्षीय योजना में 56 प्रतिशत का अंश होने के बावजूद बाद की पंचवर्षीय योजनाओं में प्राथमिक शिक्षा पर होने वाले खर्च में लगातार कमी आती गयी। छठीं पंचवर्षीय योजना (1980–1985) के आते–आते यह घटकर 36 प्रतिशत हो गयी। दूसरी तरफ पहली और छठीं पंचवर्षीय योजना के बीच विश्वविद्यालय शिक्षा का अंश नौ प्रतिशत से बढ़कर 16 प्रतिशत हो गया। शिक्षा पर योजना के तहत होने वाले कुल व्यय का प्रतिशत राज्यों में आता है लेकिन विभिन्न राज्यों द्वारा शिक्षा पर खर्च की जाने वाली धनराशि का अलग–अलग आंकड़ा है। उत्तर प्रदेश में यह चालीस रुपया है तो केरल में एक सौ बीस रुपया। (समूचे भारत के पैमाने पर यह औसतन 68 रुपये हैं)।
10. आबादी बढ़ने के साथ ही प्राथमिक स्कूली शिक्षा को सबको सुलभ करने का लक्ष्य एक छलावा ही रहा। 1990 तक 6 से 14 वर्ष के आयु वर्ग के बच्चों की संख्या 17 करोड़ चालीस लाख हो जाएगी। अगर 1990 तक प्राथमिक शिक्षा को सबको सुलभ करा दिया गया तो 11 करोड़ बच्चे निम्न प्राथमिक विद्यालयों में, 6 करोड़ 40 लाख बच्चे मिडिल प्राथमिक विद्यालयों में होंगे जो मौजूदा स्थिति के मुकाबले क्रमशः डेढ़ गुना और 3.2 गुना होगा। इस वृद्धि को प्राप्त करने के लिए शैक्षणिक विकास के वर्तमान स्तर को देखते हुए प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में अध्यापकों की संख्या 1990 के 29 लाख से बढ़ाकर 44 लाख करनी पड़ेगी। (1980 में प्राथमिक स्कूल के अध्यापकों की संख्या 22

लाख थी)। अगर यह मान कर चलें कि प्रति व्यक्ति पर होने वाले व्यय में कोई तब्दीली नहीं होगी तो 1990 के लिए बजट को दुगुना करना पड़ेगा— 1980 के 15.4 बिलियन से बढ़ाकर 1990 तक 32 बिलियन करना पड़ेगा। मुद्रास्फीति की वार्षिक दर को 8 प्रतिशत मानकर चलें तो 1990 के लिए शिक्षा का बजट 1980 के मुकाबले चार गुना से भी अधिक बनाना पड़ेगा।

तालिका 5.1

राज्यवार स्कूलों में दाखिले की स्थिति तथा साक्षरता दर (प्रतिशत)

	दाखिला (1978)		साक्षरता		
	आयु 6-10	आयु 11-13	दर (1981)	पुरुष	महिलाएं
आंध्र प्रदेश	60.2	30.1	29.9	39.3	20.4
असम	63.7	37.9	28.1*		
बिहार	54.4	25.9	26.2	38.1	13.7
गुजरात	69.8	56.9	43.7	54.4	32.3
हरियाणा	60.7	45.0	36.1	48.2	22.3
हिमाचल प्रदेश	79.0	62.3	42.5	53.2	31.5
जम्मू एण्ड कश्मीर	58.3	41.4	26.7	36.3	15.9
कर्नाटक	75.1	47.4	38.5	48.8	27.7
केरल	86.0	76.8	70.4	75.3	65.7
मध्य प्रदेश	47.7	33.7	27.9	39.5	15.5
महाराष्ट्र	79.4	56.2	47.2	58.8	34.8
मणिपुर	76.4	54.5	41.4	53.0	29.1
मेघालय	60.3	53.5	34.1	37.9	30.1
नागालैंड	70.4	62.8	42.6	50.1	33.9
उड़ीसा	56.5	40.7	34.2	47.1	21.1
पंजाब	93.2	64.1	40.9	47.2	33.7
राजस्थान	45.2	29.1	24.4	38.3	11.4
सिक्किम	68.9	59.9	34.1	43.7	22.2
तमिलनाडु	87.6	50.7	46.8	58.3	35.0
त्रिपुरा	73.9	37.7	42.1	51.7	32.0
उत्तर प्रदेश	53.4	33.4	27.2	38.8	14.0
पश्चिम बंगाल	67.6	39.7	40.9	50.7	30.3
पूरे भारत में	64.1	41.7	36.2	46.9	24.8

स्रोतः 'फोर्थ आल इंडिया एजूकेशनल सर्वे' (नयी दिल्ली, एन.सी.ई.आर.टी, 1980) पृ. 944–947। 1978 के सर्वेक्षण का आंकडा। ओ.पी. शर्मा और रावर्ट डी. रदरफोर्ड के *'रीसेंट लिटरेसी ट्रेंड्स इन इंडिया, अकेजनल पेपर न. 1, 1987'* (नयी दिल्ली: रजिस्ट्रार जनरल ऐंड सेंसस कमिश्नर, 1987) पृ. 17 से साक्षरता के आंकड़े लिये गये हैं। लेखकों का अनुमान है कि अगर मौजूदा ढर्रा जारी रहा तो पूर्ण साक्षरता का लक्ष्य प्राप्त करनेमें 70 वर्ष लगेंगे— केरल के लिए 15 वर्ष और राजस्थान के लिए एक शताब्दी लगेगी।

*1971 का आंकड़ा

तालिका 5.2

राज्यवार स्कूलों में उपस्थिति, 1981

	आयुवर्ग	कुल उपस्थिति (आबादी का प्रतिशत)	पुरुष	महिलाएं
आंध्र प्रदेश	5–9	42	47	34
	10–14	41	52	30
	15–19	19	27	10
	20–24	5	8	2
बिहार	5–9	26	33	18
	10–14	41	55	25
	15–19	24	38	9
	20–24	8	15	2
गुजरात	5–9	45	50	39
	10–14	61	70	50
	15–19	29	37	19
	20–24	7	10	3
हरियाणा	5–9	39	47	31
	10–14	55	71	36
	15–19	27	37	14
	20–24	5	7	3
कर्नाटक	5–9	43	49	38
	10–14	48	58	38
	15–19	23	32	14
	20–24	7	12	3
केरल	5–9	75	75	75
	10–14	86	88	84
	15–19	44	49	40
	20–24	10	12	8
मध्य प्रदेश	5–9	30	38	22
	10–14	41	55	25
	15–19	21	32	9
	20–24	5	9	2

महाराष्ट्र	5–9	52	58	47
	10–14	63	73	51
	15–19	30	40	19
	20–24	7	12	3
पंजाब	5–9	52	54	49
	10–14	63	69	56
	15–19	29	34	23
	20–24	6	8	5
राजस्थान	5–9	27	37	16
	10.–14	40	59	19
	15–19	23	36	8
	20–24	6	11	2
उत्तर प्रदेश	5–9	25	32	17
	10–14	44	58	25
	15–19	26	39	10
	20–24	8	14	2
पश्चिम बंगाल	5–9	37	41	33
	10–14	53	60	45
	15–19	30	37	21
	20–24	10	14	5

स्रोतः यह आंकड़े *सेंसस ऑफ इंडिया पार्ट–2 स्पेशल* से लिये गये हैं। रिपोर्ट और तालिकाएं 5 प्रतिशत सैंपुल डाटा पर आधारित है, सिरीज संख्या 2, 4, 5, 6, 9, 10, 11, 12, 17, 18, 22, 23 (नयी दिल्ली, 1983)

कुछ मामलों में इन जटिल आंकड़ों के मुकाबले ज्यादा दुखदायी बात 1964–1966 के शिक्षा आयोग का सन्दर्भ था। भारत के प्रमुख शिक्षाविदों और अनेक प्रतिष्ठित विदेशी विद्वानों को लेकर गठित इस आयोग ने (जिसे कोठारी आयोग के नाम से जाना जाता है। प्रो. डी.एस.कोठारी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से सम्बद्ध थे)। 12 टास्क फोर्स का गठन किया और इसने भारत की शिक्षा प्रणाली की समीक्षा प्रस्तुत की। 615 पृष्ठों की इस रिपोर्ट ने मुख्य रूप से "विकास संबंधी हमारी राष्ट्रीय योजनाओं में शिक्षा को जो वरीयता दी गयी थी उसे और भी ज्यादा बढ़ाने" पर जोर दिया और अपील की कि इसे "पूरी ताकत के साथ और निरंतरता के साथ लागू किया जाए"।[29]

आयोग की सबसे ठोस सिफारिशों में से एक सिफारिश यह थी कि देश के सभी भाग 1975–76 तक सभी बच्चों को पांच वर्षों की शिक्षा दें और

तालिका 5.3

प्राथमिक शिक्षा पर व्यय

	व्यय (हजार रुपयों में)		
योजना	कुल शिक्षा	प्राथमिक शिक्षा	प्राथमिक शिक्षा पर प्रतिशत
पहली (1951–1956)	1,530	850	55.6
दूसरी (1956–1961)	2,730	950	34.8
तीसरी (1961–1966)	5,890	1,780	30.2
वार्षिक (1966–1969)	3,220	650	20.2
चौथी (1969–1974)	8,230	2,350	28.6
पांचवी (1974–1979)	12,850	4,100	31.9
छठी (1980–1985)	25,230	9,050	35.9

स्रोतः डा.टी.एन. धर, *एलीमेंट्री एजूकेशन इन इंडिया,* अप्रकाशित पेपर (नयी दिल्लीः योजना आयोग, भारत सरकार)। छठीं योजना के आंकड़े वास्तविक व्यय का नहीं बल्कि प्रस्तावित राशि का ब्यौरा देते हैं जो आमतौर से अपेक्षाकृत कम है। छठीं योजना में योजना के दौरान व्यय होने वाली कुल राशि का 30 प्रतिशत पर प्राथमिक स्कूली शिक्षा का केवल 7 प्रतिशत केन्द्र सरकार से प्राप्त होना था।

1985–86 तक सात वर्षों की शिक्षा दें। कक्षा एक से चार तक नामांकन 1965 के 3 करोड़ 70 लाख से बढ़कर 1975 तक 7 करोड़ 20 लाख और 1985 तक 7 करोड़ 60 लाख हो जाना चाहिए जबकि कक्षा पांच से आठ के बीच यह संख्या 1965 के 1 करोड़ 30 लाख से बढ़कर 1975 में 3 करोड़ 20 लाख और 1985 में चार करोड़ 90 लाख हो जानी चाहिए। संविधान के अनुच्छेद 45 में 1960 तक सबको शिक्षा देने का निर्धारित लक्ष्य अब 1985 तक पूरा कर दिया जाना चाहिए। आयोग को खासतौर से यह देखकर काफी चिंता हुई कि 1960 के दशक के मध्य में बीच में पढ़ाई छोड़ने वालों की संख्या बहुत ज्यादा रही और इसलिए तय किया गया कि इस कमी को जल्द से जल्द दूर किया जाए। आयोग की सिफारिशों के आधार पर भारत सरकार ने 1968 में एक राष्ट्रीय शिक्षा नीति की घोषणा की सरकार ने एक बार फिर अपने संकल्प की पुष्टि की कि वह 14 वर्ष की आयु तक के बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करेगी और ड्राप आउट्स की दर में कमी करेगी।

जैसा कि सभी जानते हैं, इनमें से कोई भी लक्ष्य पूरा नहीं हो सका। राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद द्वारा संचालित चौथे अखिल भारतीय शिक्षा सर्वेक्षण की रिपोर्ट में बताया गया कि सितंबर 1978 तक निम्नांकित आंकड़े उपलब्ध थेः

कक्षा एक से चार में 6 करोड़ 10 लाख बच्चे और कक्षा पांच से आठ में दो करोड़ 56 लाख बच्चे।[30] दूसरे शब्दों में 1978 में प्राथमिक स्कूलों में 8 करोड़ 66 लाख बच्चे थे जबकि 1975 के लिए 10 करोड़ 40 लाख बच्चों का लक्ष्य निर्धारित किया गया था।

इसीलिए आश्चर्य नहीं कि 1986 में जब सरकार ने यह ऐलान किया कि शिक्षा संबंधी राष्ट्रीय नीति अब सबको शिक्षा उपलब्ध कराने तथा 1995 तक 14 वर्ष की उम्र तक के सभी बच्चों को स्कूलों में बनाए रखने पर "नए सिरे से जोर देगी" तो इसे काफी संदेह की दृष्टि से देखा गया। यह संदेह बेबुनियाद नहीं था– खासतौर से सरकार द्वारा घोषित दो कार्यक्रमों की रोशनी में अगर देखें तो इस संदेह के लिए पर्याप्त आधार थे। पहला कार्यक्रम श्रेष्ठ ग्रामीण युवकों के लिए आदर्श जिला स्कूलों के खोलने से संबंधित था। यह सोचा गया था कि प्रत्येक जिले में एक आवासीय हाई स्कूल, एक नवोदय विद्यालय होगा जो प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर चुने गए प्रतिभाशाली छात्रों को निःशुल्क आवास और भोजन की सुविधा देगा। इन स्कूलों में 75 प्रतिशत स्थान ग्रामीण बच्चों के लिए आरक्षित होंगे और यह प्रयास किया जाएगा कि इन छात्रों में से एक तिहाई लड़कियां हों। इन स्कूलों को पूरी तरह साधन–सम्पन्न बनाया जाएगा जिसमें खेल का विशाल मैदान होगा, लॉन होंगे, होस्टल, आडियो-विजुअल सुविधाएं और कंप्यूटर होंगे। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी में होगा लेकिन बच्चे क्षेत्रीय भाषाएं और हिंदी भी सीखेंगे। कुछ बच्चों को उनके अपने जिले से हटाकर देश के दूसरे हिस्से में स्थापित इस तरह के स्कूल में भेजा जाएगा ताकि वे क्षेत्रीय आधार पर एक दूसरे के साथ संपर्क विकसित कर सकें और राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा दे सकें।

राजीव गांधी नवोदय विद्यालयों के जबर्दस्त समर्थक थे। नई दिल्ली में 26 जून, 1986 को शिक्षा पर आयोजित सम्मेलन में बोलते हुए उन्होंने अपने ऊपर लगाए गए इस आरोप का खंडन किया कि प्रस्तावित नए स्कूलों के पीछे एक अभिजात्य मानसिकता है।

> हमारे यहां आज जो शिक्षा प्रणाली है वह किसी भी शिक्षा प्रणाली के मुकाबले ज्यादा अभिजात्य है...... यह बस उन लोगों को अच्छी शिक्षा उपलब्ध करा देती है जिनके पास पर्याप्त ही नहीं बल्कि अपार संसाधन हैं। अगर आपके पास ऐसा नहीं है, अगर आप प्राइमरी से सेकेंडरी स्कूल तक की शिक्षा के लिए अपने बच्चे पर साल भर में 7,000 या 10,000 रुपये नहीं खर्च कर सकते तो आपको जिस तरह की शिक्षा प्राप्त होगी वह बहुत बुरी, असंगठित और शायद इसके लिए एक ही शब्द कहा जा सकता है और वह है दयनीय होगी। इस नई शिक्षा प्रणाली के जरिए हम दोहरे मानदंडों वाली शिक्षा को समाप्त करना चाहते हैं और चाहते हैं कि समाज के सबसे कमजोर, सबसे गरीब तबके को अच्छी शिक्षा मिल सके। इसमें अभिजात्य होने का एकमात्र पैमाना बच्चे की प्रतिभा होगी न कि उसकी आर्थिक अथवा सामाजिक पृष्ठभूमि। और मैं समझता हूं कि अगर हम चाहते हैं कि हमारे समाज का सर्वोत्तम सामने आये तो इस तरह की अभिजात्य मानसिकता हमें अपने समाज में बनानी होगी।

प्रधानमंत्री की दृष्टि में समतावाद का अर्थ वित्तीय साधनों से रहित गांव के प्रतिभाशाली युवक को उसी तरह की शिक्षा उपलब्ध करानी है जैसी उन्होंने अथवा उनके वर्ग के दूसरे लोगों ने दून स्कूल जैसे निजी प्रबंधन में चलने वाली संस्थाओं से हासिल की थी।

नवोदय विद्यालयों के आलोचकों का कहना था कि इन स्कूलों की वजह से प्राथमिक स्कूली शिक्षा के लिए व्यय होने वाले धन का बहुत बड़ा हिस्सा इनके विकास में चला जाएगा और इन स्कूलों में गांवों के अपेक्षाकृत समृद्ध और जमींदार घरानों के बच्चे ही आमतौर पर भर्ती किये जायेंगे। नवोदय विद्यालयों के लिए भवन बनाने पर दस बिलियन रुपया खर्च करने का अनुमान लगाया गया जबकि शिक्षा के मद में केंद्रीय बजट केवल 8.3 बिलियन है। 433 नवोदय विद्यालयों में से प्रत्येक में 500 छात्र होंगे और 1995 के बाद इन पर अनुमानित व्यय दो बिलियन रुपया होना है। कार्यक्रम के निदेशक जे.एन. शर्मा ने अपनी चिंता व्यक्त करते हुए कहा कि "यह योजना अपने खुद के वित्तीय बोझ से मर जाएगी।" आलोचकों ने भी इस तथ्य को रेखांकित किया कि स्कूलों के बच्चों पर सरकार द्वारा प्रति व्यक्ति व्यय प्रतिवर्ष 150 रु. है जबकि प्रत्येक नवोदय विद्यालय के छात्र पर प्रति वर्ष प्रस्तावित खर्च 9,500 से 10,000 रुपये तक होगा। इस योजना के पक्ष में दलील देते हुए श्री शर्मा ने कहा कि "प्रत्येक समाज में दो प्रतिशत बच्चे अन्य बच्चों की तुलना में मानसिक तौर पर श्रेष्ठ होते हैं। उनकी ज्ञान की भूख को बेहतर ढंग से पूरा करने के लिए एक मुक्त परिवेश प्रदान करने की जरूरत है।"[31]

सरकार ने सबको शिक्षा सुलभ कराने का भी कार्यक्रम तैयार किया जिसे आपरेशन ब्लैकबोर्ड और अनौपचारिक शिक्षा कहा गया। आपरेशन ब्लैकबोर्ड के तहत गांव के स्कूलों के लिए बुनियादी सुविधाएं जुटाने हेतु 1987 में एक बिलियन की राशि निर्धारित की गयी। दूसरे शब्दों में कहें तो सरकार द्वारा संचालित प्रत्येक प्राइमरी स्कूल के लिए 2200 रुपये निर्धारित किये गये। लेकिन बीच में पढ़ाई छोड़ देने वाले बच्चों तथा उन बच्चों के लिए, जिन्होंने कभी नामांकन नहीं कराया, उन्हें शिक्षा प्रणाली में लाने के एक बड़े प्रयास के रूप में अनौपचारिक शिक्षा प्रणाली शुरू की गयी। यह प्रणाली खासतौर से उन नौ राज्यों के लिए थी जिन्हें शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ा माना जाता था। ये राज्य हैं– आंध्र प्रदेश, असम, बिहार, जम्मू कश्मीर, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल

जहां देश के 75 प्रतिशत बच्चे ऐसे रहते हैं जिनका स्कूलों में नामांकन नहीं है। अनौपचारिक शिक्षा प्रणाली को 1979 में शुरू किया गया। इसका एक मुख्य उद्देश्य कामगार बच्चों को शिक्षा प्रदान करना है। शिक्षा विभाग के सचिव और श्रम मंत्रालय के एक भूतपूर्व अधिकारी अनिल बोर्डिया का कहना है कि प्राथमिक विद्यालयों में सुविधाएं बढ़ाने के लिए जो धन व्यय किया जाएगा, इससे उन गरीबों का कोई फायदा नहीं होगा जिन्हें पढ़ाई बीच में छोड़ देनी पड़ती है जबकि अनौपचारिक शिक्षा प्रणाली का लक्ष्य कामगार बच्चों की जरूरतों को पूरा करना है।[32]

प्राथमिक शिक्षा सबको सुलभ कराने के लिए शिक्षा मंत्रालय द्वारा गठित वर्किंग ग्रुप ने 1977 में अपनी रिपोर्ट में एक हद तक विस्तार के साथ यह बताया था कि अंशकालिक अनौपचारिक शिक्षा प्राप्त करने वाले कौन लोग होंगे:

(क) कमजोर वर्ग के यानी अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों के बच्चे तथा पहाड़ी क्षेत्रों, आदिवासी क्षेत्रों, शहरी गंदी बस्तियों, तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़े अन्य ग्रामीण क्षेत्रों के बच्चे। इन वर्गों में 6–14 आयु वर्ग के ऐसे बच्चे बहुत बड़ी संख्या में हैं जिन्होंने न तो कभी औपचारिक स्कूलों में प्रवेश किया है और अगर प्रवेश भी किया है तो उन्हें बीच में ही पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी है। वे अपने परिवार को अनेक तरीकों से मदद पहुंचाते हैं और स्कूल का निर्धारित समय उनके अनुकूल नहीं पड़ता। अगर स्कूल जाने का समय और स्थान उनकी सुविधा को ध्यान में रखते हुए निर्धारित किया जाए और उनके लिए उचित पाठ्यक्रम तैयार किया जाए तो संभव है कि वे शिक्षा सुविधाओं का इस्तेमाल करना चाहें और आगे चलकर वे औपचारिक शिक्षा प्रणाली से अपने को जोड़ना चाहें।

(ख) 6–14 वर्ष के आयु वर्ग की लड़कियां जो औपचारिक प्राथमिक स्कूलों द्वारा प्रदान की जा रही मौजूदा शिक्षा के प्रति आकर्षित नहीं हैं। आमतौर पर यह लड़कियां कभी औपचारिक शिक्षा ग्रहण करने की इच्छुक नहीं हो सकतीं। इसलिए इनके लिए एक ऐसे अतिरिक्त कार्यक्रम की जरूरत है जो गृहिणी, मां अथवा सामान्य नागरिक के रूप में उनकी जरूरतों को पूरा कर सके।

(ग) 6–14 वर्ष के आयु वर्ग के लड़के और लड़कियां (आमतौर से लड़के) जो कालीन बुनने, बर्तन बनाने आदि जैसे व्यवसायों में काम कर रहे हैं। इन बच्चों को सामान्य शिक्षा के महज ऐसे अल्पकालिक कार्यक्रम की जरूरत है जो मुख्य रूप से साक्षरता, अंकों के ज्ञान और अच्छे नागरिक बनने के प्रशिक्षण पर केंद्रित हो।[33]

अनौपचारिक शिक्षा का पाठ्यक्रम अपेक्षाकृत लचीला बनाना होगा जो काम करने वाले बच्चों और युवकों की जरूरतों को ध्यान में रखकर तैयार किया गया हो।

प्रस्तावित कार्यक्रम के अनुसार बच्चे अपनी खुद की गति से आगे बढ़ेंगे। कक्षाएं ऐसे समय आयोजित की जाएंगी जिनसे बच्चों के काम में बाधा न पड़े और गैर सरकारी संगठनों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा कि वे पाठ्यक्रम तैयार करने में मदद करें। अनौपचारिक शिक्षा के खर्च को समान रूप से केंद्र और राज्य सरकारों के बीच बांट दिया गया है। 1979 से 1984 के बीच अनौपचारिक शिक्षा पर केंद्र सरकार का कुल व्यय 77 करोड़ 70 लाख रुपये हुआ। सरकार के अनुसार 1985–86 में देश भर के 1,28,000 केंद्रों में 36,70,000 बच्चों ने दाखिला लिया।

कार्यक्रम के प्रेक्षकों ने गौर किया कि केंद्र ने जो बजट तैयार किया था उसके अनुरूप कोष जुटाने में राज्यों को असफलता मिली, कि इस कार्यक्रम के अध्यापकों को उचित ढंग से प्रशिक्षित नहीं किया गया, कि अनेक केंद्रों को बंद कर देना पड़ा, कि इस कार्यक्रम में जो बच्चे शामिल हुए उनमें से अधिकांश 9 वर्ष से कम उम्र के थे और इसलिए उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे नियमित स्कूलों में दाखिला लेंगे और यह कि केंद्रों के मूल्यांकन और इनकी मानीटरिंग के लिए कोई कारगर व्यवस्था नहीं थी।[34]

आलोचकों ने इस बात पर भी संदेह व्यक्त किया कि सरकार की नई शिक्षा नीति के जरिए स्कूल जाने वाले आयु वर्ग के सभी बच्चों को स्कूलों में दाखिल कराने और उन्हें बनाए रखने के लक्ष्य को पूरा किया जा सकता है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं था कि सबको शिक्षा देने के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए जितनी धनराशि की जरूरत है उतनी धनराशि उपलब्ध कराने की सरकार योजना बना रही है। एक आलोचक ने कहा कि मौजूदा प्राथमिक विद्यालयों को विकसित करने के किसी वास्तविक संकल्प के बिना सरकार अनौपचारिक शिक्षा में महज सांकेतिक निवेश कर रही है। अन्य आलोचकों ने अंग्रेजी माध्यम वाले और क्लासरूम कंम्प्यूटरों से युक्त जिले के आदर्श स्कूलों को व्यापक शिक्षा का विकल्प नहीं माना है। एक आलोचक ने शंका व्यक्त की कि निरक्षरता समाप्त करने के प्रति सरकार सचमुच चिंतित है। कानून के विख्यात प्रोफेसर उपेंद्र बख्शी ने लिखा कि "यह मानने के बाद कि सन 2000 में भारत में 50 करोड़ निरक्षर हो जाएंगे और निरक्षरों की इतनी बड़ी संख्या 21 वीं सदी की दिशा में विकास के मार्ग में बहुत बड़ी बाधक होगी, राष्ट्रीय शिक्षा नीति के दस्तावेज में कहा गया है कि हमें "अच्छी तरह विचार विमर्श" करने के बाद "सदा के लिए" यह तय कर लेना चाहिए कि राजनीतिक निर्णय लेने की प्रक्रिया में और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण

की प्रक्रिया में आम जनसमुदाय की सार्थक भागीदारी के लिए निरक्षरता को समाप्त करना एक पूर्वशर्त है–इसे भारत के लिए वैध माना जाए। दूसरे शब्दों में कहें तो इस रिपोर्ट के रचयिता खुद इस मामले में निश्चित नहीं हैं।"[35]

अपनी अमरीका यात्रा के दौरान प्रधानमंत्री ने एक बयान दिया जिससे सरकार के इन उद्देश्यों के प्रति शंकाएं और भी मजबूत हुईं और प्रधानमंत्री के इस बयान को भारतीय समाचार पत्रों ने काफी उद्धृत भी किया। अक्टूबर 1987 में हार्वर्ड विश्वविद्यालय में एक लिखित भाषण में राजीव गांधी ने भारत जैसे गरीब और व्यापक तौर पर अशिक्षित समाज में सफलता के लिए भारतीय जनतंत्र का गुणगान किया। इस भाषण के बाद सवाल–जवाब के दौरान एक भारतीय छात्र ने पूछा कि आजादी के इतने वर्षों बाद भी भारत में अगर इतनी बड़ी संख्या में असाक्षर लोग हैं तो क्या इसे आप भारतीय जनतंत्र पर एक धब्बा नहीं समझते? राजीव गांधी ने जवाब दिया, "मैं नहीं समझता कि साक्षरता ही जनतंत्र की कुंजी है... ज्ञान का कहीं ज्यादा महत्व है। हमने देखा है–और मैं अब अपने को केवल भारत के दायरे में सीमित नहीं कर रहा हूं बल्कि दूसरे देशों की स्थिति को भी देख कर कह रहा हूं–साक्षरता कभी–कभी दृष्टि को संकुचित बनाती है, व्यापक नहीं करती।"[36]

एक सरकारी पत्रिका "योजना" के जनवरी 1986 के अंक में भारत के 18 प्रमुख शिक्षाविदों ने सरकार की प्रस्तावित राष्ट्रीय शिक्षा नीति की आलोचनात्मक समीक्षा की और निरक्षरता को समाप्त करने तथा सबको शिक्षा सुलभ कराने के उपायों के रूप में कुछ सुझाव दियेः सरकार के पास अनाज का जो अतिरिक्त भंडार है उसमें से प्रत्येक बच्चे को स्कूल में प्रतिदिन 1 किलो चावल अथवा गेंहू दिया जाय ताकि बीच में पढ़ाई छोड़कर जाने के विरुद्ध एक गारंटी हो, प्राथमिक स्कूलों के लिए बनाये जाने वाले बजट में जबर्दस्त बढ़ोत्तरी की जाय, उच्चतर शिक्षा पर जो पैसा व्यय होता है उसकी जगह पर जन शिक्षा पर पैसा व्यय किया जाय और अनौपचारिक शिक्षा पर ज्यादा से ज्यादा ध्यान दिया जाय, स्कूलों को व्यावसायिक शिक्षा देने योग्य बनाने पर ज्यादा ध्यान दिया जाय और वयस्क साक्षरता कार्यक्रमों में विकास एजेंसियों को और भी ज्यादा शामिल किया जाय, शैक्षणिक कामों का ज्यादा से ज्यादा विकेन्द्रीकरण किया जाय, प्राथमिक शिक्षा पर एक राष्ट्रीय मॉडल ऐक्ट बनाया जाय, अंशकालिक साक्षरता केंद्रों का विस्तार किया जाय, प्राथमिक कक्षाओं से पूर्व की पढ़ाई की व्यवस्था की जाय, साक्षरता कक्षाओं और वयस्क शिक्षा के लिए कालेज के छात्रों का इस्तेमाल किया जाय और ज्यादा से ज्यादा प्रयास इस बात का किया जाय कि निष्ठावान शिक्षकों की भर्ती हो और उन्हें और भी प्रेरित करने के उपाय हों।

यहां यह ध्यान देने की बात है कि इन आलोचकों में से किसी ने भी प्राथमिक स्कूली शिक्षा को अनिवार्य बनाने का प्रस्ताव नहीं रखा।

अनिवार्य शिक्षाः एक वैधानिक समीक्षा

जैसा कि पहले देखा गया है कि भारत में अनिवार्य शिक्षा से संबंधित कानून शिक्षा को अनिवार्य नहीं बनाते– वे बस उन स्थितियों को स्थापित करते हैं जिनके तहत राज्य सरकारें विशिष्ट क्षेत्रों में शिक्षा को अनिवार्य बना सकती हैं। इस प्रकार 1974 के असम प्राथमिक शिक्षा अधिनियम में एक प्रावधान है कि "राज्य सरकार अधिसूचना जारी करके यह घोषित कर सकती है कि एक निश्चित आयु तक के लोगों के लिए किसी क्षेत्र अथवा राज्य के उन क्षेत्रों में, जिसका निर्धारण अधिसूचना में किया गया हो, प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य कर दिया जायेगा। अनिवार्य शिक्षा वाले ऐसे क्षेत्र में रहने वाले प्रत्येक बच्चे के अभिभावक को उस क्षेत्र के मान्यताप्राप्त प्राथमिक स्कूल में पढ़ने के लिए अपने बच्चे को भेजना ही होगा।" जब यह प्रावधान अमल में होगा उस समय "राज्य सरकार स्कूलों में हाजिरी व्यवस्था को लागू करने के उद्देश्य से इस तरह के अधिकारियों की नियुक्ति कर सकती है।" जो लोग इस कानून के प्रावधानों का उल्लंघन करेंगे उनको जुर्माना होगा।[37]

इसी प्रकार तमिलनाडु प्राथमिक शिक्षा अधिनियम में (1920, 1973 में संशोधित) इस बात का प्रावधान है कि "कोई भी स्थानीय अधिकारी... निर्णय ले सकता है कि प्राथमिक शिक्षा उसके न्यायाधिकरण क्षेत्र में पढ़ने वाले किसी स्थानीय क्षेत्र अथवा विशिष्ट भाग में अथवा समूचे क्षेत्र में अनिवार्य कर दी जायेगी" लेकिन इसके लिए राज्य सरकार की स्वीकृति जरूरी होगी।[38] 1961 का मैसूर अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम दरअसल राज्य सरकार को यह अनुमति देता है कि वह अधिसूचना जारी करके कुछ क्षेत्रों में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बना दे। इससे सम्बद्ध कुछ नियमों में (मैसूर अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा नियम) विस्तार के साथ बताया गया है कि ऐसी हालत में अनिवार्य शिक्षा को किस तरह लागू किया जाय– जिसमें शामिल है हाजिरी लेने वाले एक अधिकारी की नियुक्ति, निर्धारित क्षेत्र में सभी बच्चों की गणना की पद्धति, बच्चों के नामों और उनके जन्म तिथियों का अनिवार्य रूप से पंजीकरण, गणना रजिस्टर का प्रकाशन, गणना रजिस्टर के संशोधन और आधुनिकीकरण की पद्धतियां, जिन मां-बाप अथवा अभिभावकों के बच्चे स्कूल नहीं जा रहे हैं उनके नाम नोटिस जारी करने के तरीके, वे शर्तें जिनके तहत बच्चों को छूट दी जा सकती है (बीमारी अथवा उनके घर से एक मील की दूरी के अंदर स्कूल का न होना) और अंततः स्कूल भेजने

में असफल होने वाले बच्चों के मां-बाप के लिए जुर्माने का निर्धारण। तो भी राज्य के अधिकांश अन्य कानूनों में यह व्यवस्था है कि अनिवार्य शिक्षा लागू करने की दिशा में पहल स्थानीय अधिकारियों के हाथ में हो।

कुछ स्थानीय सरकारों ने शिक्षा को अनिवार्य बनाया। काफी पहले 1893 में बड़ौदा रियासत के एक डिवीजन में अनिवार्य शिक्षा को कानूनी तौर से लागू किया गया। उन दिनों इस रियासत का नेतृत्व बड़ौदा के महाराजा सायाजीराव गायकवाड़ कर रहे थे। बड़ौदा के महाराजा सबके लिए शिक्षा के जबर्दस्त समर्थक थे। उन्होंने एक डिवीजन में अनिवार्य शिक्षा लागू करने के अपने प्रयोग को सफल माना और 1906 में उन्होंने समूचे राज्य में शिक्षा को अनिवार्य कर दिया। इससे पूर्व ब्रिटिश शासकों ने भारत में अनिवार्य शिक्षा शुरू किये जाने के सवाल पर बहस चलाई थी लेकिन वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि यह ब्रिटिश विधि शास्त्र के विपरीत है—यह एक ऐसी स्थिति थी जिसे 1870 में इंग्लैंड में अनिवार्य शिक्षा के सिद्धान्त की शुरुआत ने कमजोर बना दिया था। कुछ भारतीय और ब्रिटिश अधिकारियों ने 1882 में भारतीय शिक्षा आयोग के सामने अनिवार्य शिक्षा शुरू करने के पक्ष में दलील दी थी लेकिन इस प्रस्ताव पर कभी भी गंभीरता पूर्वक विचार नहीं किया गया। 1906 में अनिवार्य शिक्षा शुरू करने का यह प्रस्ताव बंबई में लिया गया लेकिन इसे नामंजूर कर दिया गया। प्रथम विश्वयुद्ध से कुछ समय से पूर्व प्रमुख भारतीय उदारवादी नेता और कांग्रेस अध्यक्ष गोपाल कृष्ण गोखले ने नयी दिल्ली में केन्द्रीय विधान मंडल में इस मुद्दे को उठाया। उन्होंने सदन में एक निजी बिल पेश किया जिसमें प्रस्ताव था कि स्थानीय निकायों को निर्धारित शर्तों के अधीन अपने–अपने क्षेत्रों में अनिवार्य शिक्षा शुरू करने का अधिकार प्रदान किया जाय। इस विधेयक को व्यापक रूप से प्रसारित किया गया और इसे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के नेताओं का कुछ समर्थन तो मिला लेकिन केन्द्रीय विधान मंडल के बहुमत ने, अधिकांश अधिकारियों और रजवाड़ों के प्रतिनिधियों ने इसका विरोध किया। सरकार ने इस प्रस्ताव को वित्तीय तथा प्रशासनिक आधार पर बहुत अव्यावहारिक माना।

1918 में प्रमुख राष्ट्रवादी नेता विट्ठल भाई पटेल ने बम्बई विधान परिषद में एक विधेयक पेश किया जिसमें राज्य के म्युनिसिपल क्षेत्रों को अनुमति दी गयी थी कि वे राज्य सरकार द्वारा प्रदान किये जाने वाले अनुदान के साथ शिक्षा को अनिवार्य बनाये। पटेल ऐक्ट पारित हो गया और इसके बाद ब्रिटिश शासन के अधीन प्रत्येक राज्य ने इसी तरह का अनिवार्य शिक्षा कानून पारित किया जैसा कि अनेक भारतीय राज्यों ने किया है। 1930 वाले दशक की शुरुआत तक एक अनिवार्य शिक्षा का सिद्धान्त

राज्य के कानून में दर्ज हो गया था। 1950 के संविधान के अनुच्छेद 45 में इसे आधिकारिक तौर पर राष्ट्रीय नीति का मामला बना दिया गया।

यह सभी कानून स्थानीय अधिकारियों को अनिवार्य शिक्षा शुरू करने की अनुमति देते हैं—उनसे इसकी मांग नहीं करते। यह सुनिश्चित करने के लिए कि स्थानीय अधिकारी अति उत्साह में आकर किसी क्षेत्र में अनिवार्य शिक्षा न शुरू कर दें जो अभी इसके लिए तैयार नहीं हैं, इन कानूनों में यह प्रावधान रखा गया कि स्थानीय प्राधिकरण के कुल में से आधे सदस्य अथवा उपस्थित सदस्यों में से दो–तिहाई सदस्य इसकी स्वीकृति दें और यह भी कि राज्य सरकार भी इसे अपनी स्वीकृति दे। इन कानूनों में स्पष्ट रूप से उन पद्धतियों का भी जिक्र है जिनकी मदद से शिक्षा को अनिवार्य बनाया जा सकता है : स्कूल न जाने वाले बच्चों की जनगणना रिपोर्ट तैयार करना, मां-बाप को नोटिसें जारी करना, छूट देने वाले मामलों पर विचार के लिए सुनवाई करना, स्कूल के प्रधानाध्यापक से रिपोर्ट लेना, अध्यापकों तथा हाजिरी लेने वाले अधिकारियों द्वारा मां-बाप को प्रेरित करना, मां-बाप के साथ एक और सुनवाई करना तथा महज अंतिम हथियार के रूप में लोगों को दंडित करना। इन कानूनों का ब्यौरा देते हुए जे.पी. नायक (और उनके दो सहलेखकों ने) लिखा कि "प्रारंभिक विधि निर्माता हाजिरी बढ़ाने के मुकाबले इस बात के लिए ज्यादा चिंतित रहते थे कि मां-बाप को परेशानी से बचाया जाय और बड़ौदा को छोड़कर, जहां वास्तविक अनुभव की रोशनी में सरलीकृत पद्धतियां लागू की गयीं, इस विषय पर ये प्रारंभिक विचार आज भी अपरिवर्तित बने हुए हैं।"[39]

अति उत्साही स्थानीय निकायों को लेकर किसी को बहुत ज्यादा चिंतित होने की जरूरत नहीं है क्योंकि यह देखने में आया कि उनमें से कुछ ने ही शिक्षा को अनिवार्य बनाया। 1921–22 में जब ब्रिटिश अधिकारियों ने शिक्षा का हस्तांतरण भारतीय नियंत्रण में किया, शिक्षा को एक भी गांव में नहीं लेकिन आठ शहरों में अनिवार्य बनाया गया। 1936–37 आते–आते कुल 2700 शहरी क्षेत्रों में से 167 में शिक्षा को अनिवार्य बनाया गया लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों के मुट्ठी भर हिस्से में ऐसा किया गया। शिक्षा को अनिवार्य रूप दिये जाने का सबसे ज्यादा विरोध भारतीय शैक्षणिक सेवाओं (इंडियन एजूकेशनल सर्विसेज) के अधिकारियों के बीच था और स्थानीय अधिकारियों के अनेक प्रस्तावों को राज्य सरकारों ने वित्तीय आधारों पर नामंजूर कर दिया।[40]

इसके अलावा अगर कहीं स्थानीय अधिकारियों को शिक्षा को अनिवार्य बनाने में सफलता मिली भी तो वहां इसे लागू नहीं किया जा सका। मिसाल के तौर पर बड़ौदा में उन अनेक गांवों में, जहां शिक्षा को अनिवार्य किया

जाना था, स्कूल ही नहीं थे इसलिए इसे लागू करने का सवाल ध्वस्त हो गया। बंबई प्रांत ने 1939 में शहर के लिए शिक्षा को अनिवार्य बनाया लेकिन जे.पी. नायक के अनुसारः

नगर पालिका ने उन मां-बाप को, जो अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेजते हैं, इस आधार पर दंडित करने से लगातार इन्कार किया है कि उन्हें दंड दिये जाने से पूर्व समझाया बुझाया जाय... 1926–27 से ही, जब एक पंचवर्षीय समीक्षा में पहली बार अनिवार्य शिक्षा के परिणामों पर विचार किया गया, सरकारी रिपोर्टों ने निरंतर इस बात की शिकायत की है कि इस अनिवार्यता को व्यवहार में लागू करने के लिए कोई प्रयास नहीं किये गये और यह कमोबेश कागज पर ही बना रहा। मिसाल के तौर पर यह कहा गया कि स्कूल जाने वाली आयु के बच्चों की नियमित जनगणना नहीं की गयी है और इसके लिए अपनायी जाने वाली पद्धति में बचाव के अनेक रास्ते हैं जो इसका उल्लंघन करने वालों को निकल जाने देते हैं, कि हाजिरी लेने वाले अधिकारी अप्रशिक्षित हैं और इनकी संख्या इतनी कम है कि वे स्थिति का मुकाबला नहीं कर सकते, कि स्थानीय समितियां हमेशा दंडात्मक कार्यवाही शुरू करने के प्रति अनिच्छुक रही हैं, कि बड़ी उदारता के साथ लोगों को इससे छूट दी जाती रही है और यह कि अनिवार्य शिक्षा कानून के अंतर्गत मुकदमें चलाये जाने के प्रबंध आमतौर पर त्रुटिपूर्ण रहते हैं जिससे असाधारण रूप से होने वाले विलम्ब के कारण कानून का मूल उद्देश्य ही विफल हो जाता है। इसलिए यह निष्कर्ष न्यायोचित ठहराया गया कि अनिवार्य घोषित किये गये किसी भी क्षेत्र में इसे कड़ाई के साथ लागू करने का कोई ठोस उपाय नहीं किया गया, कि अनेक मामलों में अनिवार्य शिक्षा की बात केवल कागजों तक ही सीमित रह गयी और यह कि अधिकांश क्षेत्रों में स्वैच्छिक और अनिवार्य शिक्षा के बीच विभाजन रेखा बहुत बारीक है।[41]

जे.पी. नायक ने इस तथ्य को रेखांकित किया कि बड़ौदा में इसे एक हद तक लागू किया गया (यद्यपि अनेक गांवों में स्कूलों का अभाव बना रहा) जिसका नतीजा यह हुआ कि 1921 तक बड़ौदा में साक्षरता दर बंबई से ज्यादा हो गयी और यह साक्षरता दर पूरे देश के संदर्भ में महज ट्रावंकोर और कोचीन से कम रही।[42] प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के अपने प्रयास में ट्रावंकोर सरकार संभवतः भारत में सबसे बढ़–चढ़ कर रही है। 1935–36 में ट्रावंकोर सरकार ने पिछड़े समुदायों के छात्रों को अनुदान देने की योजना शुरू की। 1940 वाले दशक के शुरुआती दिनों में दोपहर का भोजन देने का कार्यक्रम शुरू किया गया। और 1945 में जब प्राइमरी स्कूलों में दाखिला (कक्षा एक से पांच तक) 80 प्रतिशत पहुंच गया तो सरकार ने शिक्षा को अनिवार्य कर दिया।[43] इस राज्य में ड्राप आउट दर सबसे कम

और साक्षरता दर सबसे ज्यादा देखने को मिली।

आजादी से पूर्व प्राथमिक शिक्षा पर कम पैसे का खर्च किया जाना, देश के अधिकांश हिस्सों में प्राइमरी स्कूलों का न होना, ड्राप आउट दर का उच्च होना तथा अनिवार्य शिक्षा की किसी भी प्रणाली का न होना– इन सब बातों ने मिलकर निरक्षरता दर को लगभग स्थिर रखा। 1881 और 1931 के बीच साक्षरता 3.5 प्रतिशत से बढ़कर 8.0 प्रतिशत हो गयी अर्थात एक दशक में एक प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1921 से 1931 के बीच प्राइमरी स्कूलों की संख्या तथा छात्रों के दाखिले की संख्या में वृद्धि होने के बावजूद समूचे दशक में साक्षरता दर में केवल एक प्रतिशत की वृद्धि हुई। ब्रिटिश भारत में शिक्षा के विकास की समीक्षा करने के लिए सरकार द्वारा गठित एक समिति (हारटोग समिति) ने निष्कर्ष निकाला कि "प्राथमिक शिक्षा प्रणाली में, जिसे हमारे विचार से ऐसा बनाया जाना चाहिए जो साक्षर लोगों को पैदा करे और बुद्धिमत्तापूर्ण मतदान करने की क्षमता पैदा करे, यह बर्बादी भयंकर है। जहां तक हम फैसला ले सकते हैं, प्राइमरी स्कूलों में बड़ी संख्या में दाखिले का मतलब यह नहीं कि साक्षरता मे उसी अनुपात में वृद्धि हुई हो क्योंकि जो लोग दाखिला लेते हैं उनमें से बहुत कम लोग कक्षा 4 तक पहुंच पाते हैं और उनमें ही साक्षरता की उम्मीद की जा सकती है। लड़कों के मुकाबले लड़कियों के मामले में यह बर्बादी और भी ज्यादा गंभीर है।"[44]

1937 में देश के सात प्रांतों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा सत्ता संभालने के बाद इस बात पर विचार विमर्श शुरू हुआ कि प्राथमिक शिक्षा का किस तरह विस्तार किया जाय। प्रांतीय स्तर पर वित्तीय संसाधन जुटाना एक समस्या थी– खासतौर से इसलिए कि कांग्रेस नशाबंदी लागू करने के लिए प्रतिबद्ध थी और यह ऐसी नीति थी जो राजस्व के प्रमुख सरकारी स्रोत में उल्लेखनीय कटौती कर देती थी। यही वह समय था जब महात्मा गांधी ने बुनियादी शिक्षा की अपनी प्रसिद्ध योजना का प्रस्ताव रखा। अपनी पत्रिका "हरिजन" में अनेक लेखों के जरिये उन्होंने अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया कि किस तरह कम खर्च में जनशिक्षा की स्थापना की जा सकती हैः

> एक राष्ट्र के रूप में शिक्षा के मामले में हम इतने पिछड़े हैं कि अगर शिक्षा के इस कार्यक्रम को हम पैसे पर निर्भर कर देंगे तो इस पीढ़ी के लिए निर्धारित समय में हम अपने दायित्वों को पूरा करने की आशा नहीं कर सकते। इसलिए मैं रचनात्मक नीति के लिए अपनी ख्याति खो देने का जोखिम उठाकर भी साहसपूर्वक यह सुझाव देना चाहूंगा कि शिक्षा को आत्मनिर्भर बनाना होगा। शिक्षा से मेरा तात्पर्य बच्चे के शरीर, मन और आत्मा– सबका सर्वोत्तम विकास है। साक्षरता न तो शिक्षा का आदि है और न अंत। यह महज उन साधनों में से एक है जिनके जरिये पुरुषों और महिलाओं को शिक्षित किया जा सकता है। साक्षरता अपने आप में शिक्षा नहीं है। इसलिए मैं किसी बच्चे की शिक्षा उसे उपयोगी हस्तशिल्प के प्रशिक्षण से शुरू करूंगा जिससे वह उसी दिन से उत्पादन में लग जाय जिस दिन से उसने

प्रशिक्षण शुरू किया हो। इस प्रकार प्रत्येक स्कूल को आत्मनिर्भर बनाया जा सकता है बशर्ते इन स्कूलों के निर्माण का कार्य राज्य अपने हाथों में ले ले।[45]

गांधी के इन प्रस्तावों को कांग्रेस सरकार वाले सातों प्रांतों के शिक्षा मंत्रियों के सम्मेलन से स्वीकृति मिली। डा. जाकिर हुसैन (जो बाद में भारत के राष्ट्रपति बने) की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया जिसने बुनियादी शिक्षा (यानी नयी तालीम) की योजना के लिए एक पाठ्यक्रम का विस्तृत विवरण तैयार किया। जे.पी. नायक का कहना है कि, "महत्वपूर्ण बात यह है कि समूचे विचार विमर्श के दौरान कहीं भी शिक्षा को अनिवार्य बनाने का उल्लेख नहीं है क्योंकि किसी भी रूप में किसी विचार को दबाव डालकर स्वीकार कराना गांधीवादी दर्शन से मेल नहीं खाता था।"[46]

एक उल्लेखनीय नया प्रस्ताव उस योजना के तहत रखा गया जिसे भारत में युद्धोत्तर शैक्षणिक विकास योजना (1944) कहा जाता है और जिसे केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद के शिक्षा सलाहकार सर जॉन सर्जेन्ट ने तैयार किया था। सर्जेन्ट योजना ने गांधी की बुनियादी शिक्षा योजना को स्वीकार करने का प्रस्ताव रखा लेकिन इस विचार को नामंजूर कर दिया कि प्राथमिक स्कूल शिक्षा छात्रों द्वारा तैयार किये गये सामानों की बिक्री से अपना खर्च निकाल सकती है। इसमें प्राथमिक शिक्षा पर होने वाले खर्च में उल्लेखनीय वृद्धि की मांग की गयी थी ताकि भारत इस योग्य हो सके कि वह 45 वर्ष की अवधि के दौरान 6 से 14 वर्ष की आयु के सभी बच्चों को शिक्षा के दायरे में, यानी स्कूली व्यवस्था में शामिल कर सके। और यह भी प्रस्ताव कि इस अवधि के दौरान शिक्षा को अनिवार्य बना दिया जाय। रिपोर्ट में कहा गया था कि उन क्षेत्रों में जहां कानूनी बाध्यता थी, हाजिरी लेने वाले प्रशिक्षित अधिकारियों की ऐसी कोई संगठित व्यवस्था नहीं थी जिससे यह देखा जा सके कि कौन–कौन से बच्चे स्कूलों में जा रहे हैं। साथ ही अदालतें भी कानून को लागू करने के प्रति कोई रुचि नहीं दिखा रही थीं। सर्जेन्ट ने यह भी प्रस्ताव रखा कि अनिवार्य शिक्षा को अमल में लाया जा सकता है बशर्ते सरकार मां-बाप के बीच शिक्षा के बारे में धुंआधार प्रचार अभियान चलाये। उन्होंने यह भी कहा कि यह भी बहुत महत्वपूर्ण है कि "हाजिरी लेने वाले ऐसे अधिकारी हों जो अपने कर्तव्य के बारे में जानते हों तथा ऐसी अदालतें हों जो अपना कर्तव्य निभाने के लिए तैयार हों।"[47]

आजादी के बाद जो सरकार आई उसने सर्जेन्ट की योजना को बेहद दकियानूस माना। सरकार का दृष्टिकोण यह था कि सबको अनिवार्य प्राथमिक स्कूली शिक्षा देने का लक्ष्य 40 वर्ष में नहीं (1945–1984) बल्कि 1960 तक पूरा कर लिया जाय। यद्यपि संविधान में अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान था फिर भी बाद की सरकारों ने सबको प्राथमिक शिक्षा देने की

बात तो कही लेकिन इसे अनिवार्य बनाने पर जोर नहीं दिया। किसी भी राज्य ने कभी भी यह कोशिश नहीं की कि स्थानीय अधिकारियों पर इस बात के लिए दबाव डाला जाय कि वे शिक्षा को अनिवार्य बनावें। 1950 वाले दशक के शुरू होते–होते भारत सरकार के अधिकारियों ने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि चूंकि सरकार ने बड़ी विकास परियोजनाओं का काम हाथ में लेने का फैसला कर लिया, इसलिए 1960 तक सबको अनिवार्य शिक्षा देने की व्यवस्था के लिए वित्तीय संसाधन उपलब्ध नहीं हो सके। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस तथ्य को रेखांकित किया गया कि छः से 14 वर्ष के आयु वर्ग के सभी बच्चों को शिक्षा प्रदान करने का कार्यक्रम चलाने के लिए चार बिलियन रुपये वार्षिक की जरूरत पड़ेगी, अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए अतिरिक्त दो बिलियन रुपये और भवनों के निर्माण के लिए 2.72 बिलियन रुपये की जरूरत पड़ेगी।[48] लेकिन योजना ने पांच वर्ष की अवधि के लिए शिक्षा हेतु केवल 1.56 बिलियन रुपये प्रदान किए।[49] न तो योजना आयोग ने और न शिक्षा मंत्रालय ने यह प्रस्तावित किया कि सार्जेंट कमेटी द्वारा अनिवार्य शिक्षा के संबंध में जो सिफारिशें प्रस्तुत की गयी हैं, उन्हें स्वीकार किया जाए। अनेक शिक्षाविदों ने–जिनमें जे.पी. नायक भी हैं– इस बात पर जोर दिया कि गांधी द्वारा प्रस्तावित बुनियादी शिक्षा योजना के तरीके पर शिक्षा के विस्तार के लिए काफी संसाधन जुटाए जा सकते हैं। गांधी की योजना के अनुसार बच्चों द्वारा तैयार किये गए हस्तशिल्प के सामानों की बिक्री से इतना पैसा जुटाया जा सकता है जिससे अध्यापकों का खर्च वहन किया जा सके। कुछ शिक्षाविदों ने बुनियादी शिक्षा की योजना को केवल शैक्षणिक कार्यक्रम के रूप में नहीं देखा बल्कि स्कूलों को आंशिक तौर पर आत्मनिर्भर बनाने की दिशा में किया गया वित्तीय कार्यक्रम भी माना।

शिक्षा के क्षेत्र में नीतियों, प्राथमिकताओं और कार्यक्रमों को निश्चित करने का प्राधिकार योजना आयोग और शिक्षा मंत्रालय के सुझाव पर राज्यों से लेकर केंद्र सरकार को दे दिया गया क्योंकि इसी को लक्ष्य निर्धारित करने थे और वित्तीय संसाधनों की व्यवस्था करनी थी। राज्य सरकारें संसाधनों और नीतियों के लिए केंद्र की ओर देखती रहती थीं इसलिए राज्य सरकारों के पास शिक्षा के क्षेत्र में कुछ नया करने की योजना नहीं थी। प्रारंभ में संविधान में शिक्षा को राज्य का मामला माना गया था लेकिन बाद में इसे अन्य विषयों की सूची में डाल दिया गया। यद्यपि शिक्षा पर व्यय होने वाली धनराशि के बारे में अलग–अलग राज्यों के पास अलग–अलग आंकड़े थे फिर भी प्राथमिक स्कूली शिक्षा के विस्तार के मामले में सबसे बड़ा अवरोध केंद्र सरकार द्वारा आवंटित की गयी बजट धनराशि थी। पांच वर्ष के दौरान एक के बाद एक हर वर्ष में लगातार प्राथमिक शिक्षा के लिए

निर्धारित धनराशि में कमी की जाती रही जब कि उच्च शिक्षा के लिए बजट समृद्ध होता गया। कारण चाहे जो भी हो, यह स्पष्ट था कि व्यापक पैमाने पर प्राथमिक शिक्षा के प्रसार की तुलना में उच्च शिक्षा को सरकार ने वरीयता क्रम में ऊपर रखा था। प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में कहा गया कि शिक्षा "मानव संसाधनों में निवेश" है, आर्थिक विकास के लिए बुनियादी शर्त है । यद्यपि योजना से संबंधित दस्तावेजों में शिक्षा से होने वाले अन्य फायदों की उपेक्षा की गयी थी पर जाहिर है कि योजना निर्माताओं ने शिक्षा को एक विकास रणनीति के संदर्भ में देखा। ऐसी विकास रणनीति जिसमें जन साधारण को शिक्षित करने की बजाय बड़ी–बड़ी परियोजनाओं के विकास तथा कुशल कारीगरों के प्रशिक्षण पर जोर दिया गया था। अन्य अनेक देशों में सत्तारूढ़ अभिजात्य वर्ग के पास शिक्षा की दृष्टि से हम काफी सकारात्मक नजरिया देखते हैं जो भारत के अभिजनों में दिखाई नहीं देती।

टिप्पणियां

1. श्रम मंत्रालय, *'रिपोर्ट ऑफ द कमेटी ऑन चाइल्ड लेबर'* (नई दिल्ली: भारत सरकार, 1979), पृ. 54, ब्रिटिश नीतियों की समीक्षा के लिए देखें रजनीकांत दास, "लेबर लेजिसलेशन इन इंडियन स्टेट्स", इंटरनेशनल लेबर रिव्यू 38, सं. 6 (दिसंबर, 1938)
2. वही पृ. 39
3. वही पृ. 42
4. वही पृ. 44
5. वही पृ. 49
6. समिति की सिफारिशों पर भारत सरकार की प्रतिक्रिया के लिए देखें पी.एम. शाह संपादित *'चाइल्ड लेबरः ए थ्रेड टू हेल्थ ऐंड डेवलपमेंट'* (जेनेवा: डिफेंस फार चिल्ड्रेन इंटरनेशलन, 1985), पृ. 99–100
7. दकन हेराल्ड (17, जुलाई 1983)
8. श्रम मंत्रालय, *वार्षिक रिपोर्ट 1983–84* (नई दिल्ली: भारत सरकार, 1985)
9. द कंसर्न्ड फार वर्किंग चिल्ड्रेन, "*द रिपोर्ट ऑफ दि नेशनल सेमिनार आन एजूकेशन फार वर्किंग चिल्ड्रेन* (बंगलौरः सी.. डब्ल्यू.सी. नवंबर 1985)
11. द कंसर्न्ड फार वर्किंग चिल्ड्रेन, "*दि रिपोर्ट ऑफ द नेशनल सेमिनार*" (बंगलौरः सी. डब्ल्यू.सी. नवंबर 1985), पृ. 7। सी. डब्ल्यू. सी. ने बाल मजदूरों की संख्या अन्य समूहों के मुकाबले बहुत ज्यादा बतायी है। इसने 1983 के भारत सरकार के 1 करोड़ 73 लाख और आपरेशंस रिसर्च ग्रुप के 4 करोड़ 40 लाख के आंकड़े को बहुत कम बताया और दलील दी कि चूंकि 5 से 15 वर्ष के आयु वर्ग के नौ करोड़ बच्चे स्कूल में नहीं जाते हैं इसीलिए इन सभी बच्चों को कामगार बच्चों की श्रेणी में रखा जाना चाहिए।

12. नीरा बुरा, "ओल्ड फ्लाज इन न्यू चाइल्ड लेबर बिल", *टाइम्स ऑफ इंडिया* (7 नवंबर, 1986)। वाल्टर फर्नांडीस और नीरा बुरा का *इंडियन एक्सप्रेस* (18 अगस्त 1986) में प्रकाशित लेख "ए लॉ दैट विल नाट प्रोटेक्ट" भी देखें।
13. वाल्टर फर्नांडीस, नीरा बुरा और तारा आनंद, *चाइल्ड लेबर इन इंडिया: ए समरी ऑफ रिपोर्ट प्रिपेयर्ड बाइ द इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट* (नई दिल्ली: इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट नवंबर, 1985)।
14. नीरा बुरा, "पे लेस, गेट मोर वर्क," *हिंदुस्तान टाइम्स संडे मैगजीन* (19, जनवरी 1986), *सोशल ऐक्शन 36* (जुलाई–सितंबर 1986) में पृ.241-263 पर प्रकाशित नीरा बुरा का लेख "चाइल्ड लेबर इन इंडिया: पावर्टी एक्सप्लायटेशन ऐंड वेस्टेड इन्ट्रेस्ट" तथा *इंडियन एक्सप्रेस* (28 जुलाई, 1985) में प्रकाशित शीला बर्से का लेख "लेजीटिमाइजिंग चाइल्ड लेबर" भी देखें।
15. *हिंदू* (17, अगस्त 25 जनवरी, और 21 अप्रैल 1986)
16. *सेमिनार ऑन वेज ऐंड मीस ऑफ एचिविंग द एलिमिनिशेन ऑफ द एक्सप्लायटेशन ऑफ चाइल्ड लेबर इन आल पार्ट ऑफ द वर्ल्ड* (जेनेवा: संयुक्त राष्ट्र, 22 जनवरी, 1986)
17. वही पृ. 6
18. वही पृ. 26
19. *रिपोर्ट ऑफ द डायरेक्टर जनरल टु द इंटरनेशलन कांफ्रेंस, 69 वां सेशन,* 1983 (जेनेवा: इंटरनेशनल लेबर ऑफिस, 1985)। विश्व स्तर पर बाल मजदूरी के सर्वेक्षण के लिए देखें *कंडीशंस ऑफ वर्क डाइजेस्ट: द एमरजिंग रिस्पांस टू चाइल्ड लेबर* खंड 7 सं. 1, 1988 (जेनेवा: इंटरनेशलन लेबर ऑफिस 1988) आइ.एल.ओ. के समझौतों का सार संकलन *चाइल्ड लेबर: ए ब्रीफिंग मैनुअल,* जेनेवा: इंटरनेशनल लेबर ऑफिस 1986) में दिया गया है। इस संदर्भ में ग्रंथ सूची के साथ देखें *एनोटेडेड बिब्लियोग्राफी आन चाइल्ड लेबर* (जेनेवा: इंटरनेशनल लेबर ऑफिस 1986)।
20. असेफा बेकेले, *टुवर्ड्स ए ग्लोबल प्रोग्राम ऑफ ऐक्शन ऑन चाइल्ड लेबर* (जेनेवा: कंडीशंस ऑफ वर्क ऐंड वेल्फेयर फेसेल्टीज ब्रांच, वर्किंग कंडीसंस ऐंड एन्वायर्नामेंट डिपार्टमेंट, इंटरनेशनल लेबर ऑफिस, सितंबर, 1985) असेफा बेकेले और जो बायडेन द्वारा संपादित काम्बैटिंग चाइल्ड लेबर (जेनेवा: इंटरनेशनल लेबर आफिस, 1988)। खासतौर से रमेश कनबर्गी का *चाइल्ड लेबर इन इंडिया: द कार्पेट इंडस्ट्रीज ऑफ वाराणसी,* पृ. 93–108 भी देखें। भारतीय परिस्थिति का अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा किये गये विश्लेषण के लिए देखें *'टुवर्ड्स ऐन ऐक्शन प्रोग्राम आन चाइल्ड लेबर, रिपोर्ट टु द गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐंड आइ.एल.ओ. टैक्नीकल मिशन* (कंडीशंस ऑफ वर्क ऐंड वेल्फेयर फेसेल्टीज ब्रांच, वर्किंग कंडीशंस ऐंड एन्वायरनमेंट डिपार्टमेंट, इंटरनेशनल लेबर ऑफिस, जेनेवा, अप्रैल 1984)। यह रिपोर्ट उस भारतीय दृष्टिकोण का समर्थन करती है जिसमें कहा गया है कि "बाल मजदूरी की

समाप्ति अनेक विकासशील देशों में बहुत जल्दी नहीं की जा सकती। आने वाले अनेक वर्षों तक लाखों बच्चे काम करते रहेंगे इसलिए इसकी समाप्ति होने से पूर्व के संक्रमण काल में जरूरी यह है कि बाल मजदूरी को नियमों के दायरे में बांधने और इसे मानवीय बनाने के उपाय किये जाएं।" (पृ.1)। अन्य अंतर्राष्ट्रीय संगठनों ने इस भारतीय स्थिति का समर्थन किया है। मिसाल के तौर पर देखें सुमंत बनर्जी का लेख "चाइल्ड लेबर इन इंडिया" (लंदनः ऐंटी स्लेवरी सोसाइटी, 1979) जिसमें लिखा है कि "उदारवादी भावनाओं को इस परिघटना के साथ उस समय तक रहना ही पड़ेगा जब तक देश के आर्थिक विकास का स्तर आज जैसा बना रहेगा।" इसी तरह के विचार गैरी रोजर्स और गाइ स्टैंडिंग द्वारा संपादित पुस्तक *चाइल्ड वर्क, पावर्टी ऐंड अंडर डेवलपमेंट* (जेनेवाः इंटरनेशनल लेबर ऑफिस, 1981) तथा *एक्सप्लायटेशन ऑफ वर्किंग चिल्ड्रेन ऐंड स्ट्रीट चिल्ड्रेन* (न्यूयार्कः यूनाइटेड नेशंस चिल्ड्रेन फंड्स, 1986) में भी देखे जा सकते हैं।

21. बेकेले, *टुवर्ड्स ए ग्लोबल प्रोग्राम ऑफ ऐक्शन आन चाइल्ड लेबर,* पृ. 51
22. वही पृ. 48–49
23. शिक्षा मंत्रालय, *चैलेंज ऑफ एजूकेशन–ए पालिसी पर्सपेक्टिव* (नई दिल्लीः भारत सरकार, 1985)
24. मानव संसाधन विकास मंत्रालय के शिक्षा विभाग के प्रकाशन *नेशनल पालिसी ऑन एजूकेशन 1986–प्रोग्राम ऑफ ऐक्शन* (नई दिल्ली, भारत सरकार, 1986) में सिफारिशों को विस्तार से दिया गया है।
25. शिक्षा मंत्रालय, *चेलैंज ऑफ एजूकेशन* पृ. 18
26. वही पृ. 36
27. वही पृ. 22
28. वही पृ. 57
29. भारतीय शैक्षणिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, *एजूकेशन ऐंड नेशनल डेवलपमेंटः रिपोर्ट ऑफ द एजूकेशन कमीशन 1964–66 खंड–2, स्कूल एजूकेशन* (नई दिल्ली, एन सी आर टी., 1970)
30. भारतीय शैक्षणिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, "फोर्थ आल इंडिया एजूकेशनल सर्वेः सम स्टैटिस्टिक्स आन स्कूल एजूकेशन" (नई दिल्ली, 1980)
31. नवोदय स्कूल्स– चाकिंग ए न्यू पाथ, "इंडिया टूडे (15 जून, 1988)
32. अनिल बोर्दिया, *वर्किंग पेपर ऑन चाइल्ड लेबर इन इंडिया– इम्प्लीकेशंस फार एजुकेशनल प्लानिंग,* आइ.एल.ओ. एशियन रिजनल ट्रीपार्टाइट वर्कशाप आन प्रैक्टिकल मेजर्स टु कम्बैट चाइल्ड लेबर, बैंकाक, सितंबर 1986 (नई दिल्लीः मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, 1986) पृ. 17। इस निबंध में बाल श्रम (निषेध और विनियमन) विधेयक तथा प्रस्तावित राष्ट्रीय शिक्षा नीति के बीच संबंधों का सुसंगत विश्लेषण किया गया है। श्री बोर्डिया दोनों विभागों में अधिकारी के रूप में काम कर चुके हैं और उन्होनें नई नीति

को तैयार करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

33. शिक्षा और समाज कल्याण मंत्रालय, *वर्किंग ग्रुप ऑन यूनिवर्सलाइजेशन ऑफ एलीमेंट्री एजूकेशन* (नई दिल्लीः भारत सरकार, 1977), पृ. 11–12
34. एजूकेशन फार आल ऐट स्नैल्स पेस "*ओवरसीज हिंदुस्तान टाइम्स* (30 मई, 1987)
35. उपेंद्र बक्शी, "ड्राफ्ट ग्रेजूएट्स फार एडल्ट लिटरेसी, "योजना (जनवरी, 1986), पृ. 66
36. "गांधी ऐट हार्वर्ड, एक्सटोल्स वर्चूज ऑफ इंडियाज डेमोक्रेसी," *बोस्टन ग्लोब* (19 अक्टूबर, 1987)।
37. असम प्राथमिक शिक्षा अधिनियम, 1974 (गुवाहाटीः असम सरकार, शिक्षा विभाग, 1974)
38. तमिलनाडु प्राथमिक शिक्षा अधिनियम (मद्रासः तमिलनाडु सरकार, 1973)
39. के.जी. सेइदेन, जे.पी. नायक और एस. आबिद हुसैन, *कंपल्सरी एजुकेशन इन इंडिया* (पेरिसः यूनेस्को, 1952 (पृ. 33), जे.पी. नायक ने 1948–1949 के लिए विभिन्न राज्यों में प्रवर्तन और दण्ड संबंधी आंकड़ों की समीक्षा की है। (पृ. 68–72)
40. आजादी से पूर्व भारत में अनिवार्य शिक्षा शुरू करने के प्रयासों के इतिहास की जानकारी के लिए देखें *कंपल्सरी एजूकेशन इन साउथ एशिया ऐंड द पैसेफिक, रिपोर्ट ऑफ द बाम्बे कांफ्रेंस,* (दिसंबर 1952)। "स्टडीज इन कंपल्सरी एजूकेशन" (पेरिसः यूनेस्को, 1954)। प्राथमिक शिक्षा को आजादी के बाद सार्वभौम बनाने के असफल प्रयासों के विश्लेषण के लिए देखें जान कूरियन, *एलीमेंट्री एजूकेशन इन इंडियाः रियलटी, अल्टरनेटिव,* (नई दिल्लीः विकास पब्लिशिंग 1983)
41. साइदेन, नायक और हुसैन, *कंपल्सरी एजूकेशन इन इंडिया,* पृ. 35
42. 1981 में बड़ौदा में साक्षरता दर 68 प्रतिशत थी जो भारत के शहरी क्षेत्रों में व्याप्त 57 प्रतिशत की दर से काफी ज्यादा थी। अन्य शहर जिनकी आबादी पांच लाख से अधिक थी और जहां साक्षरता दर 65 प्रतिशत से ज्यादा थी उनके नाम हैं कलकत्ता, (66 प्रतिशत), बंबई (68 प्रतिशत), मद्रास (66 प्रतिशत), पुणे (67 प्रतिशत), नागपुर (66 प्रतिशत), कोयम्बटूर (66 प्रतिशत), मदुरै (67 प्रतिशत), कोचिन (78 प्रतिशत), उल्हासनगर (66 प्रतिशत), त्रिचुरापल्ली (69 प्रतिशत), कालीकट (73 प्रतिशत) और त्रिवेंद्रम (76 प्रतिशत)
43. पी.आर. गोपीनाथन नायर, *प्राइमरी एजूकेशन, पापुलेशन ग्रोथ ऐंड सोशियोइकोनामिक चेंज (ए कम्परेटिव स्टडी विद पर्टिकुलर रिफरेंश टु केरल,* (नई दिल्ली, एलायड पब्लिशर्स 1981)।
44. शिव कुमार सैनी की पुस्तक *डेवलपमेंट ऑफ एजूकेशन इन इंडियाः सोशियों इकोनामिक ऐंड पोलिटिकल पर्सपेक्टिव* (नई दिल्ली, कास्मो पब्लिकेशंस, 1980) में पृ. 64 पर उद्धत।
45. वही, पृ. 73। भारत में शिक्षा के क्षेत्र में सुधार के लिए जो भी सिफ़ारिशें की

गयी हैं उनमें से अधिकांश की मुख्य थीम स्कूल के प्रारंभिक वर्षों में लोगों को व्यावसायिक प्रशिक्षण देने की धारणा से संबंधित है। प्रारंभिक कक्षाओं में व्यावसायिक शिक्षा के आलोचनात्मक आकलन के लिए देखें जार्ज सकारोपुलस की पुस्तक टु *वोकेशनलाइज आर नाट टु वोकेशनलाइज? दैट इज द करीकुलम क्वेश्चन* (वाशिंगटन डी.सी.: वर्ल्ड बैंक, एजूकेशन ऐंड ट्रेनिंग डिपार्टमेंट, रिपोर्ट नं. ई. डी.टी. 31, 1986)। साकरोपुलस आम शिक्षा के साथ व्यावसायिक प्रशिक्षण को शामिल करने के महत्व पर सवाल उठाते हैं और दलील देते हैं कि उच्च कक्षाओं के लिए पृथक व्यावसायिक प्रशिक्षण संस्थान या रोजगार आधारित प्रशिक्षण व्यवस्था होनी चाहिए। उनका कहना है कि कृषि उत्पादकता बढ़ाने के साधन के रूप में पाठ्यक्रम का "ग्रामीणीकरण" करने के प्रयासों की बजाय अगर प्राइमरी स्तर पर सामान्य पाठ्यक्रम में साक्षरता और ग्रामीण गणित को शामिल करने पर जोर दिया गया तो वह ज्यादा उपयोगी होगा। इसके अलावा साकरोपुलस ने अनेक गांवों के अध्ययन के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि व्यावसायिक प्रशिक्षण केंद्रों और सामान्य शिक्षा संसाधनों से निकले स्नातकों को श्रम बाजार ने समान रूप से अपने यहां खपा लिया और उनका यह भी कहना है कि व्यावसायिक प्रशिक्षण में लगायी गयी पूंजी पर मिलने वाला लाभ परंपरागत शिक्षा में लगायी गयी पूंजी पर मिलने वाले लाभ के मुकाबले कम रहा है।

46. सेजीलेन, नायक और हुसैन, *कंपल्सरी एजूकेशन इन इंडिया*, पृ. 132
47. केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद की रिपोर्ट– *पोस्ट वार एजूकेशनल डेवलपमेंट इन इंडिया* (नई दिल्ली, जनवरी 1944)
48. भारत सरकार का योजना आयोग, *फर्स्ट फाइव इयर प्लान* (दिल्ली: भारत सरकार, 1952)
49. इंडियन कमेटी फार कल्चरल फ्रीडम, *स्टडीज ऑन द प्लान फ्रेम* (बंबई, आई सी. सी. एफ. 1956)। इस रिपोर्ट के रचयिता विख्यात अर्थशास्त्री, अधिकारी तथा अन्य बुद्धिजीवी थे। जब इन्होंने योजना में विशाल परियोजनाओं पर ध्यान देने तथा शिक्षा एवं अन्य सामाजिक सेवाओं की उपेक्षा करने की आलोचना की तो इन्हें दकियानूस कहा गया।

6
ऐतिहासिक तुलनाएं: विकसित औद्योगिक देश

गरीबों के बच्चों को श्रम शक्ति से अलग कर स्कूलों में डालने की धारणा बहुत आधुनिक है। अब से कुछ शताब्दी पूर्व तक हर जगह बच्चे अपने मां-बाप के साथ काम करते थे, भोजन जुटाने, शिकार करने, फसल तैयार करने, पानी लाने, ईंधन के लिए लकड़ी जुटाने, मवेशियों की देखभाल करने और घरेलू कामों में हाथ बंटाने की कला मां-बाप के साथ काम करते समय सीख लेते थे। केवल सुविधाजीवी वर्ग के बच्चे ही शारीरिक काम से मुक्ति पाते थे और इस प्रक्रिया में वे अपने मां-बाप, पुरोहितों, जमींदारों और शासकों की खूबियां अपना लेते थे जिनका नियंत्रण पूरी तरह संपत्ति ज्ञान और सत्ता पर होता था। यही नियंत्रण उन्हें अपने बच्चों को शिक्षा के योग्य बनाता था ताकि बच्चे भी अपने मां-बाप की भूमिका निभा सकें। इसके बाद सामाजिक पुनर्उत्पादन की एक प्रक्रिया शुरू हुई जिसमें शैक्षणिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं ने नए सामाजिक वर्गों को जन्म दिया।

आधुनिक समाजों की एक विशिष्टता यह है कि वे सामाजिक पुनर्उत्पादन के सिद्धान्त को बदलती है। अब यह माना गया है कि जरूरी नहीं कि बच्चे वही करें जो उनके मां-बाप करते रहे हैं। निश्चय ही जिस तरह आधुनिक समाज पेशागत संरचना के मामले में निरंतर परिवर्तित हो रहा है, यह जरूरी हो गया है कि अर्थव्यवस्था के विस्तार के बीच बच्चों को ऐसे कामों का प्रशिक्षण दिया जाए जो उनके मां-बाप के कामों से भिन्न हो। पीढ़ी–दर–पीढ़ी गतिशीलता की एक कुंजी शिक्षा है। शिक्षा से पेशागत गतिशीलता निश्चय

गयी हैं उनमें से अधिकांश की मुख्य थीम स्कूल के प्रारंभिक वर्षों में लोगों को व्यावसायिक प्रशिक्षण देने की धारणा से संबंधित है। प्रारंभिक कक्षाओं में व्यावसायिक शिक्षा के आलोचनात्मक आकलन के लिए देखें जार्ज सकारोपुलस की पुस्तक टु *वोकेशनलाइज आर नाट टु वोकेशनलाइज?* दैट इज द करीकुलम क्वेश्चन (वाशिंगटन डी.सी.: वर्ल्ड बैंक, एजूकेशन ऐंड ट्रेनिंग डिपार्टमेंट, रिपोर्ट नं. ई. डी.टी. 31, 1986)। साकरोपुलस आम शिक्षा के साथ व्यावसायिक प्रशिक्षण को शामिल करने के महत्व पर सवाल उठाते हैं और दलील देते हैं कि उच्च कक्षाओं के लिए पृथक व्यावसायिक प्रशिक्षण संस्थान या रोजगार आधारित प्रशिक्षण व्यवस्था होनी चाहिए। उनका कहना है कि कृषि उत्पादकता बढ़ाने के साधन के रूप में पाठ्यक्रम का "ग्रामीणीकरण" करने के प्रयासों की बजाय अगर प्राइमरी स्तर पर सामान्य पाठ्यक्रम में साक्षरता और ग्रामीण गणित को शामिल करने पर जोर दिया गया तो वह ज्यादा उपयोगी होगा। इसके अलावा साकरोपुलस ने अनेक गांवों के अध्ययन के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि व्यावसायिक प्रशिक्षण केंद्रों और सामान्य शिक्षा संसाधनों से निकले स्नातकों को श्रम बाजार ने समान रूप से अपने यहां खपा लिया और उनका यह भी कहना है कि व्यावसायिक प्रशिक्षण में लगायी गयी पूंजी पर मिलने वाला लाभ परंपरागत शिक्षा में लगायी गयी पूंजी पर मिलने वाले लाभ के मुकाबले कम रहा है।

46. सेजीलेन, नायक और हुसैन, *कंपल्सरी एजूकेशन इन इंडिया*, पृ. 132
47. केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद की रिपोर्ट– *पोस्ट वार एजूकेशनल डेवलपमेंट इन इंडिया* (नई दिल्ली, जनवरी 1944)
48. भारत सरकार का योजना आयोग, *फर्स्ट फाइव इयर प्लान* (दिल्ली: भारत सरकार, 1952)
49. इंडियन कमेटी फार कल्चरल फ्रीडम, *स्टडीज ऑन द प्लान फ्रेम* (बंबई, आई सी. सी. एफ. 1956)। इस रिपोर्ट के रचयिता विख्यात अर्थशास्त्री, अधिकारी तथा अन्य बुद्धिजीवी थे। जब इन्होंने योजना में विशाल परियोजनाओं पर ध्यान देने तथा शिक्षा एवं अन्य सामाजिक सेवाओं की उपेक्षा करने की आलोचना की तो इन्हें दकियानूस कहा गया।

6

ऐतिहासिक तुलनाएं: विकसित औद्योगिक देश

गरीबों के बच्चों को श्रम शक्ति से अलग कर स्कूलों में डालने की धारणा बहुत आधुनिक है। अब से कुछ शताब्दी पूर्व तक हर जगह बच्चे अपने मां-बाप के साथ काम करते थे, भोजन जुटाने, शिकार करने, फसल तैयार करने, पानी लाने, ईंधन के लिए लकड़ी जुटाने, मवेशियों की देखभाल करने और घरेलू कामों में हाथ बंटाने की कला मां-बाप के साथ काम करते समय सीख लेते थे। केवल सुविधाजीवी वर्ग के बच्चे ही शारीरिक काम से मुक्ति पाते थे और इस प्रक्रिया में वे अपने मां-बाप, पुरोहितों, जमींदारों और शासकों की खूबियां अपना लेते थे जिनका नियंत्रण पूरी तरह संपत्ति ज्ञान और सत्ता पर होता था। यही नियंत्रण उन्हें अपने बच्चों को शिक्षा के योग्य बनाता था ताकि बच्चे भी अपने मां-बाप की भूमिका निभा सकें। इसके बाद सामाजिक पुनर्उत्पादन की एक प्रक्रिया शुरू हुई जिसमें शैक्षणिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं ने नए सामाजिक वर्गों को जन्म दिया।

आधुनिक समाजों की एक विशिष्टता यह है कि वे सामाजिक पुनर्उत्पादन के सिद्धान्त को बदलती है। अब यह माना गया है कि जरूरी नहीं कि बच्चे वही करें जो उनके मां-बाप करते रहे हैं। निश्चय ही जिस तरह आधुनिक समाज पेशागत संरचना के मामले में निरंतर परिवर्तित हो रहा है, यह जरूरी हो गया है कि अर्थव्यवस्था के विस्तार के बीच बच्चों को ऐसे कामों का प्रशिक्षण दिया जाए जो उनके मां-बाप के कामों से भिन्न हो। पीढ़ी–दर–पीढ़ी गतिशीलता की एक कुंजी शिक्षा है। शिक्षा से पेशागत गतिशीलता निश्चय

ही सुनिश्चित नहीं होती है लेकिन आधुनिक औद्योगिक समाजों में शिक्षा के बिना इस गतिशीलता को बनाए रखना काफी कठिन होता है।

बाल श्रम की शुरूआत न तो औद्योगीकरण के कारण हुई और न यह पूंजीवाद का परिणाम है। यह काम और मां-बाप के संदर्भ में बच्चे के प्रति औद्योगिक परिघटना से पूर्व की परंपरागत अवधारणा का प्रतिनिधित्व करता है। अधिकांश समाजों में परम्परागत अवधारणा यह है कि बच्चों का सामाजीकरण इसलिए किया जाना चाहिए ताकि वे परिवार की देखरेख में अपना योगदान कर सकें। जीवन के प्रारंभिक दौर में ही काम के प्रशिक्षण के जरिए बच्चे वयस्क होने की प्रक्रिया से जुड़ जाते हैं। सामूहिक कल्याण के प्रति संवेदनशील होने की रणनीति विकसित करने में व्यक्ति नहीं बल्कि परिवार सामाजिक क्रिया की इकाई है।

19वीं शताब्दी के यूरोप में बाल श्रम अपने पूर्ववर्ती काल के मुकाबले गुणात्मक रूप से भिन्न था। उन दिनों बच्चे कारखानों में अथवा मालिकों के यहां मजदूरी के लिए काम करते थे। कुछ बच्चे घरों में और बस्तियों में अपने मां-बाप के साथ काम करते थे जिन्हें बदले में इतना कुछ मिल जाता था कि वे अपने घर का खर्च चला सकें। औद्योगीकरण ने मजदूर वर्ग के परिवारों के लिए रोजगार के अवसरों में वृद्धि की। शहरी मजदूर वर्ग के परिवार रोज की दिहाड़ी पर निर्भर रहते थे और इस प्रक्रिया में जिस जोखिम का सामना करना पड़ता था उसे कम करने के लिए उन्होंने अपने बच्चों को भी रोजगार में लगाया। बच्चों के काम अधिक से अधिक खतरनाक होते गए– मशीनों और रसायनों ने उनके लिए खतरा पैदा किया, काम के स्थानों में हवा और रोशनी का अभाव होता था, काम के घंटे काफी होते थे और उन्हें पैसे भी कम मिलते थे (यद्यपि इन्हें मिलने वाले पैसे अपने मां-बाप के साथ खेतों में काम करने के मुकाबले ज्यादा होते थे)।

काम की यह स्थितियां अभी और व्यापक रूप ले पातीं इससे पहले ही उन स्थितियों पर प्रतिबंध लगाने की भावना पैदा हुई जिनमें बच्चों को काम करना पड़ता था। काफी पहले सन 1284 में वेनेटियन ग्लास मेकर्स ने एक कानून के जरिये शीशा बनाने के अपने व्यवसाय की कुछ खतरनाक शाखाओं में बच्चों के रोजगार पर पाबंदी लगा दी और सन् 1396 में कुछ खास व्यवसायों में तेरह वर्ष से कम उम्र की बच्चों के काम करने पर भी रोक लगायी गयी। फिलिप ऐरिस द्वारा किये गये एक दस्तावेज के अनुसार बालपन की खोज यूरोप में तेरहवीं शताब्दी में हुई लेकिन सोलहवीं शताब्दी की समाप्ति और सत्रहवीं शताब्दी की शुरुआत तक इसे काफी महत्व दिया जाने लगा।[1] 18वीं शताब्दी में किशोरवय की अवधारणा ने जन्म लिया जो बालपन से भिन्न थी। समय बीतने के साथ परिवार की मुख्य चिंता के दायरे

में बच्चे आ गये। जैसा कि विवियन जेलिजर ने लिखा है कि बच्चों को "अमूल्य निधि"[2] समझा जाने लगा। पैसा कमाने वाले बहुमूल्य तत्व से बच्चों का रूपांतरण आर्थिक दृष्टि से व्यर्थ तत्व के रूप में हो गया था लेकिन भावनात्मक दृष्टि से इन्हें एक अमूल्य निधि समझा जाने लगा था। यह रूपांतरण सार्वजनिक तौर पर किसी लंबी चौड़ी बहस के बाद नहीं हुआ था। और उच्च तथा मध्य वर्ग के लोग अपने बच्चों के बारे में यह दृष्टिकोण तो अपनाते थे लेकिन गरीबों के बच्चों पर यही बात वे तुरत लागू नहीं कर पाते थे।

19वीं शताब्दी से ही यह धारणा मजबूत हो सकी कि बच्चों पर ध्यान दिया जाए और सरकारों ने बच्चों के रोजगार की स्थितियों के लिए कुछ नियम बनाने शुरू किए तथा आयु की वह सीमा निर्धारित की जिसके बाद बच्चों से काम लिया जा सकता था। तो भी शुरू के दिनों के बहुत सारे कानून अप्रभावकारी साबित हुए यद्यपि इन कानूनों के बनने में जो समय लगा वह अपने आप में यह बताता है कि बच्चों और उनके काम के प्रति दृष्टिकोण में किस तरह परिवर्तन होता गया और किस प्रकार मालिकों तथा मां-बाप के मुकाबले राज्य बच्चों को संरक्षण देने की जिम्मेदारी निभाने की दिशा में बढ़ता गया।

बच्चों के रोजगार के प्रति दृष्टिकोण का उनकी शिक्षा से संबंधित भावनाओं के साथ घनिष्ठ संबंध कायम हो गया। प्रोटेस्टेंट रिफारमेशन के साथ यह दृष्टिकोण सामने आया कि हर व्यक्ति को इस योग्य होना चाहिए कि वह खुद बाइबिल पढ़ सके। प्रोटेस्टेंट चर्चों और पादरियों ने बच्चों को पढ़ाने और लिखाने की जिम्मेदारी अपने हाथ में ले ली। शिक्षा के क्षेत्र में राज्य के प्रवेश करने से काफी पूर्व सभ्य समाज ने अपने खुद के स्कूलों की स्थापना कर दी थी। जब राज्य ने स्कूलों की स्थापना की तो यह प्राइवेट शिक्षा व्यवस्था को समाप्त कर उसका स्थान लेने के लिए नहीं था बल्कि उस प्रयास को और मजबूती देने के लिए किया गया था। लेकिन किसी ऐतिहासिक क्षण में प्रत्येक औद्योगिक देश ने अनिवार्य शिक्षा के सिद्धान्त की शुरुआत की। फिर यह व्यवस्था हुई कि मां-बाप कितने ही गरीब क्यों न हों, उन्हें इस बात की इजाजत नहीं दी जा सकती कि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजने की बजाय काम पर लगाएं। अभी भी बच्चे घर पर परिवार की मदद कर सकते थे, खेतों में काम कर सकते थे, यहां तक कि कारखानों में अथवा दुकानों में भी नौकरी कर सकते थे लेकिन दिन के एक खास हिस्से में उनके लिए स्कूल जाना अनिवार्य था। यह बात एक देश से दूसरे देश में भिन्न थी कि उन्हें कितने घंटे और कितने वर्ष तक स्कूली शिक्षा प्राप्त करनी है। इस बात में भी भिन्नता थी कि उन्हें क्या पढ़ाया जाये और राज्य

द्वारा संचालित स्कूलों में धर्म को कितना स्थान दिया जाए लेकिन एक बार राज्य की नीति के मामले में जब अनिवार्य शिक्षा का सिद्धान्त स्थापित हो गया तो इन सवालों को सार्वजनिक बहस के लिए छोड़ दिया गया।

अनिवार्य शिक्षा को शुरुआती वर्षों में बच्चों के लिए छह वर्ष से आठ या दस वर्ष की उम्र तक के लिए निश्चित किया गया। समय बीतने के साथ ही इसका विस्तार करते हुए इसे प्राथमिक से माध्यमिक स्कूलों तक ला दिया गया। चूंकि स्कूल जाने के न्यूनतम वर्षों में वृद्धि कर दी गयी इसलिए बच्चों के रोजगार पर भी प्रतिबंध लग गया– यह सीमित कर दिया गया कि वे कितने घंटे तक काम कर सकते हैं, किस तरह के काम कर सकते हैं और उन्हें काम करने की न्यूनतम आयु क्या होनी चाहिए। आम लोगों के बीच बालपन को नए सिरे से परिभाषित करने की प्रक्रिया शुरू हो गयी।

इस काल के सभी विकसित देशों को इस प्रक्रिया से गुजरना पड़ा लेकिन हर देश के लिए तरीका और समय भिन्न–भिन्न था। औद्योगिक विकास और शहरीकरण की रफ्तार बहुत महत्वपूर्ण थी लेकिन इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण यह था कि जनशिक्षा और कहीं–कहीं अनिवार्य शिक्षा का काम प्रायः औद्योगीकरण और शहरीकरण से पहले शुरू हुआ। यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिकीकरण की अवधारणा कम से कम शिक्षा के संदर्भ में कभी–कभी आधुनिक समाज और आधुनिक अर्थव्यवस्था के यथार्थ से पूर्व पैदा हुई। मिसाल के तौर पर जापान में जनशिक्षा का प्रसार 18वीं शताब्दी और 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में शुरू हुआ तथा बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण के पूर्व मेजी शासन ने सबको अनिवार्य शिक्षा की योजना लागू कर दी। स्काटलैंड में राज्य ने 18वीं शताब्दी में शिक्षा को प्रोत्साहित किया और स्वीडन तथा प्रशिया के राज्यों ने अनिवार्य शिक्षा लागू करने तथा बाल श्रम को नियमित करने की दिशा मे 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में कदम उठाया।

19वीं शताब्दी से ही– और कुछ देशों में इससे भी पहले से– लोक शिक्षा की दिशा में प्रमुख चालक शक्ति राज्य का हस्तक्षेप था जिसने करों से संचालित स्कूलों में निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की और ऐसे कानून लागू किये जिनमें मां-बाप के लिए यह अनिवार्यता थी कि वे अपने बच्चों को इन स्कूलों में भेजें। स्काटलैंड में औपनिवेशिक मासाच्यूसेट्स और जर्मनी में प्रोटेस्टेंट नेताओं ने यह मानकर कि मुक्ति के लिए शिक्षा जरूरी है, अपनी सरकारों पर सफलतापूर्वक दबाव डाला कि वे शिक्षा को अनिवार्य बनाएं। 1524 ई. में मार्टिन लूथर ने जर्मनी की नगर पालिकाओं को एक पत्र लिखकर इस बात पर जोर दिया कि यह उनका कर्तव्य है कि वे पढ़ने के लिए स्कूल प्रदान करें और मां-बाप का यह कर्तव्य है कि वे अपने बच्चों को स्कूलों में भेजें। स्काटलैंड में जॉन नाक्स ने इसी तरह के एक धार्मिक

प्रभाव का इस्तेमाल किया। 1647 ई. में मैसाच्यूसेट्स ने "ओल्ड डेल्यूडर साटन लॉ" पारित किया जिसके जरिए स्थानीय अधिकारियों को इस बात के लिए मजबूर किया गया था कि वे अनिवार्य प्राथमिक स्कूलों की स्थापना करें। (इस कानून का नाम इसलिए ऐसा दिया गया था क्योंकि बूढ़े साटन ने लोगों को धर्मशास्त्रों का ज्ञान कराया था)। स्वीडन में 1723 ई. में एक शाही शासनादेश के जरिये मां-बाप और अभिभावकों को निर्देश दिया गया कि वे "इस बात पर कड़ाई से ध्यान दें कि उनके बच्चे खुद को पुस्तकें पढ़ने तथा कैटिकिज्म के पाठों का अध्ययन करने में लगाते हैं या नहीं।" ऐसा न करने पर उन पर जुर्माना किया जा सकता था और इस जुर्माने की राशि का इस्तेमाल "गिरजाघरों में गरीब बच्चों को शिक्षा देने में" किया जायेगा।[3] यूरोप में एक के बाद एक अनेक देशों ने-शुरू में स्काटलैंड, प्रशिया, आस्ट्रिया, और स्वीडन ने और बाद में फ्रांस, इंग्लैंड तथा इटली ने अपने यहां शिक्षा को अनिवार्य बना दिया। 19वीं शताब्दी के अंत में गैर पश्चिमी देशों में जापान पहला देश था जिसने प्राथमिक स्कूली शिक्षा को अपने यहां अनिवार्य बनाया और इसके लिए 1872 में मेजी सरकार ने एक घोषणा की तथा 1890 में "इम्पीरियल रिसक्रिप्ट ऑन एजूकेशन" लागू किया गया। बाद के वर्षों में अन्य गैर पश्चिमी देशों ने शिक्षा को अनिवार्य बनाया जिनमें दक्षिण कोरिया और ताइवान ऐसे देश हैं जिन्होंने सफलतापूर्वक अपने यहां इसे लागू किया।

इन ऐतिहासिक दृष्टांतों से तीन मुद्दे उभर कर आते हैं। पहला तो यह कि वह कौन सी बात थी जिसने साक्षरता तथा सबको शिक्षा प्रदान करने की दिशा में चालक शक्ति का काम किया। अगर कुछ बुनियादी आर्थिक तथा प्रौद्योगिक परिवर्तन नहीं हुए होते तो क्या राज्य का यह हस्तक्षेप सफल हो पाता? यह दलील दी जाती है कि प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में परिवर्तनों ने अकुशल मजदूरों और इस प्रकार बाल श्रमिकों की जरूरत में कमी ला दी। जैसे ही मजदूर वर्ग की आय में वृद्धि हुई, मां-बाप को बच्चों से होने वाली आय की जरूरत समाप्त हो गयी। अब मां-बाप इस स्थिति में हो गये थे कि वे अपनी अतिरिक्त आय को अपने बच्चों के लिए स्कूली शिक्षा दिलाने पर खर्च कर सकें। यद्यपि इन परिवर्तनों से राज्य के हस्तक्षेप की व्याख्या नहीं की जा सकती फिर भी इन परिवर्तनों के बिना राज्य का हस्तक्षेप संभव नहीं हो सकता था।

वैसे तो यह दलील अनेक मामलों पर ठीक बैठती है लेकिन तुलनात्मक विश्लेषण करने पर यह टिक नहीं पाती क्योंकि ऐसे ढेर सारे मामले हैं जहां अकुशल मजदूरों की जरूरत में कमी अथवा परिवार की आय में वृद्धि की घटना से पूर्व ही राज्य ने शिक्षा को अनिवार्य बनाया। बेशक कई मामलों में

इसकी उल्टी दलील भी दी जा सकती है—बाल श्रमिकों की उपलब्धता में कमी ने प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में परिवर्तन की जरूरत को बढ़ाया और बच्चों के रोजगार में कमी ने वयस्क रोजगार और आय में वृद्धि की। तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में अगर इसे देखें तो राज्य के हस्तक्षेप के समय तथा किसी देश के विकास के स्तर में परस्पर कोई संबंध नहीं है। इसके अलावा कभी—कभी जनशिक्षा के प्रसार का काम राज्य के हस्तक्षेप तथा आर्थिक विकास से पूर्व शुरू हुआ। मिसाल के तौर पर स्काटलैंड और स्वीडन में 18वीं शताब्दी में ही लगभग सबको शिक्षा का लक्ष्य प्राप्त कर लिया गया था जबकि इन दोनों देशों में से कोई भी अभी औद्योगीकरण की सुविधा से संपन्न नहीं हो पाए थे और यहां राज्य का हस्तक्षेप भी नहीं था। इसी प्रकार जापान में भी उसके विकास से पूर्व ही साक्षरता अपने उच्च स्तर पर पहुंच चुकी थी यद्यपि यहां सबको शिक्षा उपलब्ध कराने के काम में राज्य ने हस्तक्षेप किया था। ताइवान और दक्षिण कोरिया में राज्य ने राष्ट्रीय प्राथमिक शिक्षा प्रणाली की शुरुआत उस समय की जब यहां प्रति व्यक्ति आय आज के भारत के मुकाबले थी। और जब साक्षरता दर भी काफी कम थी। इसके विपरीत औद्योगिक दृष्टि से साधन संपन्न ब्रिटेन ने 1881 तक शिक्षा को अनिवार्य नहीं किया था। समय के मामले में अगर किसी तरह का सामान्यीकरण करना है तो यह देखा जा सकता है कि प्रायः औद्योगीकरण से पूर्व बड़े पैमाने पर साक्षरता का काम शुरू हो गया था। मोटे तौर पर पश्चिमी यूरोप के अनेक देश 19वीं शताब्दी के प्रांरभ में ही साक्षर हो गए थे और मेजी शासनकाल के दौरान जापान में साक्षरता का एक उच्च स्तर था। अकुशल मजदूरों की जरूरत में कमी की बजाय साक्षरता के उच्च स्तर ने राज्यों द्वारा अनिवार्य शिक्षा की शुरुआत को सुविधाजनक बनाया।

दूसरी बात यह देखने की है कि परिवार की सामाजिक और आर्थिक आकांक्षाओं के संदर्भ में बच्चे के पुनर्मूल्यांकन तथा जनशिक्षा के प्रसार के बीच क्या संबंध था? क्या गतिशीलता के बढ़े हुए अवसरों ने परिवारों को इस निष्कर्ष की ओर जाने के लिए प्रेरित किया कि बच्चों को कम उम्र में नौकरी पर भेजने की बजाय वे उन्हें शिक्षा दिलाने में पैसा खर्च करें अथवा इसके विकल्प रूप में क्या बड़े पैमाने पर शिक्षा की उपलब्धता, धार्मिक नेताओं और संस्थाओं द्वारा शिक्षा के लिए दबाव और राज्य की स्वीकृति ने परिवारों को शिक्षा तथा बच्चों के काम के बीच संबंधों पर नए सिरे से विचार करने के लिए प्रेरित किया? ऐसा कैसे हुआ कि बच्चों को "अमूल्यनिधि" समझा जाने लगा, उनकी शिक्षा और खुशहाली को मां-बाप की खुशहाली से बढ़कर स्थान दिया जाने लगा? क्या सांस्कृतिक परिवर्तनों ने—धर्म, उदारतावाद, धर्मनिरपेक्षता के प्रभाव ने बच्चों के प्रति इन नए दृष्टिकोणों को पैदा किया

और इस प्रकार राज्य के हस्तक्षेप का मार्ग सुलभ किया अथवा क्या अर्थव्यवस्था तथा राज्य के व्यवहार में आए परिवर्तनों ने बच्चों के प्रति परिवार के दृष्टिकोण को आकार दिया?

निश्चय ही इसका जवाब सभी समाजों के लिए समान नहीं हो सकता। कुछ संस्कृतियों में कम आय वाले मां-बाप भी अपने बच्चों की शिक्षा के प्रति बहुत उत्सुक दिखाई देते हैं जबकि कुछ अन्य संस्कृतियों में समान आर्थिक स्थितियों के बावजूद मां-बाप अपने बच्चों से काम कराना ही पसंद करते है। इसके अलावा कुछ संस्कृतियों में शिक्षा को आंतरिक अच्छाई के लिए उचित माना जाता है जबकि अन्य संस्कृतियों में यह देखा जाता है कि इससे भौतिक लाभ हो सकता है। एक बात और स्पष्ट है कि कई समाजों में यह भी देखा गया है कि परिवार के अंदर आय को छोटे से बड़े की तरफ नहीं बल्कि बड़े से छोटे की तरफ हस्तांतरित किया जाता है। बड़े परिवार से छोटे परिवार की ओर आबादी के इस संक्रमण को समझने के लिए एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को आय का हस्तांतरण समझना बहुत जरूरी है। अगर बच्चों को लाभ की बजाय लागत मान लिया जाएगा यानी अर्थशास्त्र की शब्दावली में कहें तो निवेश की बजाय अगर उन्हें उपभोक्ता सामग्री मान लिया जाएगा तो उर्वरता की दर में गिरावट आयेगी। यह सही है कि जिन समाजों में सबको शिक्षा उपलब्ध है वहां उर्वरता दर कम नहीं है (अन्य कारकों का भी हस्तक्षेप हो सकता है) लेकिन निम्न उर्वरता वाले सभी समाजों में सबको शिक्षा उपलब्ध है।

तीसरी बात यह देखने की है कि जनशिक्षा के प्रसार, अनिवार्य शिक्षा की शुरुआत और बाल श्रम की समाप्ति के बीच क्या संबंध था? क्या किसी ऐसे समाज में बालश्रम को समाप्त किया जा सकता है जिसमें शिक्षा सबके लिए सुलभ नही है? जिन ऐतिहासिक उदाहरणों का यहां विवरण दिया गया है उनसे अनिवार्य शिक्षा और बाल श्रम कानूनों के बीच संबंध का पता चलता है। जनशिक्षा के प्रसार के साथ राज्य स्तर पर उन मां-बाप से निबटने का तरीका शुरू किया गया जिन्होंने अपने बच्चों को स्कूल भेजने की बजाय मजदूरी करने के लिए भेजना मुनासिब समझा और ये लोग प्रायः निम्न वर्ग से आते थे। जब तक सभी बच्चों के लिए स्कूल जाना जरूरी न हो जाए बाल श्रम से संबंधित कानूनों को लागू नहीं किया जा सकता—यह साबित हो चुका है। इसके बाद स्कूल जाने की न्यूनतम आयु में जैसे ही वृद्धि की गयी उसी के अनुसार बाल श्रम के क्षेत्र में भी प्रवेश के लिए न्यूनतम आयु को बढा दिया गया। एक के बाद एक अनेक देशों ने नियमों की एक प्रणाली विकसित की जिनमें बताया गया था कि कब और किन परिस्थितियों में बच्चे मजदूरी कर सकते हैं और आमतौर से इसके लिए

राज्य द्वारा वर्क परमिट प्रदान किया गया। रोजगार पाने के लिए वर्क परमिट दिए जाने से पूर्व आयु से संबंधित प्रमाण पत्र और साथ में इस बात का भी प्रमाणपत्र कि कितने वर्ष स्कूल में बिताए गए हैं, देना जरूरी हो गया था।

मजदूरी के काम से बच्चों को अलग रखने और उन्हें स्कूल भेजने के मामले में राज्य का हस्तक्षेप प्रायः राजनीतिक तौर से विवादास्पद रहा है। कइयों ने इसे अनुचित अथवा अयथार्थवादी माना कि गरीब परिवारों के मां-बाप को एक बार फिर यह मजबूर किया जाए कि वे अपने बच्चों को स्कूल में भेजें। इस अवधारणा को कि बच्चों को काम नहीं करना चाहिए, कि उन्हें स्कूल जाना चाहिए और यह कि राज्य को दोनों चीजों की गारंटी देनी चाहिए, कुछ समाजों के कट्टरपंथियों और वामपंथियों दोनों ने अस्वीकार किया यद्यपि दोनों के अस्वीकार के अलग-अलग परिप्रेक्ष्य थे। वामपंथी विचारधारा से जुड़े लोगों ने दलील दी कि पूंजीवादी शोषणकारी व्यवस्था में बाल श्रम को सहज माना जाता है और मां-बाप को अपने बच्चों से होने वाली आय की जरूरत होती है। दक्षिणपंथी विचारधारा के लोगों का कहना था कि उद्योगों को कम वेतनवाले बाल मजदूरों की जरूरत होती है, कि गरीब बच्चों को एक सीमा से आगे पढ़ाकर राज्य को समाज व्यवस्था में विघटन नहीं लाना चाहिए, कि स्कूलों द्वारा दी जा रही शिक्षा गरीबों की जरूरतों के प्रतिकूल है और यह कि बाल श्रम ने गरीबों की देखभाल करने की राज्य की परेशानी को कम कर दिया है। कुछ ऐसे लोग भी थे जिन्होंने यह माना कि बाल श्रम से संबंधित कानूनों को लागू ही नहीं किया जा सकता और थोड़ा और दार्शनिक आधार पर देखें तो उन्होंने राज्य के हस्तक्षेप को मां-बाप के अधिकार के संदर्भ में उपयुक्त नहीं माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य के हस्तक्षेप के विरोध को बच्चों और काम की अवधारणा से जोड़ दिया गया, राज्य के अधिकारों और दायित्वों बनाम मां-बाप के अधिकारों और दायित्वों के सवाल से जोड दिया गया और पूंजीवादी व्यवस्था के स्वरूप से जोड़ दिया गया। इस संदर्भ में 19वीं शताब्दी की एक बहस बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे पता चलता है कि उस समय की दी गयी दलीलों में कितना दम था और इनके पीछे राजनीतिक शक्तियां कितनी सक्रिय थीं जो राज्य के हस्तक्षेप के विरुद्ध थीं और यह भी पता चलता है कि उस समय इन पर कैसे काबू पाया गया। आश्चर्य की बात है कि उन दिनों की बहसें आज के भारत में चल रही बहसों से काफी मिलती जुलती हैं- खासतौर से इस सवाल पर कि क्या राज्य को गरीब परिवारों के मां-बाप को इस बात के लिए मजबूर करना चाहिए कि वे अपने बच्चों को स्कूलों में भेजें। इसके बावजूद यह भी देखा जा सकता है कि भारत की सामाजिक राजनीतिक शक्तियां उन देशों के सामाजिक राजनीतिक

शक्तियों से कितनी भिन्न थीं जिन्होंने बच्चों की ओर से हस्तक्षेप किया।

बहस

शिक्षा बनाम काम

अनिवार्य शिक्षा के विरुद्ध एक दलील यह दी जाती है कि शिक्षा पा जाने के बाद गरीब लोग समाज के लिए आवश्यक उबाऊ शारीरिक श्रम के उपयुक्त नहीं रह जायेंगे। वाल्टेयर ने लिखा था कि, "यह बेहद जरूरी है कि मानव समुदाय का एक बहुत बड़ा हिस्सा छोटे-छोटे व्यवसाय में चाकरी करने के लिए अभिशप्त हो और प्रारंभ से ही पड़ी आदतें उनके अंदर काम के कष्ट को बरदाश्त करने की क्षमता विकसित कर सकती हैं और बिलकुल निम्न स्तर के लोगों को उस सीमा से ज्यादा शिक्षा देना, जिसे विधाता ने निर्धारित कर दिया है, सचमुच नुकसान पहुंचाना है।" अंग्रेज कट्टरपंथियों ने हमेशा यह दलील दी कि मजदूर वर्ग के लोगों को, जिनके बच्चे अप्रेंटिस के रूप में बेहतर कौशल सीख सकते हैं, स्कूल भेजना अनुचित है। लंदन के अनेक गरीब परिवारों को प्राथमिक शिक्षा अप्रासंगिक लगती थी क्योंकि अनेक पीढ़ियों से मजदूर वर्ग से कहा जाता रहा है कि वे अपने काम से परे न देखें जिसका नतीजा यह हुआ कि मां-बाप ने और साथ ही इस विचार से सहमति रखने वाले कट्टरपंथियों ने शिक्षा का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं समझा।

ब्रिटिश संसद ने पार्ट टाइम शिक्षा की एक प्रणाली शुरू करके निम्न वर्ग के लोगों के लिए काम और शिक्षा के बीच तालमेल बनाने की कोशिश की। 1833 फैक्ट्री ऐक्ट में यह व्यवस्था थी कि कपड़ा उद्योग में (बाद में उसके साथ अन्य उद्योगों को भी जोड़ दिया गया) काम करने वाले बच्चे सप्ताह में छह दिन हर रोज दो घंटे स्कूली शिक्षा प्राप्त करेंगे। पार्ट टाइम शिक्षा की यह प्रणाली अगली आधी शताब्दी तक चलती रही। प्रशिया की सरकार ने एक वैकल्पिक समाधान ढूंढा जिसमें मजदूर वर्ग के बच्चों को व्यवसायगत प्रशिक्षण प्रदान करने पर जोर दिया गया था। गरीब घरों के बच्चे "फॉक्सचूल" में दाखिले के लिए मजबूर किये जाते थे जहां उन्हें वह कौशल सिखाया जाता था जो उन्हें मजदूर वर्ग में बने रहने योग्य बनाता हो। यह एक नीति थी जिसने संभवतः जर्मनी के उत्पादों की तकनीकी गुणवत्ता बनाए रखने में संभवतः काफी योगदान किया। इसी प्रकार जापान और कोरिया की सरकारों ने भी शिक्षा की उन व्यवस्थाओं को अपनाया जिनमें प्राथमिक स्कूल के स्तर पर बुनियादी व्यावसायिक प्रशिक्षण पर जोर दिया गया था।

बाल श्रम और गरीबी

अनिवार्य शिक्षा पर दूसरी आपत्ति यह थी कि राज्य जब गरीब परिवारों को कोई राहत नहीं दे पा रहा है तो उनकी खुशहाली के लिए बाल श्रम अनिवार्य है। इसलिए किसी ऐसे देश में जहां गरीबों की संख्या बहुत बड़ी हो और उनके लिए बनाए गए कानून अपर्याप्त हों, राज्य को चाहिए कि उनके बच्चों को मजदूरी के काम से हटाने की बजाय उनके रोजगार को बढ़ावा दें। इस दृष्टिकोण से अगर देखें तो बच्चों को मजदूरी के लिए जितना ही ज्यादा प्रोत्साहित किया जाएगा उतना ही ज्यादा गरीबी के उन्मूलन की संभावनाएं बढ़ेंगी। 1601 का "इंग्लिश पुअर लॉ" आलस्य दूर करने के लिए बनाया गया था और इसने जरूरतमंद बच्चों को अप्रेंटिस के रूप में काम करने की अनैच्छिक "बाध्यता" की बात की। पुअर लॉ के अधिकारी उन लोगों को अनेक पाउंड देते थे जिनसे बच्चों को लेकर उन तक पहुंचाया जाता था। पार्ट टाइम शिक्षा के लिए जो दलीलें दी जाती थीं उनमें से एक दलील यह थी कि गरीब घरों के बच्चे स्कूल जाने के साथ-साथ काम भी कर सकते थे। पुअर लॉ कमिश्नर ने एक जगह कहा भी है कि "जिन बच्चों को अपनी जिदंगी मजदूरी करके गुजारनी है उन्हें जीवन के प्रारंभिक दिनों से ही मजदूरी का प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहिए.. लड़कों को प्रारंभिक व्यावहारिक उम्र में ही काम करने का अभ्यास डाल लेना चाहिए।"[4]

न्यूयार्क के गवर्नर ने भी लगभग ऐसी ही दलील दी जब 1767 में उन्होंने गर्व के साथ कहा कि "बच्चों से भरे प्रत्येक घर को चाहिए कि ज्यों ही वे चलने फिरने लायक हों, काम सीखने लगें।"[5] न्यूयार्क ने कपड़ा बनाने वाली एक दुकान की गाड़ियों पर इसलिए टैक्स लगाया क्योंकि वहां गरीबों को रोजगार दिया जाता था "खासतौर से महिलाओं और बच्चों को और इस प्रकार उनकी देखरेख की बोझ में कमी भी आती थी।" एलेक्जेंडर हेमिल्टन ने नए और छोटे उद्योगों को संरक्षण देने की बात कही और कहा कि "उत्पादन से संबंधित प्रतिष्ठानों में अन्य प्रतिष्ठानों की तुलना में बच्चों को रोजगार देना ज्यादा लाभप्रद हो सकता है।"[6] औद्योगीकरण के लिए जो दलीलें दी जाती थीं उनमें से एक दलील यह थी कि महिलाओं और बच्चों को रोजगार के अवसर प्रदान कर इससे गरीबों का जीवन स्तर सुधारा जा सकता है।

बाल मजदूरी से संबंधित कानून का विरोध न केवल मालिकों की ओर से बल्कि उन लोगों की ओर से भी आया जो यह समझते थे कि वे गरीबों के हितों की रक्षा कर रहे हैं। 1920 वाले दशक में न्यूयार्क की विधानसभा में उस प्रस्ताव को रद्द कर दिया गया जिसमें कहा गया था कि मकानों के

अंदर सिगार बनाने पर रोक लगा दी जाए। सिगार निर्माताओं ने यह दलील दी कि प्रस्तावित विधेयक से जरूरतमंद परिवार रोजगार से बाहर कर दिए जायेंगे। कारखानों वाले शहरों के अधिकारी अनिवार्य शिक्षा संबंधी कानूनों को लागू करने के मामले में इस आधार पर ही चाह रहे थे कि गरीब मां-बाप को बच्चों से होने वाली आय की जरूरत है। 1871 में जब लंदन में शिक्षा को अनिवार्य कर दिया गया तो "लंदन स्कूल बोर्ड" ने भी यही दलील दी। बोर्ड के अनेक लेबर पार्टी तथा सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य, जो स्कूलों में फीस को समाप्त करने की मांग कर रहे थे और बच्चों को निःशुल्क भोजन देने की बात कह रहे थे, अनिवार्य हाजिरी प्रथा लागू करने के मामले में हिचकिचाते रहे। बोर्ड की एक सदस्या एनी बेसेंट ने लिखा कि अनेक परिवारों को बच्चों से होने वाली आय की जरूरत है। उन्होंने लिखा कि, "आज चुनाव इस बात का करना है कि बच्चा अज्ञान रहे अथवा भूखा रहे. ... यह सोचकर दिल बहुत दुखी हो जाता है कि हर हाल में उसे नुकसान होना ही है।"[7] लंदन स्कूल बोर्ड की कार्यप्रणाली का विश्लेषण करते हुए किसी ने 1890 के दशक में लिखा कि आश्चर्य नहीं कि मौजूदा सामाजिक स्थितियों में जो लोग मजदूर वर्ग के बच्चों को शिक्षित करने के महत्व को बड़ी शिद्दत के साथ बता रहे थे, उन्हें आज कारगर ढंग से इसके अमल में लाने की प्रक्रिया को रोकने की कोशिश करनी पड़ रही है। लेकिन इसका अर्थ यह है कि दक्षिणपंथी तत्वों के दबाव से पहले से ही परेशान बोर्ड के अध्यापक और अधिकारी अब वामपंथी तत्वों का भी विरोध झेल रहे हैं जिससे उनका काम और कठिन हो गया है।"[8]

ब्रिटेन और अमरीका दोनों में यहां की ट्रेड यूनियनों ने इस तर्क के विरुद्ध संघर्ष चलाया कि गरीब परिवारों के लोगों को अपने बच्चों के रोजगार से लाभ मिलता है। यूनियन के नेताओं ने महसूस किया कि बच्चों के काम करने से मजदूरी की दर में गिरावट आती है और वयस्क मजदूरों को अपनी जगह छोड़नी पड़ती है। "दि नाइट्स ऑफ लेबर" और "अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर" ने अनिवार्य शिक्षा के पक्ष में तथा 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को रोजगार पर प्रतिबंध लगाने के पक्ष में आने वाले कानूनों का सक्रिय समर्थन किया। 1920 के दशक में न्यूयार्क के लेफ्टिनेंट गवर्नर और नेशनल चाइल्ड लेबर कमेटी के एक प्रमुख सदस्य हरबर्ट लेहमैन ने इस तथ्य को रेखांकित किया कि यहां 17 वर्ष से कम उम्र के 1 लाख 25 हजार बच्चे मजदूरी कर रहे हैं। उन्होंने कहा कि "नौकरी कर रहे इन लड़कों और लड़कियों में से अगर अनेक स्कूलों में जा रहे होते तो इससे जो जगह खाली होती उन पर वयस्कों को काम मिल सकता था।"[9] बाद के दशक में आर्थिक मंदी के दौरान एक के बाद एक देशों ने 16 या 17 वर्ष

की उम्र तक के लिए शिक्षा को अनिवार्य कर दिया ताकि बच्चों को मजदूरी के काम से अलग रखा जा सके और वयस्कों की बेरोजगारी को कम किया जा सके।

बाल मजदूरी और सीमांत उद्योग

एक तीसरी दलील यह थी कि कम मजदूरी वाले बाल श्रमिकों के बिना कुछ उद्योगों को मजबूरन बंद हो जाना पड़ेगा, देश और विदेश में अपेक्षाकृत ज्यादा समर्थ उद्योगों से होड़ में वे पिछड़ जाएंगे और उस हालत में निर्यात में गिरावट आएगी तथा बेरोजगारी में वृद्धि होगी। यह दलील खासतौर से अमरीका में बहुत कष्टकारी थी जहां राज्य सरकारों द्वारा बाल श्रम कानूनों को पारित कर लिया गया था और ये कानून राष्ट्रीय स्तर पर एक जैसे नहीं थे। प्रायः यह तर्क दिया जाता था कि राज्य विधानसभाओं में बाल श्रम से संबंधित किसी खास कड़े कानून के कारण सम्बद्ध क्षेत्र के कारखाने अपना कारोबार बंद कर दक्षिण के राज्यों की तरफ चले जायेंगे जहां कि कानून अपेक्षाकृत नर्म हैं। ट्रेड यूनियनों ने इस प्रवृत्ति का मुकाबला करने के लिए संवैधानिक संशोधन के लिए दबाव डालना शुरू किया ताकि संघीय सरकार राष्ट्रीय स्तर पर किसी समान कानून की रचना कर सके और जब उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली तो उन्होंने अंतर्राज्यीय व्यापार से संबंधित धारा के अंतर्गत ऐसे कानून के निर्माण के लिए सफलतापूर्वक दबाव डाला।

सांविधिक सुधारों के विरुद्ध अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के खतरे का भी इस्तेमाल किया गया। प्रशिया में, जहां कानून के जरिए 12 वर्ष से कम आयु के बच्चों के रोजगार पर प्रतिबंध था (और कुछ उद्योगों में 14 वर्ष से कम आयु के लिए भी), सरकार ने उन उद्योगों में, जो निर्यात करते थे, बाल श्रम कानूनों को लागू करने में हिचकिचाहट दिखाई। यह बहुत आश्चर्यजनक लग सकता है कि इन कानूनों को सभी उद्योगों पर लागू करने के लिए काफी दबाव सैनिक अधिकारियों की ओर से आया क्योंकि वे अपने रंगरूटों के स्वास्थ्य को लेकर काफी चिंतित थे (19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रशिया में सैनिक सेवा अनिवार्य थी) और उनका कहना था कि देश के औद्योगिक क्षेत्रों में बचपन से ही काम करने के कारण लोगों के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ रहा है। एक असाधारण घटना यह हुई कि सम्राट विलियम द्वितीय ने मजदूरों के संरक्षण के सवाल को लेकर एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया और इसके लिए उन्होंने यह आधार बताया कि अंतर्राष्ट्रीय स्पर्धा में पिछड़ने के डर से बाल श्रम कानूनों को लागू करने में कठिनाई हो रही है और इस समस्या को एक अंतर्राष्ट्रीय सहमति के जरिए ही हल किया जा सकता है। मार्च 1890 में यूरोप के पंद्रह देशों के प्रतिनिधियों की बर्लिन

में बैठक हुई जहां उन्होंने बच्चों को संरक्षण दिये जाने से संबंधित अनेक प्रस्ताव पारित किये। ये प्रस्ताव यद्यपि बाध्यकारी नहीं थे फिर भी बच्चों के रोजगार से संबंधित समान अंतर्राष्ट्रीय कानूनों की रचना में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के बाद के प्रयासों को मजबूती देने के सिलसिले में काफी महत्वपूर्ण साबित हुए।

बाल मजदूरी और पूंजीवाद

बाल मजदूरी को समाप्त करने के काम में राज्य के हस्तक्षेप के विरुद्ध चौथी दलील उन लोगों की तरफ से दी जाती है जो यह मानते हैं कि बाल मजदूरी पूंजीवाद का परिणाम है और साथ ही पूंजीवाद द्वारा तैयार की गयी प्रौद्योगिकी का भी यह नतीजा है। इस दृष्टिकोण के प्रमुख प्रवर्तक कार्ल मार्क्स ने दलील दी कि बाल मजदूरी मालिकों के लिए मुनाफे का साधन है और इस प्रकार यह मजदूरी और श्रम की पूंजीवादी प्रणाली के साथ सहज रूप से जुड़ा हुआ है। मार्क्स ने बाल मजदूरी की बर्बरता का कुछ हद तक वर्णन कियाः इस्पात उद्योग में जहां बच्चों से रात में काम लिया जाता है, शीशे के उत्पादन में जहां छोटी लड़कियां "धूल और धुंए में घुटती रहती हैं",[10] किताबों की जिल्दसाजी के काम में, मोमबत्ती बनाने के कारखानों में, रद्दी की छंटाई में, और घरेलू पैमाने पर धागे, फीते आदि के उत्पादन में। मार्क्स ने प्रायः दो मुख्य बातों पर जोर दिया– नई टेक्नालॉजी ने सस्ते और अकुशल मजदूरों की मांग को बढ़ाया है, और दूसरा यह कि मुनाफे की दर में कमी ने पूंजीपतियों को मजदूरों का शोषण तेज करने के लिए प्रेरित किया है।

उन्होंने लिखा कि जैसे–जैसे मुनाफे में कमी आती गयी, पूंजीपति "उसी पूंजी से और भी ज्यादा श्रमशक्ति जुटाने में लग गया और उसने कुशल मजदूरों की जगह पर कम कुशल मजदूर, परिपक्व मजदूरों की जगह अपरिपक्व मजदूरों, पुरुषों की जगह महिलाएं, वयस्कों की जगह किशोरों अथवा बच्चों" की भर्ती शुरू कर दी। बेरोजगारों के साथ–साथ बच्चे भी "औद्योगिक रिजर्व सेना" का हिस्सा बन गए। एक महत्वपूर्ण लेख में उन्होंने लिखा कि "पूंजीवादी उत्पादन और संपत्ति के पूंजीवादी विकास की बुनियादी शर्त है कंगालीकरण। पूंजीवादी प्रणाली में श्रम की सामाजिक उत्पादकता को बढ़ाने के लिए इस्तेमाल किये जाने वाले सभी तरीकों को मजदूरों की व्यक्तिगत लागत पर काम में लाया जाता है.... ताकि वे प्रभुत्व और शोषण के साधन बन जाएं। वे उनकी जीवन–सीमा को उनकी श्रम–सीमा में रूपांतरित कर देते हैं और उनकी पत्नी और बच्चे को पूंजी के रथ के पहियों के नीचे कुचल डालते हैं।"[11]

बाल श्रम की बर्बरता के बारे में मार्क्स का चित्रण और इनके कारणों का उनका विश्लेषण स्थिति में सुधार के उद्देश्य से नहीं किया गया था। मार्क्स की दिलचस्पी सुधार में नहीं, बल्कि पूंजीवाद के खिलाफ अभियोग पत्र तैयार करने में थी। इसलिए उन्होंने संसद के इस निर्णय को अप्रासंगिक बताते हुए खारिज कर दिया जिसमें कहा गया था कि कारखानों में काम करने से पहले बच्चों को 14 वर्ष की उम्र तक स्कूली शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। उन्होंने लिखा– "पूंजीवादी उत्पादन की भावना स्पष्ट रूप से फैक्ट्री कानूनों की तथाकथित शैक्षणिक धाराओं से, प्रशासनिक तंत्र के अभाव से निकलती है और अनिवार्य शिक्षा से संबंधित कानूनों के अधिकांश अंश भ्रामक साबित होते हैं। शिक्षा से संबंधित इन धाराओं का मालिकों द्वारा किस तरह विरोध किया जाता है और इनसे बचने के लिए वे कितने तरह की तिकड़में करते हैं, इसे भी देखा जा सकता है।"[12]

जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक मूवमेंट के नेताओं के नाम एक पत्र में मार्क्स ने उनके प्रस्तावों की चर्चा की जिनमें बाल श्रम पर रोक लगाने के लिए जर्मन सरकार पर दबाव डालने की बात कही गयी थी। उन्होंने लिखा कि "बाल श्रम पर आम प्रतिबंध बड़े उद्योगों के अस्तित्व के साथ मेल नहीं खाता और इसीलिए यह एक खोखला और पवित्र विचार बनकर रह जाता है।"[13] मार्क्स ने इस दृष्टिकोण से भी इस मुद्दे को देखा कि मां-बाप बच्चों का शोषण करते हैं। 1866 में बाल रोजगार से संबंधित आयोग ने एक रिपोर्ट जारी की जिसमें कहा गया था कि "यह बहुत दुख की बात है और इसे साक्ष्यों ने प्रमाणित कर दिया है कि बच्चों को चाहे वे लड़के हों या लड़कियां, किसी अन्य व्यक्ति के खिलाफ उस सीमा तक संरक्षण की जरूरत नहीं होती है जितनी मां-बाप द्वारा किये गये शोषण के खिलाफ। "आमतौर से बाल श्रम और खासतौर से घरों में बच्चों द्वारा कराया जाने वाला श्रम" केवल इसलिए जारी रहता है क्योंकि मां-बाप बिना किसी रोक–टोक के अथवा बिना किसी नियंत्रण के अपने बच्चों के खिलाफ अपने शक्ति का मनमाना और शरारतपूर्ण इस्तेमाल कर लेते हैं.... मां-बाप के पास यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि वे साप्ताहिक आय अर्जित करने के लिए अपने बच्चों का मशीन की तरह इस्तेमाल करें। इसलिए बच्चे और कम उम्र के लोगों को ऐसे हर मामलों में वैधानिक तरीके से अपने इस स्वाभाविक अधिकार का दावा करना चाहिए कि उन्हें काम से छुटकारा मिले क्योंकि इससे उनकी शारीरिक शक्ति समय से पूर्व नष्ट हो जाती है और बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टि से उनका विकास अवरुद्ध हो जाता है।

मार्क्स का कहना था कि "नहीं, यह मां-बाप के प्राधिकार का गलत इस्तेमाल नहीं है जिसने पूंजीवादी शोषण को जन्म दिया जिसके कारण

बच्चों से श्रम कराया जाता है बल्कि उल्टे यह शोषण का पूंजीवादी तरीका है जिसने मां-बाप के अधिकार के आर्थिक आधार को समाप्त कर दिया और इसका अधःपतन इस सीमा तक कर दिया कि उनकी सत्ता का गलत इस्तेमाल होने लगा।"[14] इसलिए मार्क्स के अनुसार एक पूंजीवादी व्यवस्था में बाल मजदूरी को समाप्त करने तथा अनिवार्य शिक्षा लागू करने के काम में राज्य का हस्तक्षेप बेमानी हो जाता है। पूंजीवाद की समाप्ति के जरिए ही बाल श्रम से संबंधित बुराइयों को दूर किया जा सकता है।

समय ने मार्क्स की इस अवधारणा को गलत साबित कर दिया है। एक के बाद एक औद्योगिक दृष्टि से विकसित पूंजीवादी देश में छोटी उम्र के लोगों को मजदूरी के काम में लगाने की दर में गिरावट आती गयी। इसकी एक वजह शिक्षित और कुशल मजदूरों की बढ़ती हुई मांग थी और एक वजह स्कूलों में दाखिले में निरंतर होती गयी बढ़ोत्तरी थी। निर्माण टैक्नालॉजी में विकास, इसके कारण कुशल मजदूरों की बढ़ती मांग और मध्य वर्ग के लिए रोजगार के अवसरों का विस्तार– इन सभी बातों ने शिक्षा के प्रति और भी ज्यादा आकर्षण पैदा किया है। इसी के साथ बल्कि इससे कुछ समय पूर्व से ही राज्य ने खुद भी शिक्षा को अनिवार्य बना दिया।

कानून का प्रवर्तन और बाल श्रम कानून

राज्य के हस्तक्षेप के विरुद्ध पांचवी दलील यह दी जाती रही है कि चूंकि उत्पादन प्रतिष्ठानों और छोटे कारखानों की संख्या बहुत ज्यादा है इसलिए बाल श्रम से संबंधित कानूनों को लागू नहीं किया जा सकता। सरकारी नौकरशाह बाल श्रम से संबंधित कानूनों को लागू करने में और इसके प्रशासनिक पहलू की देखभाल में काफी थक जाते थे। मिसाल के तौर पर न्यूयार्क राज्य में 1886 के फैक्ट्री ऐक्ट के तहत कारखानों में 13 वर्ष से कम आयु के बच्चों के रोजगार पर प्रतिबंध था। उन दिनों न्यूयार्क में 42,000 प्रतिष्ठान थे जिनमें 6,30,000 लोग काम करते थे लेकिन राज्य की विधायिका ने इतना ही धन प्रदान किया जिससे एक चीफ फैक्ट्री इंस्पेक्टर और उसके एक सहायक को नियुक्त किया जा सके। इनके लिए न तो कोई दफ्तर था और न परिवहन की कोई व्यवस्था थी। फैक्ट्री इंस्पेक्टरों की संख्या को बढ़ाकर 50 करने में यहां 20 वर्ष लगे।

इन आपत्तियों पर काफी हद तक उस समय काबू पा लिया गया जब सरकार ने अनिवार्य शिक्षा से संबंधित कानूनों को लागू किया। सुधार के पक्ष में जो लोग थे उनकी यह दलील थी कि अगर बाल मजदूरी को समाप्त करना है तो अनिवार्य शिक्षा जरूरी है। इनका यह भी मानना था कि बाल मजदूरी से संबंधित कानूनों को लागू करने के मुकाबले स्कूलों में बच्चों को

अनिवार्य रूप से भेजने से संबंधित कानूनों को लागू करना आसान है। अध्यापक, सामाजिक कार्यकर्ता, सम्बद्ध अधिकारी, स्कूलों में जनगणना करने वाले अर्थात अनिवार्य शिक्षा संबंधी कानून को लागू करने के लिए जिम्मेदार सभी नौकरशाह अपने समुदायों के बारे में अच्छी जानकारी रखते थे। अगर कोई बच्चा स्थानीय स्कूल में भर्ती हो जाता था और उसके बाद किसी कारण अगर वह स्कूल नहीं आता था तो सम्बद्ध अधिकारी बच्चे के घर जाकर इसकी छानबीन कर सकते थे। फैक्ट्री इंस्पेक्टरों को मालिकों द्वारा घूस देने की बात आसान थी लेकिन सम्बद्ध अधिकारियों को मां-बाप से घूस मिलने का अवसर नहीं था। इसके अलावा छह से 10 अथवा 6 से 12 वर्ष के आयु वर्ग के बच्चों के मां-बाप अधिक उम्र के बच्चों के मां-बाप की तुलना में अनिवार्य शिक्षा के लिए पढ़ने वाले दबावों का कम विरोध करते थे।

अनिवार्य शिक्षा से संबंधित कानूनों को लागू करने में अनिवार्य रूप से जन्म के पंजीकरण की प्रणाली से काफी मदद मिलती थी। जन्म होने पर पंजीकरण कराने की प्रथा को इंग्लैंड में 1830 के दशक में और न्यूयार्क राज्य में 1853 में अनिवार्य बनाया गया। अब चूंकि जन्म के पंजीकरण से संबंधित कागजात उपलब्ध थे, इसलिए अनिवार्य शिक्षा से संबंधित कानूनों का उल्लंघन करने का काम कठिन हो गया और अधिकारियों के लिए काम आसान हो गया।

मां-बाप के अधिकार बनाम कर्तव्य के बारे में

बाल मजदूरी पर प्रतिबंध लगाने तथा अनिवार्य शिक्षा लागू करने के मामले में राज्य के हस्तक्षेप के खिलाफ जितने भी तर्क दिये गये उनमें सबसे दमदार तर्क उन लोगों की ओर से आया जिनका यह मानना था कि राज्य को मां-बाप के इस अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए कि वे यह सोच सकें कि उनके बच्चों और उनके परिवार के लिए क्या सबसे उचित है। स्काटलैंड के बुद्धिजीवियों एडम स्मिथ, जेम्स मिल, थॉमस मैकाले, थॉमस मालथस, डब्ल्यू.टी. थार्टन और जॉन स्टुवर्ट मिल राज्य हस्तक्षेप के पक्ष को विकसित करने के लिए जिम्मेदार थे।

बाजार अर्थव्यवस्था के सिद्धान्तकार एडम स्मिथ पहले व्यक्ति थे जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप के मामले को सिलसिलेवार प्रस्तुत किया। ''वेल्थ आफ नेशन'' में उन्होंने लिखा– ''यह सवाल किया जा सकता है कि क्या आम जन समुदाय लोगों को शिक्षित करने के काम पर कोई ध्यान न दे? अथवा अगर यह ध्यान दे तो शिक्षा के वे कौन से अलग अलग अंश हैं जिन्हें वह अलग–अलग लोगों के लिए उपयुक्त माने? और इन पर किस तरीके से वह काम करे?''

एडम स्मिथ का जवाब था–''कुछ मामलों में समाज की स्थिति अनिवार्य रूप से व्यक्तियों के एक बड़े समूह को ऐसी अवस्था में रख देती है जिनसे स्वाभाविक तौर पर सरकार का ध्यान दिये बिना उनके अंदर वह सभी क्षमताएं और विशिष्टताएं विकसित हो जाती हैं जिनकी राज्य को जरूरत होती है। कुछ अन्य मामलों में समाज की स्थिति लोगों के एक बड़े हिस्से को ऐसी स्थितियों में नहीं रखती और तब भ्रष्टाचार तथा अधःपतन को रोकने के लिए सरकार का हस्तक्षेप जरूरी हो जाता है।''

क्या समाज ने ऐसी स्थिति पैदा की थी? स्मिथ का कहना है कि श्रम के विभाजन ने ऐसी स्थिति पैदा की और उन्होंने इसके कारणों तथा इसके परिणामों की व्याख्या की;

> श्रम के विभाजन की दिशा में प्रगति के दौरान श्रम पर अपना जीवन गुजारने वाले लोगों का रोजगार बहुत कम कामों तक सीमित था। लेकिन लोगों की समझ उनके साधरण रोजगार की स्थितियों से ही विकसित होती थी। कोई व्यक्ति, जिसका जीवन छोटे–छोटे कानून को संपादित करने में बीता हो, उसे इस बात का कभी अवसर ही नहीं मिल सका कि वह उन बड़ी कठिनाइयों को हल करने के बारे में सोच सकें जिनसे उनका कभी न साबका पड़ा हो। इसलिए स्वाभाविक तौर पर वे ऐसे मामलों में कष्ट उठाने की आदत से वंचित रह जाते हैं और सामान्य तौर पर अज्ञानी और मूर्ख बने रहते हैं। उनके मस्तिष्क की बनावट ऐसी हो जाती है कि किसी तर्क संगत संवाद को समझने में वे असमर्थ हो जाते हैं। उनकी क्षमता इतनी घट जाती है कि वे युद्ध के दिनों में अपने देश की रक्षा करने में भी असमर्थ हो जाते हैं। उनके जीवन में जो जड़ता आती है वह उनके मस्तिष्क को प्रदूषित तो करती ही है साथ ही वे किसी सैनिक की जोखिमभरी जिंदगी के प्रति भी सम्मान खो बैठते हैं। उनकी शारीरिक क्षमता इतनी नष्ट हो जाती है कि जिस पेशे से वे जुड़े हुए हैं उसके अलावा किसी दूसरे व्यवसाय में लगने पर वे कुछ खास नहीं कर पाते। ऐसी अवस्था में अपने खुद के व्यवसाय के प्रति भी उनकी दिलचस्पी धीरे–धीरे समाप्त होने लगती है और नैतिक, बौद्धिक तथा सामाजिक गुणों की कीमत पर वे जो कुछ अर्जित किये रहते हैं उसे खो बैठते हैं। प्रत्येक विकसित और सभ्य समाज में मजदूर वर्ग की यही स्थिति होती है और यह तब तक बनी रहती है जब तक सरकार इसे दूर करने के लिए थोड़ा कष्ट न उठाए।[15]

श्रम के विभाजन के फलस्वरूप मजदूर वर्ग के अंदर विकसित इस मानसिकता से मुक्ति दिलाने के लिए सरकार क्या कर सकती है? एडम स्मिथ का कहना है:

> संभवतः किसी सभ्य और व्यापारिक समाज में आम आदमी को शिक्षित करने पर जनता से ज्यादा ध्यान समाज के कुछ अभिजनों को देना चाहिए। आम आदमी के पास इतना समय नहीं होता कि वह लोगों को शिक्षित करने के लिए समय निकाल सके। मां-बाप की भी यह क्षमता नहीं होती कि वे बच्चों की उचित देखभाल कर सकें। वे सोचते हैं कि जैसे ही उनके बच्चे कुछ काम करने योग्य हों वे किसी व्यवसाय में लग जाएं और कमा कर लाएं। वह व्यवसाय भी इतना साधारण और उबाऊ होता है जिसमें समझ के विकसित होने का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता

लेकिन शारीरिक श्रम थका देने के लिए काफी होता है। मेहनत इतनी पड़ती है कि वे काम के अलावा और किसी चीज के बारे में सोच ही नहीं सकते।

लेकिन यद्यपि किसी सभ्य समाज में साधारण आदमी अभिजात्य वर्ग के मुकाबले ज्यादा शिक्षित नहीं हो सकता तो भी उसे कम से कम इतनी शिक्षा मिल जानी चाहिए कि वह लिख पढ़ सके और हिसाब किताब कर सके। प्रारंभिक अवस्था में प्राप्त यह शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि जिनको निचले से निचले पेशे को अपनाना हो वे उस पेशे को अपनाने से पूर्व इसके लिए समय निकाल सकें।

बहुत थोड़ा धन खर्च करके राज्य द्वारा लोगों को इस बुनियादी शिक्षा के प्राप्त करने में मदद पहुंचाया जा सकता है, इसके लिए उन्हें प्रोत्साहित किया जा सकता है और यहां तक कि उन पर इसे "थोपा" जा सकता है।[16]

शिक्षा के इस "बुनियादी अंश" को हासिल करने में "राज्य" प्रत्येक पल्ली अथवा जिले में एक छोटा स्कूल खोलकर मदद पहुंचा सकता है। इन स्कूलों को सरकारी और धर्मार्थ संस्थाओं की मदद से मिल जुल कर चलाया जा सकता है।

क्या आम जनता को व्यापक तौर पर शिक्षा प्रदान करके राज्य को भी किसी तरह का लाभ मिलता है? एडम स्मिथ को इसमें कोई संदेह नहीं है :

राज्य को ... उनकी शिक्षा से उल्लेखनीय लाभ न मिलता हो, ऐसा नहीं है। जितना ही वे शिक्षित होंगे उतना ही इस बात का खतरा कम होगा कि वे ऐसे उमंग और अंधविश्वास के बहकावे में आ जायें जो अज्ञान के अंधकार में डूबे लोगों को प्रायः अत्यंत खतरनाक गड़बड़ियों की ओर ले जाता है। इसके अलावा यह भी देखा गया है कि शिक्षित और समझदार लोग अज्ञानी तथा मूर्ख लोगों की तुलना में ज्यादा शिष्ट और व्यवस्थित होते हैं। वे खुद को अपेक्षाकृत ज्यादा सम्मानित समझते हैं और इस बात की संभावना ज्यादा रहती है कि वे अपने वरिष्ठ लोगों का आदर पा सकें और इसीलिए उनके मन में भी अपने वरिष्ठजनों के प्रति सम्मान की भावना ज्यादा रहती है। उनके अंदर इस बात की प्रवृत्ति पाई जाती है कि वे चीजों की अच्छी तरह जांच पड़ताल करें, बारीकी से परख करें, विभिन्न गुटों की शिकायतों तथा राजद्रोह के मामलों को अच्छी तरह समझें। गुमराह होकर सरकार द्वारा उठाये गये कदमों का अनावश्यक विरोध करने की प्रवृत्ति भी उनमें कम होती है। स्वतंत्र देशों में, जहां सरकार की सुरक्षा काफी हद तक इस बात पर निर्भर करती है कि जनता उसके कार्यों पर किस सीमा तक सकारात्मक निर्णय लेती है, निश्चय ही यह बहुत महत्वपूर्ण है कि वे सम्बद्ध विषयों पर हड़बड़ी में अथवा स्वेच्छाचारी ढंग से निर्णय न लें।[17]

शिक्षा के क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप के पक्ष में प्रस्तुत एडम स्मिथ की दलील के दो हिस्से हैं। पहला यह कि मजदूरों को "कुछ बहुत मामूली कार्यों तक" सीमित करके श्रम का किया गया विभाजन उनकी बौद्धिक क्षमताओं को नष्ट कर देती है और यह संभावना नहीं रहती कि आम आदमी शिक्षा का सहारा लेकर इन गड़बड़ियों को दूर करेगा क्योंकि उसके पास समय नहीं है और वह शिक्षा प्राप्त करने के लिए खुद का श्रमिकों के समूह में शामिल होना नहीं टाल सकेगा। लेकिन जहां तक सरकार द्वारा ध्यान

दिये जाने की बात है, यह स्मिथ की दलील के दूसरे हिस्से पर निर्भर है। तात्पर्य यह है कि ऐसे ढेर सारे सार्वजनिक लाभ हैं (केवल व्यक्तिगत लाभ नहीं) जो जनशिक्षा से सामने आते हैं। इन सार्वजनिक लाभों में आम व्यवस्था भी शामिल है जो लोगों को "उमंग और अंधविश्वास के बहकावे में" आने से रोकती है, अपने वरिष्ठ लोगों का आदर करने की शिक्षा देती है तथा उन लोगों के प्रति एक आलोचनात्मक दृष्टि विकसित करती है जो विरोध में खड़े हैं।

स्काटलैंड के कुछ अन्य बुद्धिजीवियों द्वारा इसी से मिलती-जुलती एक और दलील पेश की गयी कि व्यापक शिक्षा के फलस्वरूप कानून और व्यवस्था को बनाये रखा जा सका। यह देखा गया कि स्काटलैंड में इंग्लैंड अथवा आयरलैंड के मुकाबले शिक्षा का प्रसार ज्यादा था और इसीलिए वहां अपराध की दर में काफी कमी थी। माल्थस ने लिखा है कि "अज्ञानी आयरिश लोगों की उपद्रवी प्रवृत्ति के मुकाबले स्काटलैंड के शिक्षित किसानों की शांत प्रवृत्ति और शिष्ट आदतें किसी भी निष्पक्ष व्यक्ति को प्रभावित करती है।"[18] इसी क्रम में डब्ल्यू. टी. थार्नटन लिखते हैं राज्य द्वारा शिक्षा देने का काम जेलों के रख-रखाव के काम से कम खर्चीला है।

1848 में संसद में बोलते हुए थामस एस. मैकाले ने शिक्षा तथा सम्पत्ति के अधिकारों के संरक्षण के बीच संबंधों की चर्चा की। उन्होंने कहा कि "प्रत्येक सरकार का यह पावन कर्तव्य है कि वह समुदाय के लोगों और उनकी सम्पत्तियों को सुरक्षा देने के लिए कारगर उपाय करे। अगर कोई सरकार अपने इस कर्तव्य की अवहेलना करती है तो वह रहने लायक नहीं है। यह स्वीकार करते हुए मैं पूछना चाहूंगा कि क्या इस बात से इनकार किया जा सकता है कि व्यक्तियों और सम्पत्ति की रक्षा का सबसे कारगर उपाय आम लोगों को शिक्षित करना है?"[19]

शिक्षा के संदर्भ में और खासतौर से अनिवार्य शिक्षा के संदर्भ में राज्य के दायित्व को बहुत जोरदार शब्दों में जान स्टुअर्ट मिल ने *प्रिंसिपुल्स ऑफ पोलिटिकल इकानोमी* (1848) और *ऑन लिबर्टी* (1859) प्रस्तुत किया है। मिल ने शिक्षा के मामले में राज्य के प्रावधानों और उसकी विवशता दोनों के पक्ष में दलील दी है। उनकी दलील दो सिद्धांतों पर आधारित है—

1. चूंकि किसी बच्चे के लिए शिक्षा इसलिए जरूरी है ताकि "जीवन में अपनी भूमिका अच्छी तरह निभा सके" इसलिए मां-बाप के लिए आवश्यक है कि वे अपने बच्चे के "मस्तिष्क को शिक्षित और प्रशिक्षित करने" की उसी तरह व्यवस्था करें जिस तरह वे "उसके शरीर के लिए भोजन की व्यवस्था करते हैं।" और
2. शिक्षा की जरूरत "आमतौर से समुदाय के सदस्यों के लिए है जिन्हें

अपने सह नागरिकों की अज्ञानता और अशिक्षा के दुष्परिणामों को झेलने का खतरा उठाना पड़ सकता है। मिल के विचार से गरीबों के लिए शिक्षा इसलिए जरूरी है क्योंकि इससे उनके अंदर आत्मविकास, सामाजिक गतिशीलता और अच्छे नागरिक के गुण उत्पन्न होते हैं।

अपनी पुस्तक *ऑन लिबर्टी* में मिल ने बाध्यता के प्रश्न पर प्रकाश डाला। चूंकि वह स्वतंत्रता के हिमायती रहे हैं ("व्यक्ति को अपने खुद के सरोकारों के अनुरूप मनचाहा काम करने की पूरी छूट होनी चाहिए") उन्होंने यह जरूरी समझा कि व्यक्ति विशेष के अधिकारों में राज्य के हस्तक्षेप का औचित्य ठहराया जा सके। उन्होंने लिखा :

> किसी व्यक्ति को दूसरे के लिए यह बहाना ढूंढ़ कर कि दूसरे के मामले भी उसके खुद के मामले हैं, मनचाहा काम करने की छूट नहीं होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति की आजादी के प्रति पूरा सम्मान व्यक्त करते हुए राज्य इस बात के लिए बाध्य है कि वह अपने सत्ता और अपने अधिकार का इस्तेमाल करते हुए अपने ऊपर सतर्क नियंत्रण रखे। पारिवारिक संबंधों के मामले में इस दायित्व की लगभग पूरी तरह अवहेलना कर दी जाती है। ... बच्चों के मामले में स्वतंत्रता की यह दुष्प्रयुक्त अवधारणा राज्य द्वारा अपने दायित्वों के निर्वाह में वास्तविक बाधा का काम करती है। कोई भी यह सोच सकता है कि किसी व्यक्ति के बच्चे लाक्षणिक अर्थों में नहीं बल्कि शाब्दिक अर्थों में उसके ही अंग हैं इसलिए बच्चों पर उसके विशिष्ट और पूर्ण नियंत्रण के कारण अगर थोड़ा भी हस्तक्षेप होता है तो वह ईर्ष्या का कारण बनता है।

मिल ने आगे यह दलील दी कि राज्य को "हर उस व्यक्ति को जो नागरिक के रूप में पैदा हुआ है" शिक्षा के लिए बाध्य करना चाहिए और यह कि राज्य को "मां-बाप के हाथों में यह चुनाव करने का अधिकार नहीं छोड़ना चाहिए कि वे शिक्षा को स्वीकार करें अथवा अस्वीकार करें।" मिल ने मां-बाप के दोहरे दायित्वों के बारे में लिखा–खुद बच्चों के प्रति उनका दायित्व और समुदाय के उन सदस्यों के प्रति दायित्व जो अज्ञानता और शिक्षा के अभाव से उपजे दुष्परिणामों को झेल रहे हैं। "इसलिए सरकार को इस बात की छूट मिलनी चाहिए कि वह बच्चों को प्राथमिक शिक्षा देने के लिए मां-बाप पर कानूनी बाध्यता पूरी तरह थोप सके।"[20]

राज्य के हस्तक्षेप की नीतियां और राजनीति

बाल श्रम के बारे में विभिन्न देशों में जो बहसें चलती रहीं हैं उनमें प्रायः समानता तो देखी जाती है लेकिन इसमें हस्तक्षेप के पक्ष और विपक्ष में जो राजनीतिक शक्तियां हैं उनके व्यवहार में उल्लेखनीय विभिन्नता दिखाई देती है। कुछ देशों में धार्मिक संस्थाओं ने अनिवार्य शिक्षा का समर्थन किया लेकिन कुछ अन्य देशों में इन्होंने ही इसका विरोध भी किया। इसी प्रकार ट्रेड यूनियनों, अध्यापकों के संगठनों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, सेना, राजनीतिक

दलों, तथा शिक्षा, श्रम और स्वास्थ्य मंत्रालयों की भी अलग–अलग देशों में अलग–अलग भूमिका रही है। आमतौर पर सामाजिक जनवादियों (सोशल डेमोक्रेट्स) ने बाल श्रम के खिलाफ संघर्ष किया और अनिवार्य शिक्षा के पक्ष में दलीलें दीं। लेकिन कुछ देशों में इन्होंने कट्टरपंथी ढंग से इनका समर्थन किया और कुछ देशों में कट्टरपंथियों ने इनका विरोध किया।

नीति के तौर पर शिक्षा में हस्तक्षेप के तरीके भी अलग–अलग रहे। मिसाल के तौर पर इंग्लैंड में संगठन के मामले में स्वयंसेविता, प्रशासन के मामले में स्थानीयता, निजी साधनों से वित्त जुटाने तथा शिक्षा की प्रणाली में एक श्रेणीबद्ध ढांचा तैयार करने पर जोर दिया गया। इसके साथ ही शिक्षा का लक्ष्य चरित्र निर्माण माना गया, प्रवेश के मामलों में सामाजिक मानदंड को अपनाया गया और पाठ्यक्रमों के लिए कोई मानक नहीं निर्धारित किया गया। फ्रांस में शिक्षा का काम राज्य द्वारा संगठित किये जाने पर जोर देते हुए प्रशासन का केंद्रीकरण किया गया, राज्य को वित्तीय साधन जुटाने का मुख्य स्रोत माना गया, शिक्षा के लक्ष्य में कैरियर पर विशेष ध्यान दिया गया, प्रवेश के मामले में मेरिट को महत्व दिया गया तथा पाठ्यक्रमों का एक स्तर तैयार किया गया।

अंततः औद्योगिक रूप से विकसित सभी देशों तथा अन्य देशों ने भी अनिवार्य, सबके लिए सुलभ और मोटेतौर पर राज्य द्वारा संचालित शिक्षा व्यवस्था को अपनाया तथा बच्चों के काम करने पर प्रतिबंध लगाया। इस प्रतिबंध में यह व्यवस्था थी कि चौदह वर्ष से कम उम्र के बच्चे बिलकुल काम न करें और 14 वर्ष से अधिक उम्र के किशोरों को काम करने के मामले में कुछ प्रतिबंधों का पालन किया जाए। प्रत्येक देश ने अपनी खुद की नीतियां तैयार कीं, जो विविध हितों और सामाजिक मूल्यों का प्रतिफल थीं। आगे के पृष्ठों में हम जर्मनी, आस्ट्रिया, इंग्लैंड, अमरीका और जापान में सक्रिय विभिन्न सामाजिक शक्तियों, राजनीतिक शक्तियों, सामाजिक मूल्यों और प्रमुख नीतियों की चर्चा करेंगे। अगले अध्याय में हम समकालीन विकासशील देशों में सफलतापूर्वक राज्य द्वारा किये गये हस्तक्षेप के कुछ मामलों पर विचार करेंगे।

जर्मनी

यूरोप के देशों में जर्मनी और स्कॉटलैंड ने सबसे पहले अनिवार्य स्कूली शिक्षा के सिद्धान्त को लागू किया और इसके पीछे वही पुराने कारण थे। यद्यपि कुछ समय तक दोनों में से किसी देश ने अनिवार्य शिक्षा को स्वीकार नहीं किया था लेकिन लूथर और नाक्स की धार्मिक घोषणाओं ने राष्ट्रीय धर्म को राज्य तथा राज्य के नागरिकों के शैक्षणिक कर्तव्यों के साथ जोड़ा।

काफी पहले सन् 1528 में सैक्सोनी की सरकार ने प्रत्येक गांव और नगर में लातिन स्कूलों को स्थापित किये जाने की व्यवस्था की लेकिन योजनाबद्ध ढंग से और बड़े पैमाने पर शिक्षा में राज्य के हस्तक्षेप का काम प्रशियन राज्य के उदय के बाद ही शुरू हुआ। 1817 ई. में वहां के शासक फ्रेडरिक विलियम तृतीय ने एक राजाज्ञा जारी की जिसमें यह आदेश दिया गया था कि हर उस क्षेत्र में जहां स्कूल हों, पांच वर्ष से 12 वर्ष के सभी बच्चे स्कूलों में दाखिला लें और 1836 ई. में प्रशियन राज्य ने एक कार्यक्रम तैयार किया जिसमें प्राथमिक स्कूलों के निर्माण की योजना थी और स्थानीय समुदाय को यह जिम्मेदारी सौंपी गयी थी कि वे अध्यापकों के वेतन की व्यवस्था करें और स्कूल के भवन की देखरेख का दायित्व संभालें। राज्य प्रशासन के लिए जवाबदेह स्थानीय और सेक्यूलर बोर्डों की स्थापना की गयी और साथ ही वहां के पादरी को स्कूलों के सुप्रींटेंडेंट और इंस्पेक्टर का काम सौंपा गया। ये पादरी लोग इस बात के प्रति काफी उत्सुक थे कि गरीब लोगों को काम करने की शिक्षा दी जाए और इस कारण उन्होंने ऐसे उद्योगों की स्थापना की अथवा ऐसे कामों की व्यवस्था की जिनमें इस बात पर जोर दिया गया था कि वर्कशापों में व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाए और बच्चे ऐसे सामान तैयार करें जिन्हें बिक्री के लिए भेजा जा सके। इन स्कूलों ने गरीबों तथा मजदूर वर्ग के बच्चों को शिक्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जैसा कि पहले ही बताया गया है कि इन्हीं का विकास आगे चलकर "फॉक्सचुले" (प्राथमिक विद्यालय) के रूप में हुआ। इन औद्योगिक स्कूलों में सफाई, उद्यमशीलता और अनुशासन को मूल्यों के रूप में विकसित किया गया। 1837 ई. तक प्रशिया में स्कूल जाने वाले आयु वर्ग के 80 प्रतिशत से भी अधिक बच्चे किसी न किसी "फॉक्सचुले" में दाखिला ले चुके थे।[22] 1849 ई. तक प्रशिया में वयस्क साक्षरता 80 प्रतिशत हो गयी थी जबकि इसी अवधि में इंग्लैंड में यह 70 प्रतिशत और फ्रांस में 55 से 60 प्रतिशत तक थी। केवल स्कॉटलैंड ही ऐसा था जहां की साक्षरता दर प्रशिया के बराबर थी लेकिन स्वीडन में यह 90 प्रतिशत थी।[23]

1817 ई. में धार्मिक, शैक्षणिक और स्वास्थ्य से संबंधित मामलों के नए मंत्रालय की स्थापना से मध्य प्रशियन राज्य के विकास का पता चलता है। इस मंत्रालय के अधीन जिला प्रशासन थे जिन्हें जन–शिक्षा को बढ़ावा देने और इसे लागू करने के व्यापक अधिकार दिये गये थे। राज्य प्रशासन को यह अधिकार था कि जिन स्थानों में स्कूल नहीं हैं, वहां एक स्थानीय स्कूल बोर्ड की स्थापना की जाए और इस तरह के प्राथमिक विद्यालय भी खोले जाएं जिनका खर्च पूरी तरह स्थानीय समुदाय उठाए। जिन स्थानों में सरकारी अथवा निजी स्कूलों का अस्तित्व था, जिला प्रशासन को जिम्मेदारी

दी गयी थी कि वह अध्यापकों तथा स्थानीय स्कूल निरीक्षकों (जो आमतौर पर स्थानीय पादरी होते थे) की नियुक्ति करे, पाठ्यपुस्तकों और पाठ्यक्रमों को मंजूरी दे तथा स्कूल के लिए बजट बनाए।

1848 की क्रांति के बाद स्कूल व्यवस्था को राज्य के जिला प्रशासन की देखरेख में डाल दिया गया, अध्यापकों को सरकारी कर्मचारी बना दिया गया और कुछ नए नियम बनाए गए जिनमें स्कूलों से यह अपेक्षा की गयी थी कि वे धार्मिक निर्देशों पर जोर देंगे। 1871 तक जर्मन राज्यों के एकीकरण के बाद स्कूली दाखिले को सबके लिए अनिवार्य कर दिया गया। उस समय कुल मिलाकर देश की वयस्क साक्षरता महज 3.4 प्रतिशत थी। राज्य आम आदमी के लिए बने प्राथमिक विद्यालयों पर होने वाले खर्च का केवल पांच प्रतिशत देता था। 75 प्रतिशत राशि स्थानीय समुदायों से और 20 प्रतिशत छात्रों के शुल्क से प्राप्त होती थी। कैसर विलियम द्वितीय के शासन काल में "फॉक्सचुले" को जर्मनी में विकसित हो रहे समाजवादी आंदोलन से निबटने की मुख्य जिम्मेदारी सौंपी गयी थी। इन दिनों धार्मिक उपदेशों पर जोर दिया जाता था और समाजवाद तथा साम्यवाद के अनैतिक पहलुओं को समझाया जाता था। इतिहास पढ़ाते समय यह बताया जाता था कि जर्मन राष्ट्र का सकारात्मक विकास क्या है और यहां के सम्राट मजदूर वर्ग की खुशहाली के लिए कितने चिंतित हैं। 1872 के प्रशियन स्कूल सुपरविजन लॉ के अधीन, जिसने प्रथम विश्व युद्ध तक "फाक्सचुले" को नियंत्रित किया, एक साप्ताहिक योजना लागू की गयी जिसके अनुसार धर्म के लिए 7 से 11 घंटे, जर्मन भाषा के लिए 4 से 5 घंटे, गणित और कविताओं के लिए 1 से 2 घंटे, रेखाचित्र और ड्राइंग के लिए दो घंटे तथा खेलकूद के लिए छह घंटे निर्धारित थे। मिडिल की पढ़ाई तक इतिहास, भूगोल, जीव विज्ञान और भौतिकी के लिए अतिरिक्त छह घंटे निर्धारित थे।

एक तीन स्तरीय प्रणाली विकसित की गयी जो व्यापक तौर पर तीन अलग–अलग सामाजिक वर्गों के अनुरूप थी। निम्न वर्ग के परिवारों ने अपने बच्चों को "फॉक्सचुले" में भेजा जहां आठवें दर्जे तक पढ़ाई होती थी। यहां प्रारंभिक कक्षा में पढ़ने वाले बच्चों को सप्ताह में लगभग 24 घंटे बिताने होते थे जबकि मिडिल तथा ऊंची कक्षाओं के छात्रों को प्रति सप्ताह लगभग 30 घंटे पढ़ना होता था। शिक्षा का माध्यम मुख्य रूप से जर्मन भाषा था और निचले दर्जे के बच्चों को धर्म, गणित तथा गायन की शिक्षा दी जाती थी। उच्च कक्षाओं में उन्हें ड्राइंग, प्रकृति विज्ञान, खेलकूद तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण में समय गुजारना होता था। ग्रामीण क्षेत्रों के स्कूलों में जहां एक स्कूल में 80 से अधिक बच्चे होते थे आधे–आधे दिन की दो पारियां बना दी जाती थीं। यहां प्रत्येक कक्षा के छात्र प्रति सप्ताह लगभग 16 घंटे गुजारते

थे। मजदूर वर्ग के जो बच्चे "फॉक्सचुले" में पढ़ते थे वे उन स्कूलों में भी जा सकते थे जहां उनकी पढ़ाई जारी रहती थी। इन स्कूलों की स्थापना 19वीं सदी की समाप्ति से तीन दशक पूर्व हुई थी ताकि कुशल श्रमिकों की जरूरत को पूरा किया जा सके। 1874 ई. में प्रशियन राज्य ने इन स्कूलों के निर्माण का प्रस्ताव रखा बशर्ते जिन स्थानों में इनका निर्माण होना है वहां के बाशिंदे इसके लिए अनुरोध करें। 1897 के "ट्रेड वर्कर्स प्रोटेक्शन लॉ" ने सभी मालिकों से कहा कि वे अपने यहां प्रशिक्षण पा रहे लोगों को इन स्कूलों में भेजें।

"फॉक्सचुले" के समानांतर ही एक और व्यवस्था थी "मितेल्स चुले" की जो मध्य वर्ग के लोगों के लिए बनायी गयी थी। इन स्कूलों में चूंकि शिक्षा शुल्क लिया जाता था इसलिए मजदूर वर्ग के बच्चों का यहां आना संभव नहीं था। कुछ समुदायों में "मितेल्सचुले" केवल कक्षा 4 से पढ़ाई कराता था जबकि इससे नीचे की कक्षाओं के लिए सभी बच्चों को "फॉक्सचुले" में दाखिला लेना होता था। 1911 ई. में प्रशिक्षण में कुल 1551 "मितेल्सचुले" थे जिनमें 65 लाख की स्कूली आबादी में से 2,55,000 छात्र यहीं थे। "मितेल्सचुले" के ग्रेजुएट्स हाई स्कूल में दाखिला लेने के योग्य माने जाते थे जबकि "फॉक्सचुले" के ग्रेजुएट्स ऐसा नहीं कर सकते थे।

धनिक वर्ग के लोगों के लिए शिक्षा व्यवस्था में एक तीसरे स्तर की शुरुआत की गयी। यह अभिजनों के प्रारंभिक स्कूल थे जिन्हें "फोर्सचुलेन" कहा जाता था। यहां शिक्षा शुल्क बहुत ज्यादा थी और प्रवेश के समय में इस बात का ध्यान रखा जाता था कि पारिवारिक स्तर काफी ऊंचा होना चाहिए। "फोर्सचुलेन" के ग्रेजुएट्स हाई स्कूल तथा इससे भी ऊंची शिक्षा के लिए भेजे जाते थे और शिक्षा पूरी करने के बाद प्रशिया के समाज में उन्हें उच्च पदों पर नियुक्त किया जाता था।

बाल मजदूरी के बारे में सरकारी तौर पर सबसे पुरानी चिंता का उदाहरण 1817 में मिलता है जब प्रशिया के चांसलर वान हार्डेनबर्ग ने प्रशिया के सभी "हाई प्रेसिडेंट्स" को एक सर्वेक्षण रिपोर्ट भेजी। वान हार्डेनबर्ग ने इसके साथ ही यह आशंका व्यक्त की थी कि कारखानों में काम कर रहे बच्चे जिंदगीभर के लिए उन्हीं कारखानों से "बंधे" रह जाएंगे जिनमें वे काम कर रहे हैं। उन्होंने कहा कि इसका नतीजा यह होगा कि खेती बारी, घरेलू सेवाएं, निर्माण कार्यों तथा अन्य उद्योगों के लिए बहुत कम मजदूर बचे रहेंगे। उन्होंने यह चिंता भी व्यक्त की कि काम करने वाले बच्चे अपनी कड़ी मेहनत के कारण इस योग्य भी नहीं बने रह सकते हैं कि किसी संकट के समय देश की रक्षा कर सकें। इसलिए उन्होंने अपने "सहयोगियों" से यह राय मांगी कि वे कौन से संभावित तरीके हो सकते हैं जिनको

अपनाकर हम "मजदूरों को बचपन से ही जंजीरों में जकड़ने से" रोक सकते हैं।[24] सरकारी तौर पर दिये गये अपने जवाब में अनेक हाई प्रेसिडेंट्स ने चांसलर महोदय की इस चिंता से अपनी सहमति जताई कि बाल मजदूरी के कारण जर्मनी की सैनिक क्षमता में गिरावट आएगी और यह विषय ऐसा था जिस पर आगे चलकर प्रायः बहस होती रही।

1820 के दशक में प्रशिया के संस्कृति मंत्री ने कारखानों में बच्चों पर किये जा रहे अमानवीय व्यवहार को समाप्त करने का एक अभियान शुरू किया। अनेक प्रांतों में बाल श्रमिकों की स्थिति पर रपटें तैयार की गयीं लेकिन उनके वरिष्ठ मंत्री अर्थात गृहमंत्री ने इस आधार पर कोई कार्रवाई करने से इन्कार कर दिया कि निजी आर्थिक मामलों में राज्य का हस्तक्षेप उचित नहीं होगा। संस्कृति मंत्री ने दृढ़ता का परिचय देते हुए प्रांतीय सरकारों को एक और सर्कुलर भेजा और उन्हें उनके इस कर्तव्य की याद दिलाई कि अनिवार्य शिक्षा संबंधी कानूनों को उन्हें लागू करना है।

लगभग इसी समय जनरल लेफ्टिनेंट वान हार्न ने राजा फ्रेडरिक विलियम तृतीय के पास एक सैनिक रिपोर्ट भेजी जिसमें इस बात की शिकायत की गयी थी कि सेना में भर्ती के लिए जो संख्या तय की गयी है उसका पालन करने में औद्योगिक क्षेत्र के लोग असफल हो रहे हैं। "नष्ट हो रही इस शारीरिक स्थिति" के लिए इन बातों को जिम्मेदार ठहराया गया– काम के ज्यादा घंटे, बच्चों द्वारा सांस के साथ ले जाने वाले दूषित पदार्थ, रात में बच्चों से काम करवाना, खुली हवा का न मिल पाना तथा अन्य बहुत सी बातें जो उनके शारीरिक विकास को रोक रही हैं। जर्मनी की संसद में बाल मजदूरी के आर्थिक और सैनिक दोनों पहलुओं पर विचार–विमर्श के बाद संसद ने प्रशिया के राजा के पास यह अनुरोध भेजा कि इस दिशा में कार्रवाई की जाए। 1839 ई. में फ्रेडरिक विलियम तृतीय ने एक कानून पर हस्ताक्षर किया जिसका उद्देश्य "निर्माण कारखानों में युवा लोगों के रोजगार की विनियमित करना" था (रेगुलेशन्स फॉर दि इम्प्लायमेंट ऑफ यंग ऑपरेटिव्स इन मैन्युफैक्टरिज)। इससे बाल मजदूरी को तो नहीं रोका जा सका लेकिन कानून में यह प्रावधान जरूर रहा कि कारखानों में काम करने वाले बच्चों को प्रतिदिन नियमित रूप से पांच घंटे स्कूली शिक्षा दी जाए। जर्मनी के अन्य राज्यों द्वारा भी इसी तरह के उपाय अपनाए गए। 1853 ई. में एक कानून पारित करके काम करने की न्यूनतम आयु को 9 वर्ष से बढ़ाकर 12 वर्ष कर दिया गया, रात में काम करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया और 12 से 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए काम के घंटे छह घंटे निर्धारित किये गये जिसमें से तीन घंटे अनिवार्य स्कूली शिक्षा के लिए थे।

जैसा कि इंग्लैंड और अमेरिका में हुआ, यहां भी बाल श्रम से संबंधित

कानूनों को कारगर ढंग से लागू नहीं किया जा सका। इसका कारण यह था कि कारखाना निरीक्षकों की संख्या कम थी, औद्योगिक प्रतिष्ठानों से जुड़े प्रभावशाली लोग अथवा उद्योगपतियों ने नियमित तौर पर कानून कोअपनी जकड़ में ले लिया और यहां तक कि स्थानीय पादरी ने भी इन नियमों को लागू करने की दिशा में कोई प्रयास नहीं किया। लेकिन 1870–71 के युद्ध के बाद जब जर्मन राज्यों का एकीकरण हुआ और एक देश की स्थापना हुई तब एक आयोग की नियुक्ति की गयी और उसे यह जिम्मेदारी सौंपी गयी कि वह बाल श्रमिकों से संबंधित समस्याओं की जांच पड़ताल करे। इसके बाद शाही संसद ने 12 वर्ष से कम आयु के बच्चों के किसी भी कारखाने में काम करने पर प्रतिबंध लगा दिया और 12 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों के रोजगार को सीमित कर दिया। बाद के कानून में बच्चों के रोजगार पर और भी ज्यादा प्रतिबंध लगा दिया गया और इसे लागू करने पर विशेष ध्यान दिया गया। पहले के मुकाबले ज्यादा कारखाना निरीक्षकों की नियुक्ति की गयी, मालिकों को निर्देश दिया गया कि वे एक रजिस्टर रखें जिसमें कारखाने में काम करने वाले सभी बच्चों का ब्यौरा हो और कानून का उल्लंघन करने वाले मालिकों पर जुर्माना किया गया। अनिवार्य शिक्षा से संबंधित कानूनों को लागू करने से भी बाल मजदूरी से सम्बद्ध कानूनों को मजबूती मिली। यद्यपि कृषि तथा अनौपचारिक क्षेत्र में अंशकालिक बाल मजदूरी उस समय तक जारी रही फिर भी ''फॉक्सचुले'' के माध्यम से स्कूल में जाना अनिवार्य कर दिया गया और इसके बाद जो हाई स्कूल में नहीं जा सकते थे उन्हें 2 या 3 वर्षों के लिए ''बेरुफ्सचुले'' (व्यवसाय से संबंधित स्कूल) में भेज दिया गया।

अध्यापकों के एसोसिएशन के दबाव के कारण 1898 में व्यवसाय से संबंधित एक सर्वेक्षण किया गया जिससे यह पता चला कि अनिवार्य शिक्षा के बावजूद स्कूल जाने वाले आयु वर्ग के 6.5 प्रतिशत बच्चे कपड़ा मिलों, सिगार बनाने वाली फैक्ट्रियों, बुनाई कारखानों, जूता निर्माण, कृत्रिम फूलों की दुकानों और कृत्रिम आभूषण तथा खिलौने बनाने के कारखानों में काम कर रहे हैं। 1904 की जनगणना में देखा गया कि 14 वर्ष से कम आयु के 92 लाख बच्चों में से 18 लाख बच्चे मुख्य रूप से कृषि क्षेत्र में काम कर रहे थे। इस सर्वेक्षण से यह भी पता चला कि 14 वर्ष से कम आयु के जो भी बच्चे काम कर रहे हैं उनमें से लगभग सभी स्कूल भी जाते हैं और वे केवल कुछ घंटे ही काम करते हैं। 14 से 16 वर्ष की उम्र के बच्चे प्रतिदिन 10 घंटे से ज्यादा काम नहीं करते थे। मालिकों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे सभी कामगार बच्चों का ब्यौरा तैयार कर स्थानीय पुलिस को सौंपें और इन सभी बच्चों के काम के घंटों का विवरण भी तैयार करें।

अन्य देशों के मुकाबले जर्मनी अपेक्षाकृत अधिक सफलतापूर्वक बाल मजदूरी समाप्त कर सका और अनिवार्य शिक्षा को लागू कर सका– ऐसा एक असामान्य गठजोड़ के कारण हुआ। सेना और रूढ़िवादी तत्व इस बात के प्रति विशेष रूप से उत्सुक थे कि जिन युवकों की सेना में भर्ती की जा रही हो, उनका स्वास्थ्य ठीक हो तथा उनके अंदर शैक्षणिक कौशल भी हो और उनकी चिंता इस बात को लेकर थी कि अगर बाल मजदूरी की प्रथा जारी रही तो इससे जर्मनी की सैनिक क्षमता में कमी आयेगी। अध्यापकों के अंदर शिक्षा के प्रसार के लिए पेशागत चिंता थी। प्रोटेस्टेंट पादरी यह महसूस करते थे कि अगर बच्चे स्कूल जाते रहे तो उन्हें योजनाबद्ध ढंग से धार्मिक शिक्षा मिल सकेगी। डेमोक्रेट के साथ वैचारिक और मानवीय पक्ष जुड़ा हुआ था। रूढ़िवादियों ने सुधारों पर जोर दिया ताकि समाजवादी आंदोलन की धार को कुंद किया जा सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि इरादों और रुचियों का एक खास मिश्रण हो गया था– सैनिक क्षमता और राष्ट्रीय शक्ति संपन्नता के प्रति सरोकार, धर्म के दृष्टिकोण से चिंता, पेशागत चिंताएं, मानवीयता, राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता आदि। संक्षेप में कहें तो उस समय अत्यंत शक्तिशाली राजनीतिक शक्तियां सक्रिय थीं और सबकी सक्रियता के अपने-अपने कारण थे जो कुछ मां-बाप और व्यावसायिक समुदाय के विरोध के खिलाफ सुधारों के लिए जोर दे रहे थे।

आस्ट्रिया

1897 ई. में लंदन स्कूल बोर्ड के एक सदस्य जे.रसेल ऐंडियन ने आस्ट्रिया की यात्रा की, ताकि यहां की शिक्षा प्रणाली का वह अध्ययन कर सकें। उन्होंने प्रमुख शैक्षणिक संस्थानों को जाकर देखा– मसलन फॉसचुले, फोर्थविलदुंग (सांध्य कालीन स्कूल), हाई स्कूल, विश्वविद्यालय, अध्यापकों के प्रशिक्षण संस्थान तथा व्यावसायिक और तकनीकी स्कूल। इन्हीं संस्थानों को आस्ट्रिया के सम्राट ने एक बार कहा था कि ''ये जनशिक्षा की प्रशंसनीय व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करते हैं।'' श्री ऐंडियन ने अपनी प्रकाशित रिपोर्ट की भूमिका में लिखा–''मेरा उद्देश्य... बाद के पृष्ठों में यह बताना है कि आस्ट्रिया में शिक्षा प्रणाली कितनी दुरुस्त है ताकि हमारे यहां लोग देख सकें कि अपनी सामान्य व्यवस्था और खासतौर से जनता को सर्वोत्तम शिक्षा सुनिश्चित करने के मामले में यह कितनी आगे है।''[25]

आस्ट्रिया की शिक्षा प्रणाली वस्तुतः अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के मुकाबले ''विकसित'' थी या नहीं यह अलग बात है लेकिन श्री ऐंडियन ने यह तुलना एक प्रतिस्पर्धी देश के साथ इसलिए की ताकि उनकी खुद की सरकार शिक्षा के लिए और भी ज्यादा संसाधनों की व्यवस्था कर सके। लेकिन श्री ऐंडियन

की रिपोर्ट से हमें पिछली शताब्दी के अंतिम दिनों में आस्ट्रिया में जन–शिक्षा की दिशा में हो रहे काम की उपयोगी जानकारी मिलती है।

श्री ऐंडियन प्राथमिक स्कूलों में अनिवार्य हाजिरी व्यवस्था लागू करने की दिशा में आस्ट्रियाई सरकार की क्षमता से खासतौर से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि सात वर्ष से 14 वर्ष के लड़कों और लड़कियों दोनों के लिए फाक्सचुले में शिक्षा अनिवार्य था। "सैनिक सेवाओं में अनिवार्य रूप से भर्ती होने की प्रणाली के कारण साम्राज्य के अधीन प्रत्येक परिवार के सदस्यों की संख्या उस जिले के पुलिस रजिस्टर में दर्ज होती है जिस जिले में वह परिवार रहता है। व्यवस्था ऐसी रही है कि अगर परिवार का सदस्य एक प्रांत से दूसरे प्रांत में जाकर बस रहा हो अथवा समूचा परिवार एक स्थान से दूसरे स्थान तक जा रहा हो तो परिवार के मुखिया का यह कर्तव्य होता था कि नए स्थान पर पहुंचने के बाद वह पुलिस कार्यालय जाए और अपना तथा परिवार के अन्य सदस्यों का विवरण दर्ज कराए। उसे सदस्यों की संख्या, उनकी उम्र, पुरुषों और महिलाओं की अलग–अलग संख्या देने के साथ यह भी बताना होता था कि वह अपने बच्चे/बच्चों को किस स्कूल में भेजना चाहेगा और यह कि क्या उसके परिवार में स्कूल जाने वाले आयु वर्ग का कोई बच्चा है? इतना करने के बाद यह पता करने के लिए कि वह बच्चा या उसके बच्चे स्कूल जा रहे हैं या नहीं स्कूल के हाजिरी विभाग से अथवा स्कूल के डायरेक्टर की ओर से इस बात की जांच की जाती थी। अगर बच्चा स्कूल नहीं जाता था तो यह मामला स्कूल के प्रबंधकों तक ले जाया जाता था और यह सिलसिला तब तक चलता था जब तक मां-बाप मजबूर होकर बच्चे को स्कूल न भेज दें। आस्ट्रिया में किसी के भी मां-बाप को यह इजाजत नहीं है कि वे लगातार कानून का उल्लंघन करें। शहर में ड्यूटी पर तैनात पुलिस की जिम्मेदारी थी कि पढ़ाई के घंटों के दौरान अगर उसे सड़क पर खेलता हुआ या घूमता हुआ कोई ऐसा लड़का दिखाई दे जो स्कूली आयुवर्ग का है तो इसकी वह तुरत थाने में रिपोर्ट करे।"[26]

आस्ट्रिया की स्कूली शिक्षा प्रणाली के लिए आर्थिक साधन जुटाने का काम प्रांतों और स्थानीय कम्युनिस्टों द्वारा किया जाता था। अध्यापकों के वेतन की व्यवस्था प्रांत के स्तर पर की जाती थी जबकि स्कूल के भवन, फर्नीचर, तथा स्थानीय खर्च की जिम्मेदारी स्थानीय कम्यून उठाते थे। आस्ट्रिया में उस समय 17 प्रांत थे और प्रत्येक प्रांत के पास अपने अलग–अलग शिक्षा बोर्ड भी थे। इन बोर्डों में प्रांतीय संसद के सदस्य, विभिन्न धार्मिक समुदायों के पादरी तथा विशिष्ट प्रोफेसर और अध्यापक होते थे। बोर्ड के सदस्यों के नामों को अंतिम स्वीकृति के लिए शिक्षा मंत्री

के पास भेजा जाता था। सामुदायिक शिक्षा बोर्ड के सदस्यों को नगर–कौंसिलें अथवा सामुदायिक प्रतिनिधित्व वाली कौंसिलें नामजद करती थीं। यह सारा काम प्रांतीय शैक्षणिक बोर्डों के नियंत्रण में रहता था।

प्राथमिक स्कूलों में पढ़ाई पूरी करने वाले छात्र फोर्थबिलदुंग में अपनी पढ़ाई जारी रख सकते थे। यहां "जिस क्षेत्र में स्कूल स्थित है उस क्षेत्र के व्यवसाय के अनुरूप" छात्रों को तकनीकी शिक्षा प्रदान की जाती थी। यहां अगर वे न पढ़ना चाहें तो "जिमनेजियम" (हाई स्कूल) में प्रवेश ले सकते थे। इसके अलावा "गेवरबेसचुलेन" (सरकारी तकनीकी विद्यालय) भी अनेक थे जहां बिताया जाने वाला प्रत्येक घंटा कुशल कारीगरों की देखरेख में प्रशिक्षण प्राप्त करने में बीतता था और यह प्रशिक्षण ड्राइंग, इंजीनियरिंग, वास्तुकला, भवन निर्माण आदि हर क्षेत्रों के लिए था।[27] बीस वर्ष की उम्र होने पर आस्ट्रिया का प्रत्येक नौजवान तीन वर्ष के लिए सेना में भर्ती होता था– यह एक अनिवार्य व्यवस्था थी।

श्री एंडियन की विशेष दिलचस्पी इम्पीरियल और रॉयल इंस्पेक्टोरेट ऑफ स्कूल में थी। सभी स्कूल मास्टर अथवा प्रोफेसर जिन्हें इंस्पेक्टर की श्रेणी में रखा जाता था, शिक्षा मंत्री द्वारा नियुक्त किये जाते थे और इन्हें साल में एक या दो बार सभी "फाक्सचुले" का निरीक्षण करना होता था। निरीक्षण के लिए न तो कोई तारीख तय होती थी और न स्कूल के अधिकारियों को कोई अग्रिम सूचना दी जाती थी। दैनिक दिनचर्या के दौरान किसी भी दिन अचानक स्कूल के अंदर इंसपेक्टर प्रवेश करता था। "अचानक कक्षा में प्रवेश करने के साथ ही वह अध्यापक से कहता था कि वह पढ़ाना जारी रखे और कक्षा में बैठकर वह बड़ी बारीकी से पढ़ाये जाने का निरीक्षण करता था तथा अपनी टिप्पणियां दर्ज करता था..... इसके बाद प्रांत के शिक्षा विभाग को वह अपनी विशेष रिपोर्ट भेजता था। उसके निरीक्षण या उसकी रिपोर्ट का स्कूल को मिलने वाली धनराशि पर कोई असर नहीं पड़ता था। क्योंकि "नतीजे के अनुसार भुगतान" की प्रथा का चलन नहीं था।"[28] जिले में अध्यापकों का एक सालाना सम्मेलन होता था जिसमें अपने निष्कर्षों के बारे में इंस्पेक्टर विचारं विमर्श करता।

यह "प्रशंसनीय प्रणाली" अपेक्षाकृत नयी थी। अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में आस्ट्रिया में कुछ ही बच्चे स्कूलों में जाते थे। 1770 में की गयी एक जनगणना के अनुसार शहर के केवल 25 प्रतिशत बच्चे ही स्कूल में जाते थे। आसपास के ग्रामीण क्षेत्रों में स्कूल जाने वाले आयु वर्ग के 15–20 प्रतिशत बच्चे ही स्कूलों में जाते थे। स्कूल संबंधी पहला कानून 1774 में लागू हुआ। इसमें इस बात का प्रावधान था कि प्रत्येक "पैरिश" (पल्ली) एक निम्न प्राथमिक विद्यालय (त्रिविअल्सचुले) की स्थापना करे और जो बड़े

कस्बे हैं, वे तीन वर्षीय उच्च प्राथमिक विद्यालय (हौप्सचुले) खोलें। पल्लियों के पादरी स्थानीय स्कूलों के देखभाल की जिम्मेदारी निभाते रहे लेकिन कानून के अनुसार सरकार द्वारा नियुक्त प्रांतीय स्कूल आयोग सभी स्कूलों का निरीक्षण करता था।

समूची 18वीं और 19वीं शताब्दी के दौरान कैथोलिक चर्च और सरकार के बीच झगड़ा चलता रहा कि स्थानीय स्कूलों पर किसका नियंत्रण होना चाहिए। चर्च के अधिकारियों ने चिंता व्यक्त की कि राज्य द्वारा संचालित स्कूलों के कुछ "अधकचरे" लोग "मानवतावाद की आड़ में अपरिपक्व और असावधान दिलों में घातक विचार भर सकते हैं ताकि ये विचार निचले से निचले तबके तक फैल सकें और अपनी जड़ें गहरी कर सकें"– यह बात कार्डिनल मिगाजी ने 1793 में सम्राट को लिख कर भेजा। फ्रांसीसी क्रांति ने राज्य के अधिकारियों को यह सोच कर डरा दिया कि धार्मिक सार से रहित जनशिक्षा के भयानक दुष्परिणाम हो सकते हैं। शिक्षा पर चर्च के नियंत्रण की पुष्टि करने वाले 1805 के "पोलिटिकल स्कूल ला" ने आगाह किया कि "जनशिक्षा की यह एक प्रमुख असफलता है कि यह जिसको शिक्षा और निर्देश देता है उसके वर्ग पर ध्यान नहीं देता और यह मानता है कि कोई भी ज्ञान प्रत्येक वर्ग के लिए उपयुक्त है।"[29]

1867 ई. तक, जब एक नया संविधान लिखा गया, आस्ट्रिया में शिक्षा पर राज्य का एकाधिकार नहीं कायम हो सका था। 1869 में एक शिक्षा मंत्रालय का गठन हुआ और "नेशनल पब्लिक स्कूल ला" पारित हुआ जिसमें छः वर्ष से 14 वर्ष के सभी बच्चों को राज्य द्वारा संचालित अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रणाली के जरिए शिक्षा देने का प्रावधान था। चर्च ने इस कानून का विरोध किया और ग्रामीण क्षेत्रों से भी इसके कार्यान्वयन को लेकर काफी विरोध हुआ। किसान लोग चाहते थे कि केवल छः वर्ष तक अनिवार्य शिक्षा दी जाय ताकि उनके बच्चों को खेतों में काम पर लगाया जा सके। अध्यापकों के वेतन के लिए लगाए जाने वाले स्कूल टैक्स का भी स्थानीय स्तर पर विरोध हुआ। आस्ट्रिया के स्कूलों में अनिवार्य शिक्षा के लिए जबर्दस्त समर्थन और कैथोलिक पुरोहितवाद का विरोध सोशल डेमोक्रेटिक लेबर पार्टी की ओर से आया। आस्ट्रिया के स्कूल अध्यापक भी अनिवार्य सार्वजनिक शिक्षा के समर्थक थे। सोशल डेमोक्रेट्स, अध्यापक तथा विभिन्न उदारवादी सुधारकों ने मिलकर 1905 में "फ्री स्कूल" संगठन बनाया जिसका उद्देश्य शैक्षणिक सुधार को बढ़ावा देना तथा अनिवार्य शिक्षा संबंधी कानून को लागू करने पर जोर देना था।

अन्य स्थानों की ही तरह बाल मजदूरी का मसला शैक्षणिक सुधार के मसले से घनिष्ठ रूप से जुड़ा था। वैसे तो कामगार बच्चों के संरक्षण के

लिए अठारहवीं सदी में जोसेफ द्वितीय के शासनकाल में सबसे पहले कुछ उपाय शुरू किये गए तो भी खतरनाक व्यवसायों में काम करने से बच्चों को दूर रखने के लिए 10वीं सदी के अंत तक कोई वैधानिक कदम नहीं उठाये गये। 1884 और 1885 में ऐसे कानून पारित हुए जिनमें तेरह वर्ष से कम आयु (खदानों के लिए 14 वर्ष) के बच्चों के रोजगार पर पाबंदी थी, रात्रिकालीन रोजगार पर प्रतिबंध था और 13 तथा 14 वर्ष के बच्चों को ही रोजगार की इजाजत थी बशर्ते उन्होंने कानूनी स्कूली अपेक्षाएं पूरी की हों। लेकिन बाद के अध्ययनों से पता चला कि इस कानून के बावजूद एक समय में बच्चों के रोजगार में वास्तविक वृद्धि हुई।

बाल मजदूरी की स्थिति तथा अनिवार्य शिक्षा लागू करने में विफलता पर राज्य की नौकरशाही तथा कुछ राजनीतिज्ञों के अंदर चिंता तो देखी गयी पर नौकरशाही के साथ काम कर रहे अध्यापकों के संगठनों ने ही इस समस्या से निबटने में पहल की। शुरूआती तौर पर यह पता लगाने पर जोर दिया गया कि बाल मजदूरों की संख्या कितनी है। 1897 में "सेंट्रल एसोसिएशन आफ वियेनीज टीचर्स" ने बाल मजदूरी के बारे में अध्ययन किए। सन् 1900 में वियेना के केंद्रीय सांख्यिकी आयोग ने बाल मजदूरी पर एक सरकारी छानबीन की। आयोग ने स्कूलों में छात्रों की भर्ती से संबंधित आंकड़े का इस्तेमाल किया और अध्यापकों की मदद से स्कूल वाले वर्ष के दौरान बच्चों के रोजगार के बारे में आंकड़े जुटाये। इसके बाद 'वियेना टीचर्स एसोसिएशन" और "लोअर आस्ट्रियन रिजनल टीचर्स एसोसिएशन" ने बाल मजदूरी के बारे में एक और सर्वेक्षण किया। अगले दशक में बाल मजदूरी से संबंधित अनेक कानून पारित हुए जिनका उद्देश्य प्रवर्तन पद्धतियों को कड़ाई से लागू करना, पंद्रह वर्ष से कम आयु के बच्चों के रोजगार को सीमित (न कि प्रतिबंधित) करना और अनिवार्य रूप से स्कूल जाने वाले आयुवर्ग के बच्चों के रोजगार का समय प्रतिदिन तीन घंटे तय करना था।

1918 के कानून के तहत अमरीका में प्रचलित वर्क परमिट की तरह वर्क कार्ड की शुरुआत की गयी। काम करने वाली आयु के सभी बच्चों से अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने पास एक वर्क कार्ड रखें और मालिक के खर्च पर किसी डाक्टर से शारीरिक परीक्षण करायें। कार्ड में नाम, व्यवसाय और मालिक का पता तथा बच्चे के कानूनी अभिभावक का नाम दर्ज किया जाता था। कानून के तहत मालिकों के लिए यह जरूरी था कि वे वर्क कार्ड में ताजा सूचनाएं भरें और क्षेत्रीय कार्यालयों, स्कूल डाइरेक्टरों तथा विभिन्न सरकारी अधिकारियों को जब जरूरत हो कार्ड उपलब्ध करायें। क्षेत्रीय सरकारों से अपेक्षा की जाती थी कि वे "आफिस ऑफ बिजनेस इंस्पेक्शन" के तहत एक कार्यालय स्थापित करें जो बाल मजदूरी से संबंधित कानूनों

को लागू करे। स्कूल के अधिकारियों से अपेक्षा की जाती थी कि वे इस कार्यालय को स्कूल में हाजिरी से संबंधित सालाना रिपोर्ट भेजें जबकि स्वैच्छिक संगठनों सहित अन्य एजेंसियों की यह जिम्मेदारी थी कि वे "आफिस ऑफ बिजनेस इन्सपेक्शन" के क्षेत्रीय कार्यालयों को इस बात की रिपोर्ट करें कि कहां गैर कानूनी ढंग से बच्चों को काम में लगाया जा रहा है।

आस्ट्रिया में केंद्रीकृत और कट्टरपंथी नौकरशाही, राज्यशाही, स्कूल प्रशासन, स्थानीय पुलिस, अध्यापकों के संगठन और सोशल डेमोक्रेटिक लेबर पार्टी का गठबंधन था जिसने कैथोलिक पादरियों, मां-बाप तथा व्यापारिक समुदाय की आपत्तियों पर काबू पाया ताकि राज्य द्वारा संचालित अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की प्रणाली स्थापित की जा सके और लागू किये जाने योग्य बाल श्रम कानूनों की रचना की जा सके।

इंगलैंड

जर्मनी और आस्ट्रिया के मुकाबले शिक्षा तथा बाल श्रम को नियमित बनाने के क्षेत्र में ब्रिटिश सरकार ने देर से तथा काफी धीमी गति से प्रवेश किया। राज्य स्तर पर कदम उठाने में कई तत्वों ने बाधा पहुंचाई– ऐंग्लिकन चर्च, जिसे यह डर था कि राज्य के हस्तक्षेप से शिक्षा पर इसकी पकड़ ढीली हो जाएगी, विरोधी स्वर वाले चर्चों ने यह सोचा कि हो सकता है कि शिक्षा का नियंत्रण ऐंग्लिकन करने लगें; कारखाने के मालिक कम मजदूरी पर काम लेने वाले बाल मजदूरों को छोड़कर आर्थिक लाभ से वंचित नहीं होना चाहते थे; एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था जिसके तहत स्थानीय अधिकारियों के पास खासतौर से शिक्षा के मामले में उल्लेखनीय स्वायत्तता थी और स्वैच्छिकता की एक विचारधारा जिसने विधायकों और मजिस्ट्रेटों के अंदर हिचकिचाहट पैदा की जिससे मां-बाप पर यह दबाव नहीं डाला जा सके कि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजें। बाल मजदूरी के अनेक आलोचकों ने एक गलत निष्कर्ष यह निकाला कि इस सबके पीछे ब्रिटिश राजनीति, संस्थायें और विचारधारा न होकर बल्कि पूंजीवाद है जो सुधार के मार्ग में बाधा बन रहा है। अगर उन्होंने जर्मनी, आस्ट्रिया, स्वीडन और फ्रांस पर निगाह डाली होती तो संभव है कि वे कुछ अलग निष्कर्ष निकालते।

अन्य प्रोटेस्टेंट देशों की ही तरह इंग्लैंड में जन शिक्षा का जल्दी विकास हुआ। 1833 से पहले इंग्लैंड में शिक्षा का काम पूरी तरह स्वैच्छिक था, मां-बाप के खर्च से और धर्मार्थ संगठनों तथा धार्मिक संस्थाओं की आर्थिक मदद से चलता था। चर्च ऑफ इंग्लैंड ने ऐंग्लिकन प्रभुत्व वाले स्कूलों के असर को कम करने तथा राज्य के हस्तक्षेप का विरोध करने के

उद्देश्य से एक संगठन बनाया जिसका नाम था "नेशनल सोसाइटी फार प्रमोटिंग दि एजूकेशन ऑफ दि पुअर'। ऐंग्लिकन चर्च और ब्रिटिश उच्च वर्ग के नजरिये से देखें तो गरीबों के लिए शिक्षा एक धार्मिक और नैतिक मामला था– जिससे चर्च में जाने के लिए प्रोत्साहन मिले, अपराधों में कमी आये, स्वावलंबन, मितव्ययिता, सौम्यता और सफाई के गुणों को अरोपित किया जा सके और निम्न वर्गों को इस योग्य बनाया जा सके कि वे चुपचाप जीवन में अपनी स्थिति को स्वीकार कर लें। अध्यापक बनने के लिए किसी व्यावसायिक प्रशिक्षण की जरूरत नहीं होती थी। 19वीं सदी के प्रारंभ में अध्यापन के लिए अनिवार्य योग्यता किसी ऐंग्लिकन पादरी के सर्टिफिकेट का होना था।देखा गया कि सैद्धान्तिक कट्टरता के प्रति ज्यादा सरोकार था न कि शिक्षा संबंधी मानदण्ड के प्रति। फ्रांस में घटित घटनाओं के मुकाबले काफी विपरीत स्थितियां थीं। फ्रांसीसी क्रांति के बाद फ्रांस की सरकार ने राज्य द्वारा संचालित प्राइमरी स्कूलों की स्थापना करके, धार्मिक स्कूलों को एक सरकारी पाठ्यक्रमों का पालन करने के लिए मजबूर करते हुए राज्य के नियंत्रण में लाकर तथा सरकारी सेवा के अन्य भागों से भिन्न अध्यापन के पेशे की स्थापना करके (जो पुरोहिती प्रभाव से मुक्त हो) शिक्षा पर कैथोलिक चर्च की पकड़ को तोड़ने की कोशिश की। अध्यापकों का प्रशिक्षण अनिवार्य था और सभी अध्यापकों की नियुक्ति राज्य द्वारा सरकारी कर्मचारी के रूप में की जाती थी।[30] फ्रांस में शिक्षा राज्य द्वारा संगठित, राज्य द्वारा प्रशासित और राज्य द्वारा वित्तीय साधनों से युक्त हो गयी।

शिक्षा के क्षेत्र में स्वैच्छिकता पर इंग्लैंड की निर्भरता ने, जिसका अर्थ राज्य द्वारा संचालित स्कूलों की बजाय आमतौर पर चर्च द्वारा संचालित स्कूलों से था, सफलतापूर्वक साक्षरता और शिक्षा के प्रसार का काम किया। यहां तक कि समूची 19वीं शताब्दी में राज्य के समर्थन के बिना भारी संख्या में छात्रों ने स्कूलों में शिक्षा ली। अनुमान है कि 1869 ई. तक इंग्लैंड में जो भी स्कूल थे, उनमें से दो तिहाई स्कूलों का खर्च स्वैच्छिक स्रोतों, मां-बाप, धर्मार्थ संस्थाओं और चर्चों से आता था। प्राथमिक शिक्षा मुख्य रूप से ऐंग्लिकन चर्चों के नियंत्रण वाले स्कूलों में होती थी, रविवार को चलने वाले स्कूलों को इवेंजेलिकल्स और डिसेंटर्स का समर्थन प्राप्त था तथा ऐंग्लिकन्स भी इनकी मदद करते थे। इसके अलावा कुछ और स्कूल थे जिन्हें चर्च का समर्थन प्राप्त था।

इस व्यवस्था की प्रमुख उपलब्धि बड़े पैमाने पर साक्षरता का प्रसार थी यद्यपि निम्न वर्गों के लिए स्कूल जाने वाले वर्षों की संख्या सीमित ही रही। 1851 की जनगणना रिपोर्ट में शिक्षा संबंधी आंकड़ों में अनुमान लगाया गया है कि मजदूर वर्ग के बच्चे का स्कूली जीवन औसतन 4 वर्ष था।[31] रोजगार

के क्षेत्र में प्रवेश के लिए लड़कियों के मुकाबले दोगुनी संख्या में लड़कों को स्कूल से हटा लिया गया। यहां तक कि 1830 वाले दशक में मजदूर वर्ग के वयस्कों में से आधे से दो–तिहाई लोग ऐसे थे जो पढ़ना जानते थे और 1870 आते–आते इंग्लैंड में निरक्षरता कोई प्रमुख समस्या नहीं रह गयी थी।

इस व्यवस्था ने विभिन्न वर्गों के लिए शिक्षा का उपयुक्त स्वरूप प्रदान किया– निम्न वर्ग के लोगों के लिए चर्च द्वारा संचालित स्कूल तथा उच्च और अभिजात्य वर्ग के लिए एक दूसरे तरह की शिक्षा जिससे उनके अंदर यह भावना पैदा हो सके कि वे एक अभिजात्य हैं। सभी वर्गों के लिए समान शिक्षा व्यवस्था की मांग करने वाले भी कुछ लोग थे (जैसा कि अमेरिका में भी देखा जाता रहा है)। जेम्स मिल ने उस समय की प्रचलित धारणा को व्यक्त करते हुए लिखा कि'' कुछ ऐसे गुण हैं जिन्हें अपनाना सभी वर्गों के लिए वांछनीय है। कुछ ऐसे गुण हैं जिन्हें अपनाना कुछ वर्गों के लिए तो वांछनीय हैं पर कुछ के लिए नहीं। जहां तक उन गुणों का संबंध है जो सबके बीच समान रूप से होना चाहिए, उनके लिए एक ऐसे प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए जो सबको प्राप्त हो। केवल उन्हीं गुणों के लिए जो सबके लिए वांछनीय नहीं हैं, प्रशिक्षण के तरीके में फर्क की जरूरत है।''[32]

इंग्लैंड के नैतिकतावादियों के लिए शिक्षा और धर्म (जिनमें घनिष्ठ संबंध हैं) सामाजिक व्यवस्था तथा राजनीतिक स्थिरता के उपकरण थे। शिक्षा को सामाजिक गतिशीलता का साधन नहीं समझा जाता था। इसी प्रकार शिक्षा में निवेश को भी देश की संपदा बढ़ाने का साधन नहीं माना जाता था। बाल मजदूरी के प्रति प्रमुख आपत्ति यह थी कि इससे बच्चे स्कूलों में नहीं जा पाते जहां वे अपने सामाजिक वर्ग के उचित मूल्यों को आत्मसात कर पाते। इसलिए जो सबसे पहला कानून बना उसमें कारखानों में काम करने वाले बच्चों के लिए अंशकालिक शिक्षा का प्रावधान था (फैक्ट्रीज ऐक्ट ऑफ 1833)। कपड़ा उद्योग में कार्यरत नौ से ग्यारह वर्ष की आयु के बच्चो को सप्ताह में छह दिन रोजाना दो घंटे स्कूली शिक्षा दी जाती थी। बाद के कानूनों ने मुद्रण, खनन, लेस, ढलाई, धातुकर्म, तम्बाकू तथा अन्य उद्योगों में लगे बच्चों के लिए अंशकालिक शिक्षा की व्यवस्था की। अंशकालिक शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य बच्चों को मजदूरी के काम करते रहने योग्य बनाना था।[33]

ब्रिटिश संसद ने 1833 में पहली बार शिक्षा के लिए धनराशि का निर्धारण किया। वैसे तो यह राशि बहुत कम (20,000 पौंड) थी पर इसने शिक्षा संबंधी सरकारी व्यय का सिद्धान्त स्थापित कर दिया। इसके बाद से उदारवादियों, उपयोगितावादियों, सुधारवादियों और ट्रेड यूनियनों ने शिक्षा के क्षेत्र में सरकार की भूमिका को और विस्तार देने के लिए दबाव डाला।

1870 का ''एजुकेशन ऐक्ट'' एक और मील का पत्थर था। इसने अनिवार्य शिक्षा को थोपा नहीं, बल्कि इसने स्कूल बोर्डों को ऐसा करने के योग्य बनाया। 1871 में लंदन के स्कूल बोर्ड ने दस वर्ष की आयु के सभी बच्चों के लिए शिक्षा को अनिवार्य बना दिया। अनिवार्य शिक्षा को लागू करने का उल्लेखनीय ढंग से विरोध खुद गरीबों की ओर से हुआ, स्कूल बोर्ड में शामिल ऐंग्लिकन पादरियों की ओर से हुआ और उन मजिस्ट्रेटों की ओर से भी हुआ जिनकी जिम्मेदारी ही यह थी कि वे उन मां-बाप पर जुर्माना करें जो अपने बच्चों को स्कूल न भेजते हों।

लंदन स्कूल बोर्ड के एक विस्तृत अध्ययन में बताया गया है कि मां-बाप अपने बच्चों को स्कूल भेजें– यह काम कराना कितना कठिन था। उस समय एक अधिकारी ने लिखा कि मां-बाप इस बात के आदी हो चुके थे कि ''जैसे ही उनके बच्चों के छोटे–छोटे हाथ माचिस की तीलियां बनाने योग्य अथवा खिलौनों को रंगने योग्य हों, वे बच्चों से पैसा कमाना शुरू कर दें और उनके इस तथाकथित अधिकार में किसी तरह के हस्तक्षेप का वे स्वाभाविक तौर पर विरोध करते थे।'' स्कूल बोर्ड के एक सदस्य ने, जो एक समाजवादी अध्यापक थे, 1902 में लैसेस्टर में एक ऐसी मां से हुई अपनी बातचीत का ब्यौरा लिखा जिसने अपनी बेटी को घर पर ही रोक रखा था ताकि वह धुलाई के उसके काम में मदद पहुंचाए। उन्होंने बयान किया ''उन अलग–अलग हितों की दर्दनाक जटिलताओं का–मदद के लिए मां की जरूरत; बच्चे की शिक्षा की जरूरत; समाज का दावा कि उसके आश्रित के रूप में रह रहा बच्चा एक प्रतिभाशाली नागरिक होने का प्रशिक्षण प्राप्त कर सके। मां को इस दबाव के आगे झुकना ही चाहिए और उसे पीड़ा झेलनी ही चाहिए लेकिन अफसोस है कि मांओं की पीड़ाओं से कोई भी राष्ट्र सही अर्थों में कुछ हासिल नहीं कर सकता।''[34]

रूबिन्स्टीन ने लिखा, ''लंदन के एक मजिस्ट्रेट ने 1899 में टिप्पणी की कि अगर 1870 के दशक में उतने सम्मन जारी किये गए होते जितने बोर्ड चाहता था तो ''हमारे यहां विद्रोह हो गया होता।'' उन्होंने आगे लिखा– ''लेकिन सबसे महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय बात यह है कि मजिस्ट्रेटों ने स्कूल बोर्ड को सहयोग देने से इन्कार कर दिया क्योंकि अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के महत्व में उनका विश्वास नहीं था। अपनी राजनीति में वे दकियानूस थे और अपनी प्रवृत्तियों में वे उच्च मध्य वर्ग के थे इसलिए उन्हें लगा कि गरीबों को उनकी स्थिति से ऊपर उठाने की कोई जरूरत नहीं है। ''रूबिस्टीन ने एक मामले का बयान किया है जिसका संबंध 12 साल की एक लड़की से है। इस लड़की के मां-बाप के बारे में अदालत में बताया गया कि वे ''शिष्ट, परिश्रमी और सम्माननीय लोगों में से'' थे। वह लड़की प्रति

सप्ताह तीन शिलिंग की मजदूरी पर नौकरानी का काम कर रही थी। मजिस्ट्रेट ने फैसला दिया कि 1870 के एजूकेशन ऐक्ट के अनुच्छेद 74 के अंतर्गत लड़की का नौकरी करना उसके स्कूल न जाने का पर्याप्त रूप से उचित कारण था। जज ने लिखा कि "वह अपने मां-बाप को मदद पहुंचाने का सम्मानित कार्य बहुत ईमानदारी के साथ कर रही थी और इससे पहले कि मैं यह कहूं कि उसके स्कूल न जाने का यह कोई उचित बहाना नहीं था मुझे एजूकेशन ऐक्ट में कही गयी उन बातों पर विचार करना होगा जो मेरी इस धारणा के विपरीत हैं। मैं यह कहना चाहूंगा कि संसद द्वारा पारित किसी कानून की उस धारा को पढ़ने में मुझे हिचकिचाहट होती है जिसमें किसी बच्चे पर यह रोक लगायी गयी हो कि वह परिवार की मदद के लिए जरूरी कामों को स्थगित करके खुद अपने लिए थोड़ी बहुत प्राथमिक शिक्षा ग्रहण करने लगे।[35]

1880 में संसद ने कानून पारित किया जिसके जरिए देशभर में शिक्षा को अनिवार्य बना दिया गया।[36] अब स्कूल बोर्डों से अपेक्षा की जाने लगी कि वे अनिवार्य शिक्षा लागू करें और अगर कोई मां-बाप अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेजता है तो इसे एक दंडनीय अपराध मान लिया गया। जो मां-बाप अपने बच्चों की आय पर निर्भर रहते थे, उनकी तरफ से इस कानून का विरोध भी होने लगा। और साथ ही उन मालिकों ने भी विरोध करना शुरू किया जिनके यहां बच्चे काम करते थे। मां-बाप के स्तर पर यह अनुरोध खासतौर से किसानों की ओर से हुआ जहां बच्चों से काम लिया जाता था। लेकिन सुधारकों ने लगातार सांसदों पर इस बात के लिए दबाव डाला कि बच्चे और समुदाय की न्यूनतम शिक्षा की जरूरतों के मुकाबले मां-बाप के काम में बच्चों का हाथ बंटाना अथवा बच्चों से काम लेने का मां-बाप का अधिकार कम महत्वपूर्ण है।[37] अनेक डोरी सांसद जो पहले स्वैच्छिक स्कूलों के हिमायती थे, अब इस पक्ष में हो गये कि स्थानीय अधिकारियों और स्कूल बोर्डों को इस बात का अधिकार दिया जाए कि वे स्कूलों में हाजिरी के लिए दबाव डाल सकें।

लंदन में अनिवार्य शिक्षा को लागू करने की पद्धति इस प्रकार थी : जो मां-बाप अपने बच्चों को स्कूल भेजने में विफल पाये जाते थे उन्हें "ए" नोटिस मिलती थी। अगर इस नोटिस से कोई लाभ नहीं निकलता था तो उन्हें नोटिस "बी" दी जाती थी जिसमें मां-बाप से कहा जाता था कि वे स्कूल आवें और बोर्ड की मीटिंग में भाग लेकर बोर्ड के सदस्यों को बताएं कि किस वजह से उनके बच्चे स्कूल नहीं आ रहे हैं। 1889 में कुल 96,000 "ए" नोटिसें और 95,000 "बी" नोटिसें जारी की गयीं। उसी वर्ष 12,800 सम्मन भी जारी किये गये। 1870 और 1903 के बीच लंदन में प्राथमिक स्कूलों में शिक्षा ग्रहण करने वाले बच्चों की संख्या बढ़कर 3,19,000 से 5,49,000 हो गयी जो कि 72 प्रतिशत वृद्धि थी और यह वृद्धि ऐसे समय हुई जब स्कूल जाने वाले आयुवर्ग के बच्चों की संख्या में केवल एक तिहाई की वृद्धि हुई थी। 1893 में स्कूली शिक्षा के लिए न्यूनतम आयु को बढ़ाकर 11 वर्ष कर दिया गया जो 1899 में बढ़कर 12 वर्ष हो गयी।

लंदन में अनिवार्य शिक्षा को लागू करने के साथ स्कूल बोर्डों का यह प्रयास भी घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था कि स्कूलों को ज्यादा से ज्यादा आकर्षक बनाया जाए। स्लेट पेंसिल की जगह पर कागज, कलम और पेंसिल का इस्तेमाल किया जाने लगा। मानचित्रों और चार्टों आदि का व्यापक तौर पर प्रयोग शुरू हुआ। स्कूलों में पुस्तकालयों की स्थापना की गयी। शारीरिक शिक्षा और खेलकूद पर जोर दिया गया। काष्ठ शिल्प के शिक्षण के लिए मानव चालित प्रशिक्षण केंद्र खोले गये। पाठ्यक्रमों के विषयवस्तु का स्तर उन्नत किया गया। जैसे-जैसे स्कूल बोर्डों ने अनिवार्य शिक्षा को लागू किया स्कूल आने में छात्रों द्वारा नागा करने की घटनाओं में कमी आती गयी। पिछली शताब्दी के समाप्त होते-होते लंदन में हाजिरी अधिकारियों पर होने वाले आक्रमणों में भी कमी आ गयी। स्कूलों में हाजिरी में वृद्धि हुई। 1877 में यह हाजिरी 80 प्रतिशत थी जो 1900 में बढ़कर 82 प्रतिशत और 1904 में 88 प्रतिशत हो गयी। स्कूलों में जो बच्चे शिक्षा लेने आ रहे थे उनमें से बहुत बड़ी संख्या उनकी थी जो छोटे-छोटे कारखानों और घरों में तथा ईस्ट लंदन के उमस भरे कमरों में काम करते थे। कुल मिलाकर देश में पुरुषों के लिए साक्षरता दर में वृद्धि हुई। यह 1841 में 67 प्रतिशत थी जो 1871 में बढ़कर 80 और 1900 में 97 प्रतिशत हो गयी।

अनिवार्य शिक्षा कानून को क्यों 1880 के बाद ही पारित करना और लागू करना संभव हुआ- इससे पहले नहीं?। इसका एक जबाव तो श्रमिकों, अध्यापकों, स्थानीय सरकारी अधिकारियों और समाज सुधारकों के निरंतर तेज होते आंदोलन से पड़ने वाला दबाव था। अनिवार्य शिक्षा के इन समर्थकों ने आमतौर पर प्रचलित इस भावना को आकार और अभिव्यक्ति दी कि मां-बाप को इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि वे अपने बच्चों से होने वाली तात्कालिक आय को शिक्षा तक उनकी पहुंच के मुकाबले ज्यादा वरीयता दें। यह नयी प्रवृत्ति गरीबों के बच्चों के स्वास्थ्य तथा उनकी खुशहाली के प्रति व्यापक तौर पर प्रचलित आम चिंता का ही एक अंश थी। और बदले में यह नयी प्रवृत्ति इंग्लैंड की वर्गीय प्रणाली में आये परिवर्तनों की अभिव्यक्ति थी जिसने बच्चों की ओर से कानून बनाने के प्रयासों को धक्का दिया था। ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के ढांचे में हो रहे परिवर्तनों ने भी अनिवार्य शिक्षा के लिए दलील को और असरदार बनाया। क्लर्कों तथा अन्य

सफेदपोश कर्मचारियों की बढ़ती मांगों ने मजदूर वर्ग के बच्चों को ऐसे अवसर प्रदान किये कि वे उन पेशों को अपना सकें जो उनके मां-बाप द्वारा अपनाये गये पेशों से भिन्न थे। यद्यपि अनेक गरीब मां-बाप शिक्षा के मुकाबले काम पर भेजने को अभी भी वरीयता देते थे, शिक्षादाताओं ने अब यह तर्क देना शुरू कर दिया था कि मां-बाप को इस बात की इजाजत नहीं मिलनी चाहिए कि वे अपने बच्चों के लिए गलत चुनाव करें। कहने का अर्थ यह नहीं कि अर्थव्यवस्था में आये परिवर्तनों ने बच्चों को मजदूरों की कतार से बाहर कर दिया। इस बात के प्रमाण नहीं हैं कि बच्चों को काम नहीं मिलता था अथवा यह कि मां-बाप खुद ही शिक्षा के चुनाव को अपना रहे थे। स्कूल आने में नागा होने के कारण जो नोटिसें लंदन स्कूल बोर्ड द्वारा जारी की जाती थीं, उनकी संख्या को देखें तो इससे विपरीत बात का प्रमाण मिलता था। लेकिन अर्थव्यवस्था में आये परिवर्तनों ने सुधारों को ज्यादा रुचिकर तो बनाया ही। अंततः 1880 वाले दशक तक सुधारों को ज्यादा लागू करने योग्य बना दिया गया क्योंकि स्कूल न जाने वाले बच्चों की संख्या में उल्लेखनीय गिरावट आयी। नागा करने वालों की संख्या जैसे-जैसे कम होती गयी, नागा करने से संबंधित कानूनों को लागू करना उतना ही आसान भी होता गया।

1880 के अनिवार्य शिक्षा कानून के होते हुए भी यूरोप के अन्य देशों तथा अमरीका के मुकाबले बाल मजदूरी से संबंधित सुधार के मामले में इंग्लैंड की रफ्तार धीमी ही रही। प्रथम विश्व युद्ध के बाद तक इंग्लैंड वह कानून पारित नहीं कर सका जिसके तहत 14 वर्ष तक की उम्र के सभी बच्चों के लिए शिक्षा को अनिवार्य बनाया जा सकता था और 14 वर्ष से कम उम्र के सभी बच्चों के लिए बड़े कारखानों और वर्कशापों में काम करने पर प्रतिबंध लगाया जा सकता था। गरीबों के बच्चों को प्रभावित करने वाले अन्य सुधार (मसलन विधवाओं के लिए पेंशन) बाद में आये। इस प्रकार इंग्लैंड का अनुभव यह बताता है कि बच्चों तथा गरीबों के संदर्भ में जो धारणाएं और विचारधाराएं थीं उन्होंने श्रम बाजार द्वारा थोपे गये किसी भी दबाव के मुकाबले नीतियां निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अमेरिका

इंग्लैंड की ही तरह अमरीकी उपनिवेशों में अपने बच्चों की शिक्षा के प्रति मां-बाप के व्यवहार को तय करने में धार्मिक विश्वासों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। धार्मिक विश्वासों ने ही शिक्षा के प्रति राज्य की भूमिका के मामले में सरकारी अधिकारियों के रुख का भी निर्धारण किया। काफी पहले 1642 में मैसाच्यूसेट्स ने एक कानून पारित किया जिसमें सभी मां-बाप और

अभिभावकों से कहा गया था कि वे इस बात का ध्यान रखें कि उनके बच्चे अथवा उनके आश्रित पढ़ना सीख सकें। पांच वर्ष बाद एक और कानून पारित हुआ जिसमें यह निर्देश दिया गया कि 50 अथवा इससे अधिक परिवारों वाले सभी कस्बे पढ़ाने और लिखाने के लिए एक अध्यापक की नियुक्ति करें जिसका वेतन करों से प्राप्त कोष में से दिया जायेगा। कानून में इस बात का भी प्रावधान था कि 100 अथवा इससे ज्यादा परिवारों को चाहिए कि वह लड़कों को कालेज में प्रवेश की तैयारी कराने के लिए लाटिन ग्रामर का एक अध्यापक रखे। वस्तुतः इन कानूनों ने तीन सिद्धान्तों की स्थापना की जिनसे आगे चलकर शिक्षा संबंधी नीतियों को तैयार करने में दिशा मिली : यह कि राज्य के पास यह अधिकार है कि वह मां-बाप पर इस बात के लिए दबाव डाले कि वे अपने बच्चों को शिक्षा दें; यह कि स्थानीय अधिकारियों द्वारा जुटाये गये सार्वजनिक कोष को स्कूलों की स्थापना और स्कूलों को समर्थन देने में लगाया जा सकता है और लगाया जाना चाहिए तथा यह कि राज्य को ऐसे कस्बों की जरूरत है जहां वह स्थानीय करों को इस्तेमाल कर स्कूलों की स्थापना कर सके।

इन कानूनों ने धार्मिक संस्थाओं अथवा अन्य निजी संस्थाओं को अपने-अपने स्कूलों के खोलने पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाया। 17वीं शताब्दी में देखा गया कि स्थापित चर्चों तथा नागरिक सरकारों के बीच उपनिवेशों में जो घनिष्ठ संबंध था उसने अपने-अपने मतों के तथा अन्य निजी स्कूलों के विकास को वैधानिक रूप दिया। इन कानूनों ने ऐसा भी नहीं किया कि स्कूल जाना अनिवार्य कर दिया हो। इन कानूनों में यह अपेक्षा निहित थी कि मां-बाप अपने बच्चों को शिक्षित करें- यह नहीं कि बच्चे स्कूल जायें। यह भेद काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि सबसे पुराने शिक्षा कानूनों ने मां-बाप को इस बात की अनुमति दी कि वे अपने बच्चों को घर में पढ़ा सकें। इन कानूनों में ऐसा कोई प्रावधान नहीं था जिसके अनुसार स्कूल भेजना अनिवार्य हो और इसको लागू किया जाना भी अनिवार्य हो। इस तरह का कानून 19वीं शताब्दी में काफी समय बाद तक नहीं आ सका। अंततः यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि मैसाच्यूसेट्स के कानून ने निम्न वर्गों के लिए निर्धारित प्राथमिक स्कूलों विश्वविद्यालयों में प्रवेश के लिए सहायक तथा उच्च वर्गों के लिए निर्धारित माध्यमिक स्कूलों में भेद किया।[38]

यद्यपि अमरीका की शिक्षा संबंधी नीति में दबाव और जन शिक्षा दोनों की भूमिका शुरू से ही थी लेकिन 19वीं सदी के काफी मध्य तक शिक्षा के परिदृश्य पर निजी क्षेत्र, खासतौर से धार्मिक संस्थाओं, का ही दबदबा बना रहा। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्कूलों में दाखिला लेने वाले छात्रों की संख्या में वृद्धि हुई। शिक्षा ने कितना व्यापक

रूप ग्रहण कर लिया था– मां-बाप द्वारा अपने बच्चों को खुद पढ़ाने और स्कूल भेजकर पढ़ाने के जरिये– इसको मापने के लिए हम 19वीं शताब्दी के मध्य में साक्षरता के स्तर को देख सकते हैं। अमरीका की 1850 की जनगणना के अनुसार गोरी आबादी में 20 वर्ष से अधिक आयु के 90 प्रतिशत लोग साक्षर थे। अमरीका के इस आंकड़े का मुकाबला केवल, स्वीडन कर सकता था। उस समय इंग्लैंड और वेल्स में वयस्क साक्षरता 70 प्रतिशत, फ्रांस में 55 से 60 प्रतिशत, प्रशिया में 80 प्रतिशत और इटली में केवल 20 से 25 प्रतिशत थी। (लेकिन अमरीका में 1870 तक अश्वेत आबादी में से केवल 20 प्रतिशत साक्षर थे)[39]

शिक्षा के प्रति प्यूरिटनवादियों की प्रतिबद्धता उनकी इस धारणा पर आधारित थी कि शिक्षा प्राप्त करने का प्रमुख उद्देश्य मुक्ति प्रदान करना है। प्यूरिटन सिद्धांत के अनुसार बच्चे सहज रूप से चरित्रहीन होते हैं। उन्होंने शिक्षा को इस रूप में देखा कि यह बच्चों के अंदर से बुरी प्रवृत्तियों को दूर करने के लिए आवश्यक है तथा बच्चों को मुक्ति के मार्ग पर ले जाने के लिए बुनियादी जरूरत उनके अंदर अनुशासन पैदा करने की है। "रेलीजन" पहला "आर" है, रीडिंग यानी पढ़ना दूसरा "आर", राइटिंग यानी लिखना तीसरा "आर" और औपनिवेशिक काल में "रिथमेटिक" चौथा और दयनीय 'आर" है। प्रथम और सबसे जरूरी चीज यह है कि भावी अध्यापकों को धर्म का प्रशिक्षण प्राप्त हो। चूंकि उपनिवेशवादियों की प्रतिबद्धता अनुशासन और मुक्ति के लिए शिक्षा के प्रति थी इसलिए उन्होंने साम्प्रदायिक स्कूलों की स्थापना का स्वागत किया। चर्च और राज्य तथा शिक्षा से धर्म को अलग करने का सिलसिला बाद में शुरू हुआ।[40]

कानून के बावजूद 19वीं शताब्दी के शुरू के वर्षों में सभी अमरीकी बच्चे स्कूल नहीं जाते थे। एक अनुमान के अनुसार 1832 में न्यू इंग्लैंड में कारखाना मजदूरों की जो संख्या थी उसको अगर पांच भागों में विभाजित करें तो इसके दो भाग में केवल बच्चे काम करते थे। 1870 की जनगणना में बताया गया कि 10 और 15 वर्ष की आयु के 7,50,000 बच्चे काम में लगे हुए थे और बाद की जनगणनाओं की रिपोर्टों से पता चलता है कि 1870 से 1910 के बीच उनकी संख्या में वृद्धि होती गयी।

स्कूल भेजना अनिवार्य करने से संबंधित कानून की मांग 1820 के दशक में शुरू हुई। 1830 और 1840 के दशकों में मैसाच्यूसेट्स, कनेक्टीकट, और पेन्सिलवानिया ने ऐसे कानूनों को पारित किया जिनसे कपड़ा मिलों में काम करने वाले नाबालिग बच्चों के काम के घंटों को सीमित किया गया। 1836में मैसाच्यूसेट्स में पारित कानून में यह व्यवस्था थी कि उत्पादन में लगे संस्थानों में काम करने वाले 15 वर्ष से कम उम्र के बच्चे नौकरी के वर्ष

से पूर्व के वर्ष में कम से कम 3 महीने तक स्कूलों में गये हों और उन्होंने अपनी हाजिरी के प्रमाण पत्र हासिल किये हों। 1842 में कामनवेल्थ द्वारा स्कूल समितियों को निर्देश दिया गया कि वे कानून को लागू करें। लेकिन इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि इन कानूनों को तथा अन्य कानूनों को जो 19वीं शताब्दी के मध्य में, बाद के वर्षों में अन्य राज्य विधान मंडलों द्वारा पारित किये गये, व्यापक तौर पर अथवा कड़ाई के साथ लागू किया गया।

1870 वाले दशक की शुरुआत के साथ अनेक कानूनों का निर्माण हुआ। यह एक हद तक अमरीका की तत्कालीन प्रमुख ट्रेड यूनियन फेडरेशन "नाइट्स ऑफ लेबर" के अभियान का परिणाम था जो स्कूलों पर दबाव डालता था कि वे बच्चों से काम लेने पर रोक लगायें। और मैसाच्यूसेट्स में नवगठित मैसाच्यूसेट्स ब्यूरो ऑफ स्टैटिस्टिक्स एंड लेबर द्वारा किये गये अध्ययनों ने कानूनी कदम उठाने की प्रेरणा दी। 1873 में राज्य ने कानून पारित किया जिसके अनुसार सभी शहरों में ऐसे अधिकारियों की नियुक्ति की व्यवस्था थी जो अनिवार्य स्कूली शिक्षा संबंधी कानूनों को लागू कर सकें। 1874 में बने एक कानून ने 14 वर्ष की आयु तक के लिए साल में कम से कम 20 सप्ताह की शिक्षा को अनिवार्य बनाया। 1876 में मैसाच्यूसेट्स ने एक कानून पारित किया जिसके अंतर्गत किसी निर्माण अथवा व्यापारिक संस्थान में 10 वर्ष से कम आयु के बच्चे के रोजगार पर प्रतिबंध लगाया गया था और यह मानते हुए कि 10 से 14 वर्ष की आयु के बीच के ही बच्चों को रोजगार दिया जायेगा, यह कहा गया था कि रोजगार वाले वर्ष से पूर्ववर्ती वर्ष में कम से कम 20 सप्ताह तक उसकी स्कूली शिक्षा जरूरी है। बाल मजदूरी से संबंधित कानूनों को लागू करने की जिम्मेदारी एक डिप्टी कांस्टेबुल को दी गयी और 1878 में एक कानून पारित किया गया जिसके अनुसार मालिकों को एक ऐसा रजिस्टर रखने को कहा गया जिसमें वे अपने कर्मचारियों की जन्मतिथि और उनके द्वारा स्कूल में शिक्षा ग्रहण करने का ब्यौरा दर्ज कर सकें। इसे कभी भी जांच के लिए अधिकारियों को सौंपा जा सकता था। मैसाच्यूसेट्स ब्यूरो ऑफ स्टैटिस्टिक्स एण्ड लेबर द्वारा जुटाये गये आंकड़ों के अनुसार अभी भी दस वर्ष से कम आयु के बच्चे कारखानों में काम कर रहे थे, 10 से 15 वर्ष की आयु के बीच के अनेक बच्चे वर्षों से कभी भी स्कूल नहीं गये थे और फैक्ट्री के अधिकारीगण प्रायः इनसे संबंधित दस्तावेजों में झूठे आंकड़े भर देते थे।[41]

संभवतः जन शिक्षा को व्यापक बनाने का सबसे ठोस प्रयास मैसाच्यूसेट्स में हुआ। वहां स्कूल सुधार संबंधी आंदोलन के नेता होरेस मान थे जो एक वकील थे और मैसाच्यूसेट्स राज्य विधान मंडल के सदस्य थे। 1837 में जब राज्य के शिक्षा बोर्ड का निर्माण किया गया तो वह इसके प्रथम सचिव बने।

राष्ट्रीय स्तर पर जिसे कामन स्कूल मूवमेंट कहा जाता था, उसके भी नेता मान बने। वह आंदोलन निःशुल्क शिक्षा सबको प्रदान करने के लिए था जिसका खर्च सरकार वहन करती; यह आंदोलन ऐसे स्कूलों की स्थापना के लिए था जहां छात्रों को नैतिक शिक्षा दी जाती लेकिन वह संकीर्ण धार्मिक शिक्षा से मुक्त होती। यह आंदोलन ऐसे स्कूलों की स्थापना के लिए था जिसमें सभी धार्मिक, सामाजिक और जातीय पृष्ठभूमि के बच्चे प्रवेश ले सकते थे और जहां ऐसे प्रशिक्षित व्यवसाय कुशल अध्यापकों को रखा जाता था जो अपने विषय में विशेषज्ञ थे। इस आंदोलन का जोर इस बात पर था कि निजी स्कूली व्यवस्था की कीमत पर सरकारी स्कूली व्यवस्था का विस्तार किया जाय और समान तथा न्यूनतम मानदंडों को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से स्कूलों पर अधिक से अधिक केन्द्रीय नियंत्रण (अर्थात स्थानीय सरकार के मुकाबले राज्य सरकार का नियंत्रण) स्थापित किया जा सके। समान स्कूल की अवधारणा में यह बात निहित थी कि एक प्राथमिक स्कूल क्षेत्र के सभी बच्चों की जरूरतें पूरा करेगा। इंग्लैंड में जहां स्कूली सहायता को गरीबों को शिक्षा देने का एक साधन समझा जाता था, होरेस मान ने दलील दी कि सामाजिक वर्ग का भेदभाव किये बिना सभी बच्चों को समान शिक्षा देने की एक व्यवस्था चाहिए। अमेरिका के इस कामन स्कूल मूवमेंट ने शिक्षा को एक ऐसे उपकरण के रूप में देखा जो विभिन्न वर्गों और जातीय समुदायों के बीच सामाजिक एकीकरण कर सकता था।

इन प्रस्तावों पर राजनीतिक मतभेद थे। डेमोक्रेट्स का मानना था कि प्राइवेट शिक्षण संस्थाएं पर्याप्त हैं जबकि व्हिग्स निजी स्कूलों की संख्या और क्वालिटी बढ़ाने के लिए सरकारी हस्तक्षेप चाहते थे। केंद्रीकरणवादी (जिनमें से मान एक थे) ऐसे स्कूलों के पक्ष में थे जो किसी संप्रदाय विशेष के न हों जबकि अन्य धार्मिक समूहों के पादरी सरकारी शिक्षा के विस्तार के प्रायः विरोधी थे और उन्होंने गैर–सांप्रदायिक स्कूलों की स्थापना का विरोध किया। कुछ राजनीतिज्ञों ने राज्य के नियंत्रण का यह कह कर विरोध किया कि यह स्थानीय समुदायों के अधिकारों के खिलाफ अतिक्रमण है। ग्रामीण नेतृत्व खासतौर से शिक्षा के केंद्रीकृत करने की मान की योजना के खिलाफ था क्योंकि उनका मानना था कि अध्यापकों को जवाबदेह होना चाहिए: स्कूल के उन ट्रस्टीज के प्रति जो उन्हें वेतन देते हैं,– मां-बाप के प्रति तथा अन्य करदाताओं के प्रति। ग्रामीण स्कूलों का पाठ्यक्रम स्थानीय समुदाय द्वारा तय किया जाना चाहिए। स्कूल सुधार के हिमायती पेशागत विशेषज्ञता को लागू करना चाहते थे। वे चाहते थे–अध्यापकों के प्रशिक्षण विद्यालय, एक ऐसे नौकरशाही युक्त शैक्षणिक ढांचे की स्थापना जो स्कूल के प्राधिकरण पर से अनाड़ियों का नियंत्रण समाप्त कर सके और इस प्रकार "शिक्षा को

राजनीति से मुक्त" कर सके, और राज्य के ऐसे कानून जो ग्रामीण समुदायों को इस बात के लिए विवश कर सकें कि वे एक कमरे वाले स्कूलों को अपेक्षाकृत बड़ा अस्तित्व प्रदान कर सकें।

19वीं सदी का उत्तरार्ध आते आते सुधारकों की जीत होने लगी थी। देशभर में निःशुल्क स्कूली शिक्षा व्यापक रूप से उपलब्ध हो रही थी। 1850 में स्कूली शिक्षा पर कुल व्यय का 47 प्रतिशत खर्च हो रहा था जो 1900 में 79 प्रतिशत हो गया। इस राशि का अधिकांश हिस्सा स्थानीय कर से प्राप्त होता था। स्कूलों में हाजिरी के बारे में शिक्षा विषयक इतिहासकारों ने जो अध्ययन किये उनसे पता चलता है कि बच्चों का बहुत बड़ा अनुपात स्कूलों में जा रहा था। 1880 में सेंट लुईं में एक अध्ययन से जानकारी मिलती है कि 8–11 आयु वर्ग के बच्चों में 10 में से 9 बच्चे स्कूल में थे। अन्य अध्ययनों से पता चलता है कि अधिकांश बच्चों के लिए पांच वर्ष की स्कूली शिक्षा आम बात थी। लेकिन शिक्षाविदों के लिए दो समस्याएं चिंता का कारण बनी रही : बच्चों का एक अल्पमत ऐसा था जो कभी स्कूल नहीं गया और किशोरवय के लड़कों की एक बहुत बड़ी संख्या श्रमिकों के रूप में कार्यरत थी। स्कूल जाने में जो लोग नागा करते थे, उनमें से कई गरीब परिवारों से थे, बाहर से आकर यहां बसे थे और गैर–प्रोटेस्टेंट थे।

अनिवार्य शिक्षा लागू करने के लिए राजनीतिक दबाव पड़ने लगा। 1873 में मैसाच्यूसेट्स ने एक कानून पारित किया जिसके अनुसार सभी शहरों–कस्बों में "ट्रुअंट आफिसर्स" (नागा करने वालों पर निगरानी रखने वाला अधिकारी) की नियुक्ति की जानी थी जो अनिवार्य स्कूली शिक्षा संबंधी कानूनों को लागू करे। 1876 में मैसाच्यूसेट्स ने एक कानून बनाया जिसमें 10 वर्ष से कम आयु के बच्चों के काम करने पर प्रतिबंध था और यह भी शर्त थी कि 10 से 14 वर्ष के बीच की आयु के लड़के तभी काम कर सकते थे जब वे एक वर्ष पूर्व कम से कम 20 सप्ताह तक स्कूली शिक्षा ग्रहण कर चुके हों। बाल मजदूरी से संबंधित कानूनों को लागू करने की जिम्मेदारी एक डिप्टी कांस्टेबुल को दी गयी और 1878 में एक कानून पारित हुआ जिसमें मालिकों से कहा गया कि वे अपने यहां काम करने वालों के जन्म और स्कूली शिक्षा से संबंधित कागजात की फाइलें बना लें जिसकी जांच "ट्रुअंट आफिसर्स" कभी भी कर सकते हैं। 1885 आते–आते 38 राज्यों में से 16 में अनिवार्य शिक्षा कानून लागू थे और 1900 तक 31 राज्यों में 8 वर्ष से 14 वर्ष के बीच के उम्र के लड़कों के लिए स्कूली हाजिरी जरूरी थी। 1918 में मिसीसीपी राज्य द्वारा अपने यहां अनिवार्य शिक्षा लागू करने के साथ ही सभी राज्यों के लिए यह प्रक्रिया पूरी हो गयी।

पढ़ाई के लिए कक्षाओं की कमी थी पर 20वीं सदी के पहले दशक तक

मांगों अनुरूप यह जरूरत भी पूरी हो गयी, कक्षाओं के आकार छोटे हो गए और सबको शिक्षा देने के संकल्प ने व्यापक रूप ले लिया। स्कूल के लिए स्थानीय समुदायों को दी जाने वाली सहायता को औसत दैनिक हाजिरी के साथ जोड़ दिया गया था और इसकी वजह से स्थानीय स्कूल बोर्डों को इस बात की प्रेरणा मिली कि वे उन छात्रों के पीछे पड़ें जो स्कूल आने में नागा करते थे। पत्रकार तथा सुधारक अनिवार्य स्कूली शिक्षा और बाल श्रम कानूनों को लागू करने के लिए सक्रिय रूप से अभियान करते थे लेकिन हाजिरी पूरी नहीं होती थी और पूरी–पूरी उपस्थिति सुनिश्चित करने के लिए स्कूल के अधिकारियों को– स्कूल में जनगणना करने वालों, "ट्रुअंट अफसरों, और स्कूल के सामाजिक कार्यकर्ताओं को काफी परिश्रम करना पड़ता था। उनका यह काम कारखानों के उस विभाग के मशीनीकरण से आसान हो गया जिस विभाग में बच्चे काम करते थे यद्यपि इसके कारण और प्रभाव का विभेद करना कठिन है। कहा जा सकता है कि चूंकि श्रम की मंडी से बच्चों को हटा लिया गया इसलिए उन बहुत सारे कामों का मशीनीकरण हुआ जहां वे लगे हुए थे। 1890 के बाद सफेदपोश नौकरियों के विस्तार तथा ऐसे हाई स्कूल ग्रेजुएट्स की मांग में वृद्धि ने जो दफ्तरों में काम कर सकें, स्कूल को और भी आकर्षक बना दिया। संक्षेप में कहें तो श्रम की मंडी से बाहर रहने के अवसर लागतों में गिरावट आई जबकि हाई स्कूल शिक्षा के लाभों में वृद्धि हुई। 1870 से 1910 के बीच श्रमिकों के रूप में बच्चों की संख्या में लगातार वृद्धि हुई थी लेकिन इसके बाद इसमें उल्लेखनीय गिरावट आई।

1880 की अमरीकी जनगणना रिपोर्ट में बताया गया था कि 10–15 वर्ष के आयुवर्ग के 60 हजार बच्चे न्यूयार्क राज्य में मजदूरी कर रहे थे लेकिन विभिन्न "चालों" में रहने वाले ऐसे बच्चों की एक बहुत बड़ी संख्या थी जो मजदूरी के काम में लगे तो थे लेकिन रिपोर्टों में जिनका उल्लेख नहीं होता था। जनगणना रिपोर्ट में इस बात का भी आंकड़ा उपलब्ध नहीं था कि कितने बच्चे अखबार बेचने के काम में, जूतों पर पालिश करने के काम में, ठेले लगाने के काम में अथवा खेतों पर मजदूरी के काम में लगे हैं। बाल श्रम विषय के एक विद्वान ने अनुमान लगाया कि ज्यादा यथार्थवादी ढंग से देखें तो लगभग 2 लाख बाल मजदूर इस राज्य में हैं, और उस विद्वान के निष्कर्ष के अनुसार 1886 से 1900 के बीच न्यूयार्क के कारखानों में 16 वर्ष से कम उम्र के जो बच्चे मजदूरी कर रहे थे, उनका प्रतिशत कुल फैक्ट्री मजदूरों की संख्या के मुकाबले अपरिवर्तित रहा और यह 4 प्रतिशत था।[42] 1880 की जनगणना में बताया गया था कि राष्ट्रीय स्तर पर 10 से 15 वर्ष के बीच की आयु वाले 10 लाख बच्चे विभिन्न नौकरियों में लगे हैं अर्थात

उस आयुवर्ग के बच्चों में प्रत्येक 6 में से एक नौकरी कर रहा था। 1890 की जनगणना में यह संख्या बढ़कर 15 लाख हो गयी जो उस आयुवर्ग में 18 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी थी। फिर 1900 की जनगणना में बताया गया कि इस आयुवर्ग के 17 लाख 50 हजार बच्चे मजदूरी कर रहे हैं। बाल मजदूरों की संख्या खासतौर से दक्षिण में बढ़ी जहां कपड़ा मिलों का काफी विस्तार हुआ था। कपड़ा मिलों वाले अनेक दक्षिणी राज्यों में (नार्थ और साउथ कैरोलीना, जार्जिया और अलबामा) सन् 1900 के बाद तक न तो बाल श्रम से संबंधित और न अनिवार्य शिक्षा से संबंधित कोई कानून था। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अर्थव्यवस्था में विकास के साथ बाल श्रम में भी वृद्धि हुई।

बाल श्रम को समाप्त करने और अनिवार्य शिक्षा को लागू करने के लिए अनेक समाज सुधार संगठनों ने काम शुरू किया– 1904 में गठित नेशनल चाइल्ड लेबर कमेटी, दि न्यूयार्क चाइल्ड लेबर कमेटी, दि नेशनल कंजूमर्स लीग (1890) और जनरल फेडरेशन ऑफ वीमेन्स क्लब्स (1890)। "नाइट्स ऑफ लेबर" ने राज्य सरकार पर इस बात के लिए सक्रिय दबाव डाला कि वह बच्चों के नौकरी करने पर प्रतिबंध लगाने वाले कानूनों को पारित करे और नियमों को लागू करे। 1881 में अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर ने अपने प्रथम वार्षिक सम्मेलन में राज्यों का आवाहन किया कि वे 14 वर्ष से कम आयु के सभी बच्चों के रोजगार पर प्रतिबंध लगायें। दोनों ट्रेड यूनियन फेडरेशनों ने बाल श्रम के बारे में संघीय विनियमन की अनुमति के लिए संविधान में संशोधन की हिमायत की। डेमोक्रेटिक पार्टी ने 1892 के अपने अधिवेशन में राज्य द्वारा ऐसा कानून बनाये जाने की मांग की जो 15 वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखानों में काम करने से रोक सके।

बाल श्रम के खिलाफ जो विभिन्न समूह प्रचार चला रहे थे उनमें नेशनल चाइल्ड लेबर कमेटी का अभियान सबसे ज्यादा कारगर था क्योंकि इसने बहुत योजनाबद्ध ढंग से खास–खास उद्योगों और उनमें काम कर रहे बच्चों की स्थितियों का अध्ययन किया था। इस संगठन ने शीशा उद्योग का अध्ययन पूरा करनेके बाद इस उद्योग में बच्चों के काम करने की प्रथा को समाप्त करने का अभियान चलाया–अध्ययन ने ग्लास हाउस आपरेटर्स के अनेक दावों को झूठा साबित कर दिया था। मालिकों ने दलील दी कि उनका उद्योग बाल श्रम पर निर्भर है, कि 16 वर्ष से कम आयु के बच्चे काम के मामले में वयस्कों के मुकाबले ज्यादा ठीक हैं, कि अच्छे ग्लास वर्कर के लिए प्रशिक्षण का काम उम्र के शुरुआती दिनों से ही प्रारंभ हो जाना चाहिए, कि अगर बाल श्रम और रात की पारी को समाप्त कर दिया गया तो वे अपने कारखाने बंद करने पर मजबूर हो जायेंगे और अंत में वही घिसी पिटी

मांगों अनुरूप यह जरूरत भी पूरी हो गयी, कक्षाओं के आकार छोटे हो गए और सबको शिक्षा देने के संकल्प ने व्यापक रूप ले लिया। स्कूल के लिए स्थानीय समुदायों को दी जाने वाली सहायता को औसत दैनिक हाजिरी के साथ जोड़ दिया गया था और इसकी वजह से स्थानीय स्कूल बोर्डों को इस बात की प्रेरणा मिली कि वे उन छात्रों के पीछे पड़ें जो स्कूल आने में नागा करते थे। पत्रकार तथा सुधारक अनिवार्य स्कूली शिक्षा और बाल श्रम कानूनों को लागू करने के लिए सक्रिय रूप से अभियान करते थे लेकिन हाजिरी पूरी नहीं होती थी और पूरी–पूरी उपस्थिति सुनिश्चित करने के लिए स्कूल के अधिकारियों को– स्कूल में जनगणना करने वालों, "ट्रुअंट अफसरों, और स्कूल के सामाजिक कार्यकर्ताओं को काफी परिश्रम करना पड़ता था। उनका यह काम कारखानों के उस विभाग के मशीनीकरण से आसान हो गया जिस विभाग में बच्चे काम करते थे यद्यपि इसके कारण और प्रभाव का विभेद करना कठिन है। कहा जा सकता है कि चूंकि श्रम की मंडी से बच्चों को हटा लिया गया इसलिए उन बहुत सारे कामों का मशीनीकरण हुआ जहां वे लगे हुए थे। 1890 के बाद सफेदपोश नौकरियों के विस्तार तथा ऐसे हाई स्कूल ग्रेजुएट्स की मांग में वृद्धि ने जो दफ्तरों में काम कर सकें, स्कूल को और भी आकर्षक बना दिया। संक्षेप में कहें तो श्रम की मंडी से बाहर रहने के अवसर लागतों में गिरावट आई जबकि हाई स्कूल शिक्षा के लाभों में वृद्धि हुई। 1870 से 1910 के बीच श्रमिकों के रूप में बच्चों की संख्या में लगातार वृद्धि हुई थी लेकिन इसके बाद इसमें उल्लेखनीय गिरावट आई।

1880 की अमरीकी जनगणना रिपोर्ट में बताया गया था कि 10–15 वर्ष के आयुवर्ग के 60 हजार बच्चे न्यूयार्क राज्य में मजदूरी कर रहे थे लेकिन विभिन्न "चालों" में रहने वाले ऐसे बच्चों की एक बहुत बड़ी संख्या थी जो मजदूरी के काम में लगे तो थे लेकिन रिपोर्टों में जिनका उल्लेख नहीं होता था। जनगणना रिपोर्ट में इस बात का भी आंकड़ा उपलब्ध नहीं था कि कितने बच्चे अखबार बेचने के काम में, जूतों पर पालिश करने के काम में, ठेले लगाने के काम में अथवा खेतों पर मजदूरी के काम में लगे हैं। बाल श्रम विषय के एक विद्वान ने अनुमान लगाया कि ज्यादा यथार्थवादी ढंग से देखें तो लगभग 2 लाख बाल मजदूर इस राज्य में हैं, और उस विद्वान के निष्कर्ष के अनुसार 1886 से 1900 के बीच न्यूयार्क के कारखानों में 16 वर्ष से कम उम्र के जो बच्चे मजदूरी कर रहे थे, उनका प्रतिशत कुल फैक्ट्री मजदूरों की संख्या के मुकाबले अपरिवर्तित रहा और यह 4 प्रतिशत था।[42] 1880 की जनगणना में बताया गया था कि राष्ट्रीय स्तर पर 10 से 15 वर्ष के बीच की आयु वाले 10 लाख बच्चे विभिन्न नौकरियों में लगे हैं अर्थात

उस आयुवर्ग के बच्चों में प्रत्येक 6 में से एक नौकरी कर रहा था। 1890 की जनगणना में यह संख्या बढ़कर 15 लाख हो गयी जो उस आयुवर्ग में 18 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी थी। फिर 1900 की जनगणना में बताया गया कि इस आयुवर्ग के 17 लाख 50 हजार बच्चे मजदूरी कर रहे हैं। बाल मजदूरों की संख्या खासतौर से दक्षिण में बढ़ी जहां कपड़ा मिलों का काफी विस्तार हुआ था। कपड़ा मिलों वाले अनेक दक्षिणी राज्यों में (नार्थ और साउथ कैरोलीना, जार्जिया और अलबामा) सन् 1900 के बाद तक न तो बाल श्रम से संबंधित और न अनिवार्य शिक्षा से संबंधित कोई कानून था। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अर्थव्यवस्था में विकास के साथ बाल श्रम में भी वृद्धि हुई।

बाल श्रम को समाप्त करने और अनिवार्य शिक्षा को लागू करने के लिए अनेक समाज सुधार संगठनों ने काम शुरू किया– 1904 में गठित नेशनल चाइल्ड लेबर कमेटी, दि न्यूयार्क चाइल्ड लेबर कमेटी, दि नेशनल कंजूमर्स लीग (1890) और जनरल फेडरेशन ऑफ वीमेन्स क्लब्स (1890)। "नाइट्स ऑफ लेबर" ने राज्य सरकार पर इस बात के लिए सक्रिय दबाव डाला कि वह बच्चों के नौकरी करने पर प्रतिबंध लगाने वाले कानूनों को पारित करे और नियमों को लागू करे। 1881 में अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर ने अपने प्रथम वार्षिक सम्मेलन में राज्यों का आवाहन किया कि वे 14 वर्ष से कम आयु के सभी बच्चों के रोजगार पर प्रतिबंध लगायें। दोनों ट्रेड यूनियन फेडरेशनों ने बाल श्रम के बारे में संघीय विनियमन की अनुमति के लिए संविधान में संशोधन की हिमायत की। डेमोक्रेटिक पार्टी ने 1892 के अपने अधिवेशन में राज्य द्वारा ऐसा कानून बनाये जाने की मांग की जो 15 वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखानों में काम करने से रोक सके।

बाल श्रम के खिलाफ जो विभिन्न समूह प्रचार चला रहे थे उनमें नेशनल चाइल्ड लेबर कमेटी का अभियान सबसे ज्यादा कारगर था क्योंकि इसने बहुत योजनाबद्ध ढंग से खास–खास उद्योगों और उनमें काम कर रहे बच्चों की स्थितियों का अध्ययन किया था। इस संगठन ने शीशा उद्योग का अध्ययन पूरा करनेके बाद इस उद्योग में बच्चों के काम करने की प्रथा को समाप्त करने का अभियान चलाया–अध्ययन ने ग्लास हाउस आपरेटर्स के अनेक दावों को झूठा साबित कर दिया था। मालिकों ने दलील दी कि उनका उद्योग बाल श्रम पर निर्भर है, कि 16 वर्ष से कम आयु के बच्चे काम के मामले में वयस्कों के मुकाबले ज्यादा ठीक हैं, कि अच्छे ग्लास वर्कर के लिए प्रशिक्षण का काम उम्र के शुरुआती दिनों से ही प्रारंभ हो जाना चाहिए, कि अगर बाल श्रम और रात की पारी को समाप्त कर दिया गया तो वे अपने कारखाने बंद करने पर मजबूर हो जायेंगे और अंत में वही घिसी पिटी

दलील कि बाल श्रम से गरीबों को अपनी गरीबी से छुटकारा मिलता है। नेशनल चाइल्ड लेबर कमेटी के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि जिन राज्यों ने रात में बच्चों के काम करने पर प्रतिबंध लगाया वहां उत्पादकता में तेजी से वृद्धि हुई, कि बच्चों को जो मजदूरी दी जाती थी (प्रतिदिन 65 सेंट) वह इतनी कम थी कि उससे परिवार की आय में कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं होता था और यह कि हाल में मशीनों के आ जाने से निर्माताओं के लिए बच्चों को काम पर रखना गैर जरूरी तो हो ही गया, ज्यादा मंहगा भी हो गया। एन.सी.एल.सी. ने 1905 में शीशा निर्माताओं के खिलाफ न्यू जर्सी, पेन्सिलवानिया और वेस्ट वर्जीनिया में कानून बनाने की लड़ाई शुरू की लेकिन इस लड़ाई में उसे एक दशक अथवा इससे भी ज्यादा समय लगाना पड़ा और तब कहीं जाकर इनमें से प्रत्येक राज्य के लिए ऐसा कानून बन सका जो 16 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के शीशे के कारखाने में रात में काम करने पर प्रतिबंध लगाये और उनके रोजगार पर अन्य तरह के प्रतिबंध लागू करे।[43]

एन.सी.एल.सी. तथा सरकार पर दबाव डालने वाले अन्य समूहों द्वारा बाल श्रम कानून, अनिवार्य शिक्षा कानून और कानूनों को लागू करने के लिए निरंतर चलाये जाने वाले अभियान ने अमरीका में बाल श्रम को समाप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन समूहों के प्रयासों के जरिये फैक्ट्री इंस्पेक्टरों की संख्या में वृद्धि हुई और एक ऐसी प्रणाली तैयार हो सकी जिसके अधीन श्रम की मंडी में युवा लोगों के प्रवेश को नियमबद्ध बनाने के लिए रोजगार संबंधी सर्टीफिकेट की आवश्यकता को रेखांकित किया गया। नेशनल चाइल्ड लेबर कमेटी की तमाम उपलब्धियों में से एक सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि 1908 से 1915 के बीच न्यूयार्क सिटी में रोजगार--प्रमाणपत्र प्रणाली विकसित करानी रही :

> यद्यपि यह काम एक हद तक बोझिल किस्म का था पर यह काफी महत्वपूर्ण था और इसका उद्देश्य जहां तक संभव हो कानून से बचाव के रास्तों को बंद करना था। न्यूयार्क सिटी का कोई बच्चा अगर इस दस्तावेज को प्राप्त करना चाहता था तो उसे सबसे पहले अपने स्कूल के प्रिंसिपल से अनुमति लेनी होती थी जो उस बच्चे की लिखने और पढ़ने की क्षमता की जांच करने के बाद उसे स्वास्थ्य विभाग के उचित नगर अधिकारी के पास भेजता था। अगर उस बच्चे का जन्म न्यूयार्क सिटी में हुआ था तो उसे कहा जाता था कि वह ब्यूरो ऑफ रेकार्ड्स से जन्म–प्रमाणपत्र हासिल करे और अगर फाइल में इसका उल्लेख मिलता था तो ब्यूरो इसका प्रमाणपत्र प्रदान करता था। अगर इस तरह का प्रमाण पत्र नहीं मिल पाता था तो आवेदक का नाम रोजगार प्रमाणपत्र कार्यालय (बोर्ड ऑफ हेल्थ) को भेजा जाता था जहां जीनी माइनर (एजेंट) उसे आयु का सबूत हासिल करने की सलाह देता था। जब बच्चे को आयु का स्वीकार्य प्रमाणपत्र मिल जाता था तो उसे फिर वापस स्कूल के प्रिंसिपल के पास भेजा जाता था जो श्रम विभाग द्वारा अनुमोदित एक फार्म पर स्कूल में उसकी हाजिरी का ब्यौरा जारी करता था। इसके बाद अपने माता–पिता में से किसी एक के साथ वह बच्चा वापस स्वास्थ्य विभाग आकर औपचारिक रूप से आवेदन करता था जिस पर पिता/माता का प्रतिहस्ताक्षर होता था। 1912 के बाद इस दस्तावेज के लिए प्रत्येक आवेदक को एक शारीरिक जांच करानी होती थी– यह उस पुरानी प्रणाली के मुकाबले निश्चय ही एक विकसित प्रणाली थी जिसमें स्वास्थ्य अधिकारियों को बस यह बताना पड़ता था कि उनकी राय में उक्त बच्चा अपनी उम्र के मुताबिक "सामान्य" तौर पर विकसित है और अपना मनपसंद काम कर सकता है।

रोजगार प्रमाणपत्र संबंधी दस्तावेज को "वर्किंग पेपर" कहा जाता था और यह केवल उन्हीं लड़कों को प्रदान किया जाता था जिन्होंने कम से कम छह वर्ष की स्कूली शिक्षा हासिल की हो और जिनकी आयु 14 वर्ष हो अथवा छह वर्ष की स्कूली शिक्षा न होने की अवस्था में आयु 16 वर्ष हो। 1906 से 1917 के बीच न्यूयार्क सिटी में 14 से 16 वर्ष के बीच की आयु के 20,000 से 47,000 बच्चों को प्रति वर्ष रोजगार प्रमाण–पत्र जारी किये गये।[44]

एन.एन.एल.सी. ने बाल श्रम कानूनों को राष्ट्रीय बनाने का अभियान चलाया। प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व इसने कांग्रेस पर ऐसे कानून पारित करने पर लगातार दबाव डाला जो अब तक के कमजोर कानूनों को रद्द कर सके। लेकिन 1918 और 1922 में अदालतों ने हस्तक्षेप किया और घोषित किया कि बाल श्रम राज्य सरकार के विनियमन का मामला है। 1924 में संविधान में एक बाल श्रम संशोधन प्रस्तुत किया गया जिसकी कभी पुष्टि नहीं हुई। "नेशनल इंडस्ट्रियल रिकवरी ऐक्ट" (1933) में न्यूनतम वेतन का मानक शामिल किया गया और 1938 में "फेयर लेबर स्टैंडर्ड्स ऐक्ट" पारित हुआ जिसमें स्कूल के कार्यकाल के दौरान अंतर्राज्यीय वाणिज्य में सभी रोजगार के लिए न्यूनतम आयु 14 वर्ष तथा श्रममंत्री द्वारा खतरनाक घोषित किये गए उद्योगों में रोजगार के लिए न्यूनतम आयु 18 वर्ष तय की गयी।

इन राज्य और संघीय कानूनों के अस्तित्व में आने के साथ बाल मजदूरी पर नियंत्रण लगाने के समर्थकों ने अब स्कूल छोड़ने की उम्र को 14 वर्ष से बढ़ाकर 16 वर्ष करने का अभियान छेड़ा। जैसाकि पहले बताया जा चुका है तत्कालीन लेफ्टिनेंट गवर्नर हरबर्ट लेह मैन ने, जो न्यूयार्क सिटी चाइल्ड लेबर कमेटी के सदस्य थे, दलील दी कि 17 वर्ष से कम आयु के 1,25,000 लड़के वयस्क मजदूरों के स्थान पर काम कर रहे हैं। स्कूल छोड़ने की आयु में वृद्धि के उनके प्रयासों का कैथोलिक चर्च ने विरोध किया। चर्च के नेताओं का आरोप था कि यह बिल मां-बाप के अधिकारों के विरुद्ध अतिक्रमण है, कि इससे पारिवारिक आय में कमी आयेगी और गरीबी बढ़ेगी और यह कि इसके फलस्वरूप कक्षाओं में बहुत भीड़ हो जाएगी। बाद

में चर्च के एतराजों को नजरंदाज करते हुए यह कानून पारित हुआ। न्यूयार्क में तथा लगभग सभी राज्यों में 16 वर्ष की आयु तक स्कूल में हाजिरी देना जरूरी माना गया और कुछ राज्यों में इसे 17 वर्ष की आयु तक अथवा हाई स्कूल की पढ़ाई पूरी करने पर घोषित किया गया। 1920 में 14 से 17 वर्ष के आयु वर्ग के 62 प्रतिशत बच्चे स्कूलों में शिक्षा ले रहे थे। 1930 आते–आते यह संख्या 73 प्रतिशत और 1940 आते–आते 79 प्रतिशत हो गयी। 1920 में 17 प्रतिशत लोगों ने हाई स्कूल तक की पढ़ाई पूरी की जबकि 1930 में 29 प्रतिशत और 1940 में 51 प्रतिशत छात्रों ने यह पढ़ाई पूरी की।[45]

बाल श्रम तथा अनिवार्य शिक्षा से संबंधित कानूनों के संदर्भ में अमरीकी अनुभव एक ऐसे अत्यंत विकेंद्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था की कठिनाइयों को उजागर करता है जहां श्रम संबंधी कानून मुख्यतया राज्य सरकार का मामला हो और शिक्षा मोटे तौर पर स्थानीय मामला। सामाजिक सुधार संगठनों, ट्रेड यूनियनों, और शिक्षा विशेषज्ञों का दबाव मुख्य रूप से राज्य और स्थानीय सरकारों पर केंद्रित था। 1930 के दशक में "न्यू डील" के साथ सीमित राष्ट्रीय कानूनों के गठन में कुछ सफलता मिल सकी। इन ग्रुपों द्वारा जिन सिद्धान्तों पर जोर दिया गया उसका तात्पर्य यह था कि बच्चों की ओर से हस्तक्षेप करने का अधिकार राज्य के पास है और बच्चे अगर स्कूलों में भेजे जाते हैं तथा यदि उन्हें कम से कम 16 वर्ष की उम्र और बेहतर हो कि हाई स्कूल तक की पढ़ाई पूरी करने तक श्रम की मंडी से अलग रखा जाता है तो यह इनके लिए बेहतर होगा। इस सिद्धांत को समूचे देश के स्तर पर स्वीकार किया गया लेकिन इससे पूर्व एक लंबा राजनीतिक संघर्ष चलाना पड़ा।

जापान

सबके लिए अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने के संदर्भ में जापान ने सरकारी स्तर पर जो भूमिका निभाई, उससे इन दलीलों का खोखलापन साबित हो जाता है कि सरकारी हस्तक्षेप तभी संभव है जब मां-बाप अपने बच्चों को मजदूरी के लिए न भेजने की जरूरत महसूस करें और मालिकों को कम वेतन पर काम करने वाले बाल श्रमिकों की जरूरत न हो। सबको साक्षर बनाने की दिशा में जापान काफी पहले ही यानी तोकूगावा काल की समाप्ति तक अर्थात पश्चिमी देशों के संपर्क में आने से पूर्व यानी मेजी शासन के पुनः स्थापित होने से भी पहले और कुल मिलाकर अपने औद्योगिकीकरण से पूर्व यह बढ़ चला था। 1868 आते–आते शहरों में रहने वाले ऐसे बहुसंख्यकों, जो किसी पेशे से जुड़े थे और मध्यम दर्जे के किसानों का एक बहुत बड़ा

हिस्सा साक्षर हो चुका था।[46] यद्यपि तोकूगावा काल के जापान में राष्ट्रीय स्तर पर कोई संगठित शिक्षा प्रणाली नहीं थी तो भी वहां हजारों छोटे–छोटे प्राइवेट स्कूलों का अस्तित्व था। इनमें से कुछ स्कूलों में समुराई लोगों के बच्चे पढ़ते थे और इन स्कूलों को आर्थिक सहायता जागीरदारों की सरकारें दे रही थीं लेकिन इनमें से अधिकांश ऐसे थे जिनको कोई आर्थिक सहायता नहीं मिलती थी और वे आम आदमी के बच्चों से फीस लेकर निजी तौर पर स्कूल चलाते थे। (इन्हें तेराकोया स्कूल कहा जाता था)। 1870 तक संभवतः जापान की आधी पुरुष आबादी सामान्य जापानी लिख पढ़ सकती थी, अपना हिसाब–किताब रख सकती थी और सार्वजनिक दस्तावेजों और अखबारों को पढ़ने में सक्षम थी।

जागीरदारों द्वारा संचालित स्कूलों में पढ़ने वाले समुराई बच्चे कंफ्यूसियस के ग्रंथों का अध्ययन करते थे और चीनी तथा जापानी दोनों भाषाओं को पढ़ते थे। यह एक अभिजात्य शिक्षा थी। 1870 के दशक में एक जापानी अधिकारी ने यह बताते हुए कि अब यह व्यवस्था क्यों प्रासंगिक नहीं है, इस प्रणाली के बारे में कहा कि इसमें "विश्व के शासकों के अनुरूप शिक्षा प्रदान की जाती है।[47] जागीरदारों द्वारा संचालित स्कूलों की एक खास बात यह थी कि इसमें पुरुषों को ऐसे प्रशिक्षण पर जोर दिया जाता था जिससे वे जागीरदारों के प्रति निष्ठा की भावना अपने अंदर पैदा कर सकें और ऐसे प्रशासनिक तथा तकनीकी कौशल से सम्पन्न हो सकें जो जागीरों के लिए उपयोगी हो। निजी और आम आदमियों के लिए बने स्कूलों में तथा जागीरदारों द्वारा चलाए जा रहे स्कूलों में भी नैतिक शिक्षा और नैतिक गुणों पर न कि उपयोगिता पर काफी बल दिया जाता था और शिक्षा का यही मुख्य उद्देश्य बन गया था। व्यावसायिक शिक्षा महत्वपूर्ण थी लेकिन नैतिक शिक्षा की अवहेलना करके नहीं। इसमें जागीरों के प्रति निष्ठा, न्याय, साहस, दयालुता, बहादुरी और बेशक अध्यापकों के प्रति सम्मान के गुण भी निहित थे।

19वीं सदी के इंग्लैंड की ही तरह तोकूगावा स्कूलों में सामाजिक स्तर के आधार पर भेदभाव किया जाता था। आम आदमी के बच्चे जागीरदारों द्वारा चलाए जा रहे समुराई स्कूलों से दूर रखे जाते थे जबकि बड़े–बड़े सामंतों के बेटों को घर पर प्राइवेट ट्यूटर की मदद से पढ़ाया जाता था। समय बीतने के साथ शिक्षा प्रणाली में सामाजिक स्तर के आधार पर जो विभाजन था, वह कम होता गया क्योंकि जापान की आर्थिक और प्रशासनिक व्यवस्था में प्रतिभा का सिद्धान्त तेजी से प्रवेश करने लगा था। चीन में इस बात पर बल दिया जाता था कि परीक्षा के आधार पर लोगों की पदोन्नति हो (जबकि जापान में उच्च पदों पर पारिवारिक श्रेष्ठता के आधार पर

नियुक्ति होती थी) और इस प्रथा ने तोकूगावा शिक्षा प्रणाली को भी प्रभावित किया– अध्यापकों ने स्कूलों में महत्वपूर्ण उपलब्धियों के लिए मान्यता देनी शुरू कर दी। 19वीं शताब्दी के मध्य तक जागीरदारों और स्कूलों दोनों जगहों की नौकरशाही में आरोपड़ का सिद्धान्त धीमा पड़ता गया।

तोकूगावा जापान में सबसे महत्वपूर्ण शैक्षणिक विकास स्कूलों की संख्या में वृद्धि के रूप में सामने आया और इसी के साथ स्कूल जाने वाले बच्चों की संख्या में भी बढ़ोत्तरी हुई। इसके फलस्वरूप साक्षरता का व्यापक प्रचार हुआ। तोकूगावा नेताओं ने यह मान लिया था कि शिक्षा से आम आदमी के बीच नैतिकता और आज्ञाकारिता की भावना का प्रचार होगा। मेजी नेतृत्व आदमी के शिक्षा के प्रति और भी ज्यादा उत्साही था क्योंकि उसकी यह धारणा थी कि अगर जापान को सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली और आधुनिक राष्ट्र का रूप लेना है तो इसके लिए शिक्षा का प्रचार अनिवार्य है। 1872 के विख्यात स्कूल विनियमन में कहा गया था कि "अब से समूचे देश में वर्ग और लिंग का भेद किये बिना शिक्षा का प्रचार किया जाएगा, कोई भी गांव ऐसा नहीं होगा जिसमें एक भी मकान ऐसा हो जो शिक्षा से वंचित हो, कोई भी मकान ऐसा नहीं होगा जिसमें एक भी व्यक्ति ऐसा हो जो शिक्षा से वंचित हो। प्रत्येक अभिभावक इस नियम का पालन करते हुए अपने बच्चों को भरपूर प्यार के साथ उसे योग्य बनाने में अपनी ऊर्जा लगाएगा और इस बात का ध्यान रखेगा कि वह हर स्थिति में स्कूल जाकर शिक्षा ग्रहण करे।"[48]

इस प्रकार मेजी शासन काल का प्रमुख लक्ष्य जन शिक्षा को बढ़ावा देना था। 1880 से 1900 के बीच जापान सरकार ने 6 से 13 वर्ष के आयु वर्ग के बच्चों की प्राइमरी स्कूल की हाजिरी में 41 प्रतिशत से बढ़ाकर 82 प्रतिशत की वृद्धि की। 1910 में इस आयु वर्ग के 98 प्रतिशत बच्चे स्कूलों में जा रहे थे।[49] तोकुगावा के समय सामाजिक स्तर के आधार पर शिक्षा में जो भेदभाव किया गया था वह अब समाप्त हो गया। इस प्रणाली की केवल नैतिक शिक्षा वाला पहलू बचा रहा जिसे नये सिरे से परिभाषित किया गया। इस नई परिभाषा में अब जागीरदारों के प्रति निष्ठा की बजाय यह निष्ठा सम्राट और राष्ट्र के प्रति हो गयी। 1890 में "इम्पीरियल रेसक्रिप्ट ऑन एजूकेशन" लागू हुआ और इसके अंतर्गत स्कूलों में देशभक्ति की भावना, कानून के प्रति सम्मान, सम्राट के प्रति निष्ठा और उदारता की भावना से छात्रों को ओतप्रोत किया जाने लगा। शिक्षा संबंधी नीति का एक मुख्य उद्देश्य राजनीतिक तौर पर लोगों को जागरूक बनाना और राजनीतिक दीक्षा देना हो गया। सरकारी तौर पर एक विचारधारा विकसित हुई जिसमें यह माना गया कि समूचे देश का पूर्वज कोई एक है और समूचा राष्ट्र

उसकी संतान है अर्थात "राज्य एक परिवार है" या किसी नागरिक और राज्य के बीच संबंधों के मॉडल के रूप में पुत्र सुलभ दयालुता को स्थान दिया गया।[50] प्राथमिक स्कूलों के सभी बच्चों को उनके पाठ्यक्रम में नैतिकता संबंधी ऐसे पाठ रखे गये जिनका उद्देश्य एक "राष्ट्रीय भावना" विकसित करना था और साथ ही सम्राट के प्रति प्यार और सम्मान की भावना भी जागृत करना था। दरअसल सम्राट को ही राष्ट्र और जनता की एकता का प्रतीक माना जाता था। प्रत्येक स्कूली छात्र से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह "इम्पीरियल रेसक्रिप्ट ऑन एजूकेशन" की पंक्तियों को याद रखे और उन्हें पा सके।[51]

राष्ट्रीय नैतिकता की अवधारणा को लोगों तक पहुंचाना सुनिश्चित करने के लिए शिक्षा प्रणाली को काफी हद तक केंद्रित किया गया। जितने भी प्रांतीय स्कूल थे उन्हें शिक्षा मंत्रालय के नियंत्रण में रखा गया और प्राथमिक स्कूलों के लिए मंत्रालय द्वारा पाठ्यक्रम तैयार किये गये। यह प्रणाली राजनीतिक निष्ठा और विनम्रता की भावना से लैस करने और साथ ही मजदूरों तथा किसानों की उल्लेखनीय शिक्षित आबादी तैयार करने के मामले में कुशल साबित हुई।

चूंकि केंद्र सरकार आर्थिक दृष्टि से इस योग्य नहीं थी कि वह प्राथमिक शिक्षा तक के लिए आर्थिक सहायता दे सके, केंद्र सरकार ने स्थानीय सरकारों को आदेश दिया कि वे अनिवार्य शिक्षा को मदद पहुंचाने के लिए राजस्व की वसूली करें। 1880 वाले दशक के उत्तरार्द्ध में केंद्र सरकार ने अनिवार्य शिक्षा को आर्थिक मदद देनी शुरू की जिसका नतीजा यह हुआ कि प्राथमिक स्कूलों में दाखिले तेजी से बढ़े–1873 में 13 लाख, 1893 में 33 लाख और 1903 में 50 लाख।

अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा और सेना में अनिवार्य भर्ती की जापान की नीति से देश में शिक्षित सेना और शिक्षित मतदाता दोनों का विकास हुआ। 1925 में पुरुष वर्ग के सार्वभौम मताधिकार की शुरुआत हुई। चूंकि जापान सरकार ने प्राइमरी स्कूल के स्तर पर प्राइवेट शिक्षा की बजाय सरकारी शिक्षा पर जोर दिया, जापान में सभी सामाजिक वर्गों के बच्चों को स्कूल के प्रारंभिक छह वर्षों में एक जैसी शिक्षा मिलती थी, वे एक ही पाठ्य पुस्तकें पढ़ते थे, एक ही जैसी कविताएं रटते थे और समान मूल्यों को अर्जित करते थे। शिक्षा प्रणाली ने पीढ़ियों के अंदर उच्च स्तर की सामाजिक गतिशीलता को भी सहज बनाया और इस प्रकार वर्गीय विभेदीकरण को कमजोर किया। वैसे तो अगर जापान में साथ–साथ आर्थिक विकास की दर उच्च नहीं होती तो सामाजिक गतिशीलता संभव नहीं थी लेकिन यह उच्च विकास दर भी शिक्षा के प्रसार से ही संभव हो सका जिसमें उच्च प्राथमिक स्कूलों में

तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा का विकास शामिल है।

जनशिक्षा के मामले में जापान के अनुभव और योरोप के देशों के अनुभव में कुछ आश्चर्यजनक समानताएं हैं। प्रोटेस्टेंट योरोप और जापान में जनशिक्षा का प्रसार औद्योगीकरण से पूर्व हुआ और स्वीडन जैसे कुछ देशों में तो यह औपचारिक स्कूलों के बिना ही संभव हुआ। जापान, जर्मनी और आस्ट्रिया जैसे देशों में, जिन्होंने अपने औद्योगीकरण की प्रक्रिया के शुरूआती दिनों में अनिवार्य शिक्षा के लिए पहल की, बाल मजदूरी की समस्या कम थी– इंग्लैंड जैसे देशों के मुकाबले जिसने बाद तक शिक्षा को अनिवार्य नहीं बनाया।

अनेक प्रोटेस्टेंट देशों में धर्मशास्त्र अनिवार्य शिक्षा के लिए महत्वपूर्ण प्रेरक शक्ति था। जापान में जन शिक्षा के प्रसार में धर्मशास्त्र कम महत्वपूर्ण था लेकिन राज्य द्वारा संचालित शिक्षा प्रणाली को आकार देने में इस जैसी ही एक दूसरी बात ने उल्लेखनीय भूमिका निभायी और वह बात थी सामाजिक व्यवस्था तथा राजनीतिक निष्ठा को बनाए रखने के साधन के रूप में नैतिक शिक्षा के प्रति सरोकार। इसी प्रकार जापान के सत्ताधारी अभिजात्य वर्ग ने इस बात को महसूस किया कि एक ऐसे आधुनिक राज्य और आधुनिक देश के निर्माण के लिए, जो पश्चिम का मुकाबला करने की सामर्थ्य रखता हो, जनशिक्षा बहुत जरूरी है। इस बात ने भी काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

निष्कर्ष

उन परिस्थितियों की समीक्षा करते समय, जिनमें विभिन्न देशों ने अनिवार्य शिक्षा और बाल श्रम कानूनों को अपनाया, यह बात काफी चौंकाने वाली लगती है कि इनके पक्ष और विपक्ष में कितने तरह की दलीलें दी जाती रहीं हैं, कितनी विविधता वाले देश इसमें शामिल रहे हैं– औद्योगिक और पूर्व औद्योगिक, जनतांत्रिक और निरंकुश, संसदीय प्रणाली वाले और सैनिक तानाशाही वाले देश, केंद्रीकृत और विकेंद्रीकृत तथा इन बहसों में कितने तरह के राजनीतिक समूह भाग लेते रहे हैं– चर्च, ट्रेड यूनियनें, शिक्षा शास्त्री, मानवतावादी, सामाजिक कार्यकर्ता, सरकारी अधिकारी, सैनिक अधिकारी और राजनैतिक दल। राज्य द्वारा किये जाने वाले हस्तक्षेप के समय का जो अंतर रहा है वह इन विविधताओं का परिणाम था।

पहली बात तो यह है कि मध्य और उत्तरी यूरोप तथा उत्तरी अमरीका में प्रारंभिक दिनों में शिक्षा का जो प्रसार हुआ उसमें प्रोटेस्टेंटों ने निर्णायक भूमिका निभाई। आस्ट्रिया, जर्मनी, अमरीका, इंग्लैंड, स्काटलैंड, नीदरलैंड और स्कैण्डेनेवियाई देशों में 18वीं शताब्दी में ही अर्थात अनिवार्य शिक्षा और

राज्य शिक्षा व्यवस्था की स्थापना से बहुत पहले ही साक्षरता का उच्च दर (कुछ देशों में 80 प्रतिशत कि) हासिल कर लिया गया था। कैथोलिक तथा अर्थोडॉक्स दक्षिणी और पूर्वी यूरोप में आबादी का बीस प्रतिशत से भी कम हिस्सा पढ़ना जानता था। यहां अनिवार्य शिक्षा तथा बाल मजदूरी से जुड़े नैतिक पक्ष को विकसित करने में प्रोटेस्टेंटों ने एक भूमिका निभाई और इन्होंने ही प्राथमिक शिक्षा के नैतिक विषय वस्तु को आकार दिया।

दूसरी बात यह है कि राज्य के ढांचे के अंतर्गत जो लोग काम कर रहे थे उन्होंने उन लोगों के मुकाबले, जो राज्य के तंत्र से बाहर थे, ज्यादा तेजी के साथ शिक्षा की अवधारणा को एक कर्तव्य के रूप में अपनाया और इसी को ध्यान में रखते हुए राज्य स्तर पर तेजी के साथ नीतियां निर्धारित कीं। जर्मनी,क्रांति से पूर्व का फ्रांस, मेजी शासन काल का जापान और जैसा कि हम अगले अध्ययन में देखेंगे चीन जनवादी गणराज्य, ताइवान और दक्षिण कोरिया शिक्षा को अनिवार्य बनाने की दिशा में बहुत तेजी से बढ़े क्योंकि यहां राज्य में प्रभुत्वशाली अभिजात्य वर्ग ने (कुछ देशों में पार्टी के अभिजन, कुछ में सेना के और अधिकांश देशों में सरकारी अधिकारी) किसी न किसी कारण से यह चाहा कि शिक्षा को अनिवार्य कर दिया जाए। इंग्लैंड और अमरीका इस दिशा में धीमी रफ्तार से बढ़े क्योंकि इन देशों में सुधार के लिए मोटे तौर पर जो दबाव पड़ा, वह उन लोगों की ओर से था जो राज्य के ढांचे से बाहर पड़े हुए थे।

तीसरी बात यह है कि इंग्लैंड और अमरीका में यद्यपि जनशिक्षा का प्रसार शुरू के दिनों में हुआ लेकिन काफी समय तक अनिवार्य शिक्षा को लागू नहीं किया गया। इन दोनों मामलों में एक खास वजह यह थी कि यहां जबर्दस्त विकेंद्रीकरण था और इंग्लैंड के मामले में तो एक बात और भी लागू होती है– यहां के ऐंग्लीकन चर्च और विक्षुब्ध मतों वाले यह डर रहे थे कि अगर राज्य द्वारा संचालित शिक्षा प्रणाली स्थापित की गयी तो शायद वे इस पर से अपना नियंत्रण खो बैठें। विकेंद्रीकृत व्यवस्था के मुकाबले, जहां शिक्षा के लिए वित्तीय साधन जुटाने की जिम्मेदारी स्थानीय (अथवा प्राइवेट) समूहों पर हो, जहां पाठ्यक्रम में कोई समानता न हो और जहां राज्य के हस्तक्षेप पर स्वैच्छिकतावाद का बोलबाला हो शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणाली विकसित करने में अपेक्षाकृत ज्यादा केंद्रीकृत व्यवस्था, शिक्षा के लिए धन जुटाने का काम राज्य द्वारा किये जाने की प्रथा, समान पाठ्यक्रम और केंद्रीकृत प्रशासन ज्यादा सक्षम साबित होते रहे हैं।

चौथी बात यह है कि बाद के दिनों में जनशिक्षा के प्रति अभिजात्य वर्ग की प्रवृत्ति का अध्ययन करने से पता चलता है कि विकासशील देशों में, और खासतौर से जापान में, तथा जैसा कि हम अगले अध्ययन में देखेंगे, आज

के अनेक विकासशील देशों में, जनशिक्षा की प्रेरणा राष्ट्रीय स्तर पर सत्ता हासिल करने के विचारों से पैदा हुई। यूरोपीय देशों में अगर देखें तो जर्मनी में सैनिक सत्ता के प्रति सरोकार ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन सबके बावजूद पश्चिमी यूरोप और अमरीका में जनशिक्षा के प्रसार में न तो आर्थिक विकास के प्रति चिंता और न सैनिक सत्ता के प्रति सरोकार कोई भूमिका निभा सका। दरअसल यह एक खास बात है कि शुरू के दिनों के विचार विमर्श में "मानव संसाधन" संबंधी बात को कम महत्व दिया गया और शिक्षा के व्यापक राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक लाभों को ध्यान में रखा गया।

पांचवीं बात यह है कि अनिवार्य शिक्षा लागू करने और बाल श्रम को समाप्त करने के लिए राज्य के ढांचे से बाहर की जो शक्तियां दबाव डाल रही थीं, वे कई तरह की थीं। इनमें चर्च के समूह और धार्मिक नेता, मजदूर संघों के नेता, स्कूलों के अध्यापक और शिक्षा अधिकारी, समाज सुधारक तथा अनेक (यद्यपि सभी नहीं) पार्टियों के राजनीतिज्ञ शामिल थे। आमतौर पर इसके विरोध में व्यापारी थे और प्रायः ऐसे वामपंथी अथवा दक्षिणपंथी राजनीतिज्ञ जो मजदूर वर्ग का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश करते थे। जहां पर राज्य ढीला–ढाला था वहां अनिवार्य शिक्षा कानूनों को शुरू करने और बच्चों के रोजगार पर प्रतिबंध लगाने में सामाजिक गठबंधनों की महत्वपूर्ण भूमिका साबित हुई।

इन सभी देशों में धीरे-धीरे यह विचार विकसित होने लगा कि आधुनिक विश्व के लिए आवश्यक मूल्यों, प्रवृत्तियों, कौशल और ज्ञान के लिए एक संस्था के रूप में परिवार पर अब भरोसा नहीं किया जा सकता। जिन अवधारणाओं को (देशभक्ति, अनुशासन, अधिकारियों के प्रति आज्ञाकारिता, कुशल नागरिकता, कठिन परिश्रम) राज्य आवश्यक मानता था उसको बढ़ावा देने में अब परिवार के मुकाबले अथवा मां-बाप के मुकाबले, उन अध्यापकों को ज्यादा कारगर समझा जाने लगा जिन्हें राज्य नियुक्त करता था और जो आर्थिक मामलों में राज्य पर निर्भर थे। एक अनोखे आधुनिक संस्थान के रूप में स्कूल उभर कर सामने आये– वस्तुतः एकमात्र संस्थान के रूप में सामने आये जब अनिवार्य शिक्षा को शुरू किया गया और समाज के प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षा की गयी कि वह इसमें भाग ले। जैसे-जैसे समानता, प्रतिभा, गतिशीलता, नागरिकता और राष्ट्रीयता की अवधारणाएं सामाजिक रूप ग्रहण करती गयीं तथा राज्य का लक्ष्य बनती गयीं, सभी तरह की राजनीतिक प्रेरणाओं के लिए स्कूल को एक लोकप्रिय संस्था का दर्जा मिलता गया। अब बाल श्रम की अवधारणा का स्थान बच्चों के काम के रूप में स्कूली शिक्षा ने ले लिया। बुनियादी अर्थों में देखें तो एक संस्था के रूप

में स्कूल का संबंध आधुनिक सभ्य समाज के उदय से हो गया।

टिप्पणियां

1. फिलिप एरिज, *सेंचुरीज ऑफ चाइल्डहुडः ए सोशल हिस्ट्री ऑफ फेमली लाइफ* (न्यूयार्कः रेंडम हाउस, 1962)। एरीज ने बच्चों के प्रति वयस्कों के बदलते हुए रुखों का इतिहास प्रस्तुत किया है जो मुख्य रूप से चित्रों, चिकित्सा संबंधी रिपोर्टों और साहित्य पर आधारित है। इस तरह का अध्ययन भारत के लिए भी लाभप्रद होगा यद्यपि यह स्पष्ट नहीं है कि इस तरह के अध्ययन से वयस्क व्यवहारों के तुलनात्मक परिवर्तनों का पता चल सकेगा या नहीं।
2. विवियन जेलिजर, *प्राइसिंग द प्राइसलेस चाइल्डः दि चेंजिंग सोशल वैल्यू ऑफ चिल्ड्रेन* (न्यूयार्क, बेसिक बुक्स, 1985)। जेलिजर का कहना है कि 19वीं शताब्दी के अंतिम दिनों में श्रम मंडी के ढांचे में आए परिवर्तनों के कारण नहीं बल्कि विभिन्न सांस्कृतिक शक्तियों के फलस्वरूप अमरीकी बच्चे "सैक्रेलाइजेशन" की प्रक्रिया से गुजरने लगे
3. एजिल जोहान्सन, *लिटरेसी ऐंड सोशल डेवलपमेंट इन द वेस्टः ए रीडर* (सं. हारवे जे. ग्राफ, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1981, पृ. 163) में "द हिस्ट्री ऑफ लिटरेसी इन स्वीडन "शीर्षक अध्याय देखें। 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक स्वीडन में 50 प्रतिशत से ज्यादा लोग साक्षर थे। साक्षरता की ऐसी ही उच्च दर प्रोटेस्टेंट संप्रदाय वाले देशों इंग्लैंड, स्काटलैंड, और नीदरलैंड में थी जो औद्योगिक क्रांति से पहले थी लेकिन दक्षिणी और पूर्वी यूरोप के कैथोलिक तथा अर्थोडॉक्स क्षेत्रों में हम ऐसा नहीं पाते। यूरोप में साक्षरता के प्रसार संबंधी आंकड़ों की समीक्षा के लिए देखें कार्लो एम. सीपोला की पुस्तक *लिटरेसी ऐंड डेवलपमेंट इन द वेस्ट* (पेंग्विन बुक्स 1969)
   यूरोप में साक्षरता के प्रसार के लिए एक एकेडमिक कॉटेज इंडस्ट्री है। बाद की बहसों के दायरों को निर्धारित करने में सबसे पहले जिस लेख ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई वह है लारेंस स्टोन का "लिटरेसी ऐंड एजूकेशन इन इंग्लैंड, 1640–1900' *पास्ट ऐंड प्रेजेंट*, सं. 42, 1969, पृ. 69–119। कृपया देखें– हारवे जे. ग्राफ, *द लिटरेसी मिथः लिटरेसी ऐंड सोशल स्ट्रक्चर इन द नाइंटिंथ सेंचुरी सिटी* (न्यूयार्कः एकेडमिक प्रेस, 1979), जॉन मारकॉफ, "सम एफेक्ट्स ऑफ लिटरेसी इन एटिंथ सेंचुरी फ्रांस," *जरनल ऑफ इंटर डिसिप्लनरी हिस्ट्री 17*, सं. 2, 1986 पृ. 311-333; माइकल सेंडरसन, "लिटरेसी ऐंड सोशल मोबिलिटी इन द इंडस्ट्रियल रिव्यूलेशन इन इंग्लैंड," पास्ट ऐंड प्रेजेंट, सं. 56, 1972, पृ. 75; 104, लारेंस स्टोन, 'द एजूकेशन रेवोल्यूशन इन इंग्लैंड, 1560–1640, *पास्ट ऐंड प्रेजेंट*, सं. 28, 1964; ब्रायन वी स्ट्रीट," लिटरेसी इन थ्योरी ऐंड प्रैक्टिस," (कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984), लारेंस स्टोन द्वारा संपादित "स्कूलिंग ऐंड सोसायटीः स्टडीज इन द हिस्ट्री ऑफ एजूकेशन" (बाल्टीमोरः द जान्स हापकिंस यूनिवर्सिटी प्रेस,

1976), हारवे जे. ग्राफ, द *लिगेसीज ऑफ लिटरेसी: कांटिन्यूटीज ऐंड कंट्राडिक्शन इन वेस्टर्न कल्चर ऐंड सोसायटी*, (ब्लूमिंग्टनः इंडियाना यूनिवर्सिटी प्रेस, 1987), एजिल जोहासंन, "द हिस्ट्री ऑफ लिटरेसी इन स्वीडन" जो हारवे जे, ग्राफ द्वारा संपादित *लिटरेसी ऐंड सोशल डेवपलमेंट इन द वेस्टः ए रीडर* ("कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1981), में उद्धृत, हारवे जे. ग्राफ, *लिटरेसी इन हिस्ट्रीः ऐंड इंटरडिसिप्लिनरी रिसर्च बिबियोग्राफी* (न्यूयार्क, गारलैंड पब्लिशिंग कंपनी, 1981), माइकल सेंडरसन, "एजूकेशन, इकोनामिक चेंज ऐंड सोसायटी इन इंग्लैंड, 1780–1870"); (लंदनः द इकोनामिक हिस्ट्री सोसायटी, 1983), पृ. 53 फिलिप मैकान द्वारा संपादित *पापुलर एजूकेशन ऐंड सोसलाइजेशन इन द नाइन्टिंथ सेंचुरी*, (लंदनः मेथ्वेन, 1977), इ.जी. वेस्ट, "एजूकेशन ऐंड द इंडस्ट्रियल रिवोल्यूशन (न्यूयार्कः हारपर ऐंड रो.: 1975), केनिथ चार्टन, *एजूकेशन इन रेनांसा इंग्लेंड* (लंदनः रौतलेज ऐंडकेगन पॉल, 1965),जी.ए.एन. लौडेस, द *साइलेंट सोशल रिवोल्यूशन ऐंड अकाउंट्स ऑफ द एक्सटेंशन ऑफ पब्लिक एजूकेशन इन इंग्लैंड ऐंड वेल्स 1895–1935*, (लंदनः आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1937)।

4. हैरोल्ड सिल्वर, "आइडियोलाजी ऐंड द फैक्ट्री चाइल्डः एटिच्यूड्स टू हाफ टाइम एजूकेशन," जो मैकान द्वारा संपादित "पापुलर एजूकेशन ऐंड सोशलाइजेशन इन द नाइंटिंथ सेंचुरी" में पृ. 146 पर उद्धृत है।
5. वाल्टर आइ ट्रेटनर, *क्रूसेड फार द चिल्ड्रेनः ए हिस्ट्री ऑफ द नेशनल चाइल्ड लेबर कमेटी ऐंड चाइल्ड लेबर रिफार्म इन अमेरिका* (शिकागोः यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, 1970), पृ.26। 1789 में मैसाच्यूसेट्स के बेवर्ली में एक कुटीर उद्योग वाले कारखाने की ओर से दायर याचिका में कहा गया था कि वह "भारी संख्या में बच्चों को रोजगार दे सकता है जिनमें से बहुत सारे अगर समाज पर बोझ नहीं तो समाज के लिए अनुपयोगी तो हैं ही।" (वही पृ 26)
6. डेविड रुबिंस्टिन, "सोशलाइजेशन ऐंड द लंदन स्कूल बोर्ड, 1870–1904: एम्स, मेथड्स ऐंड पब्लिक ओपीनियन," जो मैकान द्वारा संपादित, *पापुलर एजूकेशन ऐंड सोशलाइजेशन इन दि नाइटिंथ सेंचुरी*, में पृ. 244 पर उद्धृत है।
7. वही. पृ. 245
8. वही
9. ट्रेटनर, *क्रूसेड फार द चिल्ड्रेन*, पृ. 26
10. कार्ल मार्क्स, द *मार्क्स एंगिल्स रीडर*, राबर्ट सी. टकर द्वारा संपादित। (न्यूयार्कः डब्ल्यू, डब्ल्यू, नार्टन, 1978), पृ. 353। मार्क्स ने 1864 की चिल्ड्रेन इम्प्लायमेंट कमीशन रिपोर्ट से काफी सामग्री ली थी। उन्होंने रिपोर्ट के इन निष्कर्षों को मुद्दा बनाया कि बजाय यह कहने के कि उत्पादन के पूंजीवादी पद्धति के कारण बच्चों का शोषण हो रहा है मां-बाप द्वारा किये जा रहे शोषण से राज्य को बच्चों की रक्षा करनी चाहिए (देखें पृ. 415)
11. वही पृ. 799
12. वही पृ 523

13. वही पृ. 541
14. वही पृ. 415
15. एडम स्मिथ, *द वेल्थ ऑफ नेशंस* (न्यूयार्कः माडर्न लाइब्रेरी, 1937), पृ. 735
16. वही पृ. 737
17. वही पृ. 740
18. वही पृ. 113
19. ई.जी. वेस्ट की पुस्तक *एजूकेशन ऐंड द स्टेटः ए स्टडी इन पोलिटिकल इकानामी* (लंदनः इंस्टीट्यूट ऑफ इकोनामिक अफेयर्स, 1965) में पृ. 32 पर उद्धृत। बेंथम के लिए अनिवार्य शिक्षा का महत्व इस अर्थ में था कि इससे गरीबों का शिक्षित होना सुनिश्चित हो जाएगा और साधारणजन कानून से परिचित हो जाएंगे। अपनी पुस्तक *प्रिंसिपल्स ऑफ पेनल लॉ* में बेंथम ने लिखा– "शिक्षा ही एक मात्र सरकार है जो घरेलू मजिस्ट्रेट द्वारा संचालित होती है। (उपरोक्त में उद्धृत पृ. 124)। उपयोगितावादी शिक्षा शास्त्री साक्षरता को अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं मानते– वे इसे अपराधों में कमी करने, हड़तालों और दंगों पर रोक लगाने, नियमित रूप से चर्च जाने के लिए प्रोत्साहित करने, आत्मनिर्भरता, मितव्ययिता, शालीनता और स्वच्छता के मूल्यों को विकसित करने में मददगार मानते हैं। इंग्लैंड में मजदूर वर्ग और शिक्षा के बीच संबंधों की जानकारी के लिए देखें जे.एम. गोल्डस्टोम का लेख "द कांटेंट ऑफ एजूकेशन ऐंड द सोशलाइजेशन ऑफ द वर्किंग क्लास चाइल्ड, 1830–1860" यह लेख मैकान द्वारा संपादित पुस्तक *पापुलर एजूकेशन ऐंड सोशलाइजेशन इन द नाइंटिंथ सेंचुरी* में संकलित है।
20. *द इंग्लिश फिलासफर फ्रांम बेकन टू मिल* (न्यूयार्कः माडर्न लाइब्रेरी, 1967), में पृ. 128 पर जॉन स्टुंवर्ट मिल का *ऑन लिबर्टी* (1859) देखें।
21. यह उपयोगी वर्गीकरण मिसालीन वागन और माग्रेट स्काटफोर्ड आर्चर के *सोशल कानफ्लिक्ट ऐंड एजूकेशनल चेंज इन इंग्लैंड ऐंड फ्रांस*, 1789–1848" में पृ. 203 पर है। (कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1971)
22. टॉमस अलेक्जेंडर, द *प्रशियन एलीमेंट्री स्कूल्स* (मैकमिलन न्यूयार्क, 1918) यूजिन एन एंडर्सन का लेख" द प्रशियन फॉक्सचुले इन द नाइंटिंथ सेंचुरी" भी देखें जो गेरहार्ड ऐ रिटर द्वारा संपादित "एनसंग उंड वांदेल दर मादर ने, द जेसेलसापट" बर्लिनः 1970 और गैराल्ड स्ट्रास का लेख 'टेक्नीक ऑफ इनडाक्ट्रिनेशनः द जर्मन रिफारमेशन," देखें जो ग्राफ द्वारा संपादित *लिटरेसी ऐंड सोशल डेवलपमेंट इन द वेस्ट* में संकलित है।
23. सिपोला, *लिटरेसी ऐंड डेवलपमेंट इन द वेस्ट*, पृ. 115
24. जेरगन कुजेंसिकी, *दाइ जेसिस्टे दर लोगे दर अरबायतर अंतर देम कैपितालिसमस* (बर्लिनः अकादमी वलांग, 1969) जर्मन संदर्भों के अनुवाद के लिए मैं जेनिफर नुप और रिचर्ड डीव का आभारी हूं।
25. जे. रसेल एंडियन, द *पब्लिक एजूकेशन ऑफ आस्ट्रियाः प्राइमरी सेकेंडरी टेक्निकल, कामर्शियल*) लंदनः सिम्पकिन मार्शल ऐंड कंपनी, 1888), प्रस्तावना।

26. वही पृ. 8–9
27. वही पृ. 27
28. वही पृ. 48–49
29. वही पृ. 1 आस्ट्रिया की स्कूल प्रणाली के विकास के बारे में राबर्ट डाट्रेन्स की पुस्तक *द न्यू एजूकेशन इन आस्ट्रिया:* (न्यूयार्कः जॉन डे, 1930) और अर्न्स्ट पेपेनेक की पुस्तक *द आस्ट्रियन स्कूल रिफार्म* 8 (न्यूयार्कः फ्रेडरिक फेल, 1962) देखें
30. वागम और आर्चर,*सोशल कांफिलिक्ट ऐंड एजूकेशनल चेंज,* पृ. 206, 211
31. बेरिल मैडाक जोंस, *पैटर्न ऑफ अटेंडेंस ऐंड देयर सोशल सिग्निफिकेंसः मिशाम नेशनल स्कूल, 1830–1839,* "जो मैकॉन द्वारा संपादित "पापुलर एजूकेशन ऐंड सोशलाइजेशन इन द नाइंटिंथ सेंचुरी" में उद्धृत है, पृ. 42। जे.एम. गोल्ड स्टाम लिखित "द कांटेंट ऑफ एजूकेशन ऐंड द सोशलाइजेशन ऑफ द वर्किंग क्लास चाइल्ड, 1830–1860", भी देखें।
32. वागन ऐंड आर्चर की पुस्तक *सोशल कानफ्लिक्ट ऐंड एजूकेशनल चेंज* में पृ. 73 पर उद्धृत।
33. सिलवर, *आइडियोलाजी ऐंड द फैक्ट्री चाइल्डः एटीट्यूड्स टु हाफ टाइम एजूकेशन,* पृ. 157।
34. रूबिंस्टिन, "सोशलाइजेशन ऐंड द लंदन स्कूल बोर्ड, 1870–1904: एम्स, मेथड्स, ऐंड पब्लिक औपिनियन", पृ. 247
35. वही, पृ. 236, 248, 250
36. दबाव डालकर शिक्षा के विस्तार का मामला सबसे पहले लंदन स्कूल बोर्ड के एक उदार वाइस चेयनमैन ने 1899 में रखा था– "हम चाहते हैं कि निम्न वर्ग के लोग शिक्षित हों... हम उन्हें घरों और स्कूलों में यह सिखाना चाहते हैं कि एक नागरिक का आत्मसम्मान क्या होता है, मतदाता के रूप में उसकी जिम्मेदारी क्या होती है, उसके अंदर आत्म निग्रह, उच्च विचार निर्णय लेने की क्षमता आदि कैसे विकसित होती है। ताकि वे अनुशासित ढंग से अपनी उस सत्ता का इस्तेमाल करें जिसे उन्होंने औद्योगिक ढांचों और राजनीतिक कार्यों के मेल से प्राप्त कर लिया है।" वही, पृ. 242. 1892 में मेट्रोपोलिटन बोर्ड टीचर्स एसोसिएशन के अध्यापक ने अनिवार्य शिक्षा के बारे में बड़े अच्छे ढंग से कहा "कैसी भी गरीबी क्यों न हो, इसे बच्चों को स्कूल न भेजने का बहाना नहीं बनाना चाहिए और इस बहाने को स्वीकार नहीं किया जा सकता। लेकिन क्षणिक विचार यह बताता है कि गरीबी को बहाना मान लेना उन्हीं स्थितियों को और ज्यादा मजबूत करेगा जो हमारे लिए, सभ्यता की डींग भरने वालों के लिए शर्मनाक है। उन्हें अगर शिक्षा के बिना छोड़ दें तो इसका अर्थ यह होगा कि हम उन्हें तमाम उम्र के लिए भूखा और अधनंगा छोड़ रहे हैं।" वही पृ. 262
37. जिनियन सदरलैंड, *पालिसी मेकिंग इन एलीमेंट्री एजूकेशन 1870–1895* (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1973) पृ. 340

38. मेसाच्यूसेट्स में शिक्षा के विकास पर पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है। इस विषय पर प्रमुख रचनाएं इस प्रकार हैं। कार्ल एफ कैसिल, *पिलर्स ऑफ दि रिपब्लिक, कामन स्कूल्स ऐंड अमेरिकन सोसायटी* (न्यूयार्कः हिल ऐंड बांग, 1893), कार्ड आफ कैसिल, "द इवोल्यूशन प्रेस 1973), स्टैंले के शूल्ज, *द कल्चर फैक्ट्रीः बोस्टन पब्लिक स्कूल्स 1789–1860* (न्यूयार्कः आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1973), कार्ल एफ कैसेल," आइडियोलाजी ऐंड अमेरिकन एजूकेशन हिस्ट्री", *हिस्ट्री ऑफ एजूकेशन क्वार्टर्ली 22* (समर 1982); कार्ल कैसेल और मेरिस ऐ विनोवास्किस "फ्राम फायरसाइड टु फैक्ट्रीः स्कूल ऐंट्री ऐंड स्कूल लीविंग इन नाइटिंथ सेंचुरी मैसाच्यूसेट्स" जो तमारा के हेरेवन द्वारा संपादित पुस्तक *ट्रांजिसंसः द फेमिली ऐंड द लाइफ कोर्स इन हिस्टोरिकल परसपेक्टिव* (न्यूयार्क, 1978), और कार्ल एफ. कैसेल तथा मेरिस ए विनोवास्किस की पुस्तक "एजूकेशन ऐंड सोशल चेंज इन नाइंटिंथ सेंचुरी मैसाच्यूसेट्स" न्यूयार्कः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1980)
39. सिपोला, *लिटरेसी ऐंड डेवलपमेंट इन द वेस्ट,* पृ. 94।
40. 19वीं शताब्दी में अमरीका में जनशिक्षा के प्रसार के बारे में देखें अर्नेस्ट ई. बैलेस और ब्रूस एल. हुड, *ग्रोथ ऑफ अमेरिकन एजूकेशनल थॉट् ऐंड प्रेक्टिस* (न्यूयार्कः हार्पर ऐंड रो, 1966),माइकल बी काज, *क्लास, ब्यूरोक्रेसी ऐंड स्कूल्सः द इल्युजन ऑफ एजूकेशनल चेंज इन अमेरिका* (न्यूयार्कः प्रेगर, 1975); अलबर्ट फिसलो, "द अमेरिकन कामन स्कूल रिवाइवलः फैक्टर और फैंसी, "जो हेनरी रूसोवस्की द्वारा संपादित *इंडस्ट्रिलाइजेशन इन टू सिस्टम्स* (न्यूयार्कः वाइली, 1966); राबर्ट, एल. चर्च और माइकल डब्ल्यू सेडलॉक्स, *एजूकेशन इन द यूनाइटेड स्टेट्स* (न्यूयार्कः फ्री प्रेस, 1976), माइकल बी. काज, *द आयरनी ऑफ अर्ली स्कूल रिफार्म : एजुकेशनल इनोवेशन इन मिड नाइंटिथ सेंचुरी मेसाचूसेट्स* (कैम्ब्रिजः हार्बर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1968), जॉन पेरिन *द हिस्ट्री ऑफ कंपल्सरी एजूकेशन इन न्यूइंग्लैंड* (मीडविले, पेनसिल्वानिया, 1876)। पूंजीवादी व्यवस्था की जरूरतों पर जोर देते हुए शिक्षा के प्रसार के विश्लेषण के लिए देखें सैमुअल बाउल्स और हर्बर्ट जिनटिस की पुस्तक *स्कूलिंग इन कैपिटलिस्ट अमेरिका : एजूकेशनल रिफार्म ऐंड द कंट्राडिक्शन ऑफ इकोनामिक लाइफ* (न्यूयार्कः बेसिम बुक्स, 1976)।
41. कैसिल और विनोवस्की, *एजूकेशन ऐंड सोशल चेंज इन नाइंटिंथ सेंचुरी मैसाच्यूसेट्स* पृ.77।
42. जेरेनी पी. फेल्ट, *होस्टेजेज ऑफ फारचूनः चाइल्ड लेबर रिफार्म इन न्यूयार्क स्टेट* (सिराक्यूसः सिराक्यूस यूनिवर्सिटी प्रेस, 1965), पृ. 17, 35।
43. ट्रैट्नर, "क्रूसेड फार द चिल्ड्रेन, पृ. 78–79।
44. फेल्ट, *होस्टेजेज ऑफ फारचून,* पृ. 103–104, 105।
45. डेविड बी. टायक, *द वन बेस्ट सिस्टमः ए हिस्ट्री ऑफ अमेरिकन अर्बन एजूकेशन* (कैम्ब्रिज' हावर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1974), पृ. 74
46. आर.पी. डोरे, *एजूकेशन इन तोकुगावा जापान* (बर्कलेः यूनिवर्सिटी ऑफ

कैलिफोर्निया प्रेस, 1965), पृ. 3

47. आर.पी. डोरे, "जापान" जो राबर्ट ई. वार्ल्ड और डंकवर्ट ऐ रूस्तो द्वारा संपादित पुस्तक *पोलिटिकल माडर्नाइजेशन इन जापान ऐंड टर्की*, (प्रिंसटन: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1964), में पृ. 179 पर उद्धृत

48. इस बहु उद्धृत वक्तव्य के अंतिम वाक्य का पासिन ने बहुत सही ढंग से इस प्रकार अनुवाद किया था। 'जहां उन्नत शिक्षा को व्यक्ति विशेष की क्षमता और साधन के भरोसे छोड़ दिया गया था, यदि कोई अभिभावक अपने बच्चे को– चाहे वह लड़का हो या लड़की प्राइमरी स्कूल में भेजने में असफल होता है तो इसे कर्तव्य की अवहेलना का मान दिया जाएगा।" हर्बर्ट पासिन *सोसाइटी ऐंड एजूकेशन इन जापान* (न्यूयार्क: टीचर्स कॉलेज प्रेस, कोलंबिया यूनिवर्सिटी 1965), पृ. 211

49. डोरे, "जापान" पृ. 189

50. हर्बर्ट पासिन, "जापान" जो जेम्स एस कोलमैन द्वारा संपादित *एजूकेशन ऐंड पोलिटिकल डेवलपमेंट* (प्रिंसटन: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1965), में पृ. 307 पर उद्धृत।

51. विलियम के. कमिंग्स, *एजूकेशन ऐंड इक्वलिटी इन जापान*, (प्रिंसटन: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1980), पृ. 19। जापानी शिक्षा के विकास में राजनीतिक और वैचारिक संघर्षों पर जिस तरह का जोर दिया गया उसके अध्ययन के लिए देखें तेरूहिसा होरियो की पुस्तक *एजूकेशनल थॉट्स ऐंड आइडियोलाजी इन माडर्न जापान: स्टेट अथॉरिटी ऐंड इंटलेक्चुअल फ्रीडम* (टोक्यो: यूनिवर्सिटी ऑफ टोक्यो प्रेस, 1988)

7
भारत तथा अन्य विकासशील देश

विकासशील देशों में बाल श्रम तथा स्कूलों में उपस्थिति के मामले में काफी विभिन्नता दिखाई देती है। जैसा कि 18वीं और 19वीं शताब्दी में यूरोप के देशों, अमरीका और जापान में इस तरह की विभिन्नताओं की व्याख्या कर दी जाती थी, आज हम इसकी व्याख्या कुल राष्ट्रीय उत्पाद, औसत प्रतिव्यक्ति आय, गरीबी का परिमाण अथवा औद्योगीकरण के स्तर जैसे आर्थिक कारकों से विश्लेषण नहीं कर सकते हैं। इसका विश्लेषण इस आधार पर भी नहीं किया जा सकता कि अमुक देश जनतांत्रिक है अथवा निरंकुश। भारत के अंदर अनेक क्षेत्रीय विभिन्नताएं हैं जिनका आर्थिक अथवा जनसंख्या संबंधी कारकों से कोई संबंध नहीं है। यहां महत्वपूर्ण कारक हैं सत्ताधारी अभिजात्य वर्ग की धारणाएं और स्कूली शिक्षा के प्रसार की दिशा में राजनीतिक गठजोड़।

किन देशों के साथ भारत की तुलना की जाय?

भारत विश्व का दूसरा सबसे बड़ी आबादी वाला देश है जहां विभिन्न जातीय समूहों के लोग रहते हैं और यहां की व्यवस्था जनतांत्रिक है। यह निम्न आय वाला देश है जिसकी आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा मुश्किल से अपने लिए रोटी, कपड़ा और मकान की व्यवस्था कर पाता है। भारत जैसा शायद ही कोई अन्य देश हो। चीन की भी आबादी बहुत ज्यादा है लेकिन यहां जनतांत्रिक व्यवस्था नहीं है। श्री लंका गरीब है और यहां जनतंत्र है लेकिन यह एक छोटा देश है। जहां तक दक्षिण कोरिया और ताईवान की बात है, इन देशों में निरंकुश सरकारें रहीं हैं। 19वीं सदी का प्रशिया एक निरंकुश तानाशाही शासन वाला देश था। स्काटलैंड आकार में बहुत छोटा था। जापान के जातीय समूहों में काफी समानता रही है। फ्रांस का शासन

केन्द्रीयकृत था। यही वजह है कि राज्य द्वारा की जाने वाली कार्यवाही के लिए स्थितियां कभी भी एक जैसी नहीं रही हैं। क्या अन्य देशों के अनुभव भारत के लिए प्रासंगिक हैं अथवा क्या इसका आकार इसे एक विचित्रता प्रदान करता है?[1]

तुलनात्मक पद्धति ऐसे मामलों की तलाश पर निर्भर नहीं करती जो एक जैसे हों—बेशक यहां अपवाद बना रहता है।[2] हम तुलनात्मक पद्धति का इस्तेमाल ऐसे मामलों की शिनाख्त के लिए कर सकते हैं जिनमें विभिन्नताओं के बावजूद राज्य की नीतियां समान रही हों। इस प्रकार ऐसे देशों की शिनाख्त करके, जहां अलग—अलग किस्म की सरकारें हों, विकास की अलग—अलग दरें और स्तर हों तथा जहां आबादी का स्वरूप भिन्न हो लेकिन इन सबके बावजूद एक जैसी नीतियों का पालन किया जाता हो, हम अगर इन नीतियों के निर्धारण के लिए उत्तरदायी समानतत्वों की पहचान कर लेते हैं तो हम इस स्थिति में हो जायेंगे कि इसके कारणों और प्रभावों को जान सकें।

भारत निश्चय ही एक अनोखा देश है— न केवल अपने आकार और अपनी राजनीतिक व्यवस्था के कारण बल्कि अनूठी संस्कृति, मानसिकता अथवा उन विश्वासों के कारण जो लोगों की सोच को निर्देशित करते हैं और जिनके जरिये वे अपने समाज को संगठित करते हैं अथवा यह सोचते हैं कि इस प्रकार उनके समाज को संगठित किया जाना चाहिए। यही वह अनोखा सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य है जिसने भारतीयों को राज्य तथा गरीबों के बच्चों के बीच संबंधों को निर्धारित करने का दृष्टिकोण प्रदान किया है और यही वह बात है जिससे भारत तथा उन देशों के बीच के अंतर को समझा जा सकता है जिनका यहां विश्लेषण किया जा रहा है।

पैमाने की समस्याएं

कारगर तुलनात्मक अध्ययन के लिए जरूरी है कि परिणामों के बारे में कुछ हद तक समान पैमाना निर्धारित किया जाय। बाल श्रम के बारे में हम कौन सा पैमाना अपना सकते हैं? इस दिशा में शुरुआत करते ही हम देखते हैं कि बाल मजदूरी के बारे में जो भी आंकड़े हैं, वे इतने अविश्सनीय हैं (जैसा कि हमने गौर किया है भारत में एक गंभीर आकलन के अनुसार यह संख्या 1 करोड़ 36 लाख से लेकर 4 करोड़ 40 लाख तक है) कि भारत तथा अन्य विकासशील देशों के बीच तुलना संभव ही नहीं है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के महानिदेशक ने अपनी 1983 की रिपोर्ट में कहा था कि समूची दुनिया में 15 वर्ष से कम आयु के ऐसे बच्चों की संख्या, जिन्हें आर्थिक दृष्टि से सक्रिय कहा जाता है, 1980 के दशक के शुरू के दिनों में 5 करोड़ से 7.5 करोड़

अथवा 10 करोड़ तक थी।[3] अलग—अलग देशों में बाल मजदूरी की अवधारणा भी अलग है और इसका पैमाना भी एक दूसरे से भिन्न है। जब हम इस पर गौर करते हैं कि काम की प्रकृति क्या है, "बचपन" को कैसे परिभाषित किया जाता है, क्या बच्चे मां-बाप के लिए काम कर रहे हैं अथवा स्वरोजगार में लगे हैं अथवा किसी मालिक की नौकरी कर रहे हैं, बच्चों को कितने घंटे काम करना पड़ रहा है और वे स्कूल जा रहे हैं अथवा नहीं— इन सारी बातों पर जब विचार करते हैं तो विश्व स्तर पर तुलना करते समय कई समस्याएं पैदा हो जाती हैं। बेशक एक बात यह है कि आर्थिक तौर पर सक्रिय सभी बच्चे— जिनकी संख्या महानिदेशक की रिपोर्ट के अनुसार लगभग 98 प्रतिशत है— विकासशील देशों में पाये जाते हैं।

स्कूल में हाजिरी बाल श्रम का एक प्रतिनिधि मापदंड है। जो बच्चे स्कूल जाते हैं वे घरेलू कामों में लगे हो सकते हैं अथवा अंशकालिक उत्पादन श्रम में भी उनकी भागीदारी हो सकती है। लेकिन स्कूल में हाजिरी का मतलब उनके काम के घंटों और रोजगार की प्रकृति तथा शर्तों को सीमित बनाना है। एक के बाद एक देशों में हम देखते हैं कि सबके लिए अनिवार्य शिक्षा का नियम बनाने से बाल मजदूरी की समाप्ति होती गयी है। लेकिन हम किस प्रकार प्राइमरी स्कूलों में दाखिले तथा स्कूलों में हाजिरी को माप सकेंगे? हम किस प्रकार इसकी प्रभावकारिता का आकलन करेंगे? प्राथमिक शिक्षा की परिमाणात्मक प्रभावकारिता को तय करने के चार पैमाने हैं। पहला है प्राइमरी स्कूलों में दाखिले का अनुपात अर्थात प्राइमरी स्कूल वाले आयुवर्ग के कितने बच्चे स्कूलों में दाखिला ले रहे हैं। दूसरा पैमाना है प्राइमरी शिक्षा की अंतिम कक्षा तक— जो आमतौर पर पांचवीं या छठी कक्षा होता है— उनका बने रहना। तीसरा पैमाना प्राइमरी से सेंकेंड्री अर्थात प्राथमिक से माध्यमिक शिक्षा में प्रवेश करने की दर। और चौथा पैमाना है वयस्क साक्षरता दर।

इन पैमानों में से जिसका सबसे ज्यादा इस्तेमाल किया जाता है वह है स्कूलों में दाखिले की दर— लेकिन यही पैमाना सबसे कम विश्वसनीय भी है। जरूरी नहीं कि जिसने दाखिला लिया हो वह नियमित स्कूल जाता भी हो लेकिन शिक्षा संबंधी सरकारी आंकड़े तैयार करने वाले लोग दाखिले और हाजिरी का भेद नहीं कर पाते हालांकि हाजिरी के आंकड़े ज्यादा सार्थक हो सकते हैं। दाखिले से संबंधित आंकड़े आपको गुमराह कर सकते हैं जैसा कि हमने पहले भी ध्यान दिया है। प्रायः स्कूलों से पहले दिन के दाखिले की रिपोर्ट मिल जाती है यद्यपि रजिस्टरों में जिनके नाम चढ़े हैं उनमें से कई ऐसे हैं जो कभी स्कूल गये ही नहीं। अगर स्कूलों में दाखिले के आधार पर स्कूलों को अथवा स्थानीय अधिकारियों की प्रतिपूर्ति की जाती

है यानी इसके आधार पर अगर उन्हें किसी तरह से लाभान्वित किया जाता है तो बढ़ा–चढ़ा कर यह आंकड़ा देने में उनका फ़ायदा रहता है। इसके अलावा दाखिले से संबंधित आंकड़ों को सरकारें इस रूप में देखती हैं कि स्कूल में जाने वाले बच्चों और 6 से 11 आयु वर्ग के बच्चों में क्या अनुपात है ताकि 6 वर्ष से कम उम्र के अथवा 11 वर्ष से ज्यादा उम्र के बच्चों के बारे में दाखिले के मुतल्लिक एक भ्रामक आंकड़ा तैयार हो जाय। दाखिले के आंकड़े कभी-कभी 100 प्रतिशत से भी ज्यादा हो जाते हैं हालांकि अनेक बच्चे स्कूल पहुंच ही नहीं पाते हैं।

शिक्षा में भागीदारी के बारे में अपेक्षाकृत ज्यादा लाभकर और विश्वसनीय पैमानों में से एक यह देखना है कि कितने बच्चे स्कूल के निर्धारित वर्षों– 5 या 6 वर्ष तक की पढ़ाई पूरी करते हैं।[4] यह पैमाना लगातार स्कूल जाने की पुष्टि करता है। इससे यह भी पता चलता है कि 11 या 12 वर्ष की उम्र को प्राप्त करने तक कितने बच्चे श्रम की मंडी से बाहर रहे। जिन बच्चों ने माध्यमिक स्कूल जाने से पूर्व 8 वर्ष शिक्षा लेने में बिताये थे, 14 वर्ष की आयु तक पूर्णकालिक मजदूर बनने से बचे रहे। स्कूलों में बच्चों के बने रहने की दर से यह भी पता चलता है कि किसी देश में कितने कारगर ढंग से संसाधनों का इस्तेमाल किया जा रहा है। पहली कक्षा में दाखिला लेने वाले कुल बच्चों को अगर पांच भागों में बांट दें और उनमें से दो भाग से भी कम बच्चे 4 वर्ष की स्कूली पढ़ाई पूरी करते हैं– जैसा कि भारत के मामले में है– तो इसका अर्थ यह हुआ कि शिक्षा संबंधी संसाधनों का एक बहुत बड़ा हिस्सा उन बच्चों पर बर्बाद कर दिया गया जो इतने समय तक भी स्कूल में नहीं रह सके कि अक्षर ज्ञान कर सकें। आमतौर से आजीवन साक्षर बने रहने के लिए 4–5 वर्ष की स्कूली शिक्षा जरूरी होती है। भारत में बीच में पढ़ाई छोड़ने वाले बच्चों (ड्राप आउट्स) की उच्च दर का दो अर्थ है– मानव संसाधनों को बर्बादी और शैक्षणिक संसाधनों की भी बर्बादी।

वयस्कों में जो साक्षरता दर है वह भी प्राइमरी स्कूलों में शिक्षा ग्रहण करने की दर का एक उपयोगी पैमाना हो सकता है। प्राथमिक स्कूलों में दाखिले और निर्धारित कक्षा तक पढ़ाई पूरी करने की दर में तेजी से वृद्धि का एकदम यह मतलब नहीं निकलता कि साक्षरता दर बहुत बढ़ गयी है– लेकिन इतना तो पता चलता ही है कि उस दशक में साक्षरता दर में वृद्धि होगी।

तुलनाएं

श्री लंका को अगर छोड़ दें तो दक्षिण एशिया के देशों में एशिया में सबसे निम्न साक्षरता है। भारत में 15 वर्ष से अधिक आयु के केवल 40.8 प्रतिशत

साक्षर हैं, पाकिस्तान में 25.6 प्रतिशत और बंग्लादेश में 33.1 प्रतिशत। इसके मुकाबले अन्य देशों को अगर देखें तो चीन में यह दर 72.6 प्रतिशत और इंडोनेशिया, उत्तरी तथा दक्षिणी कोरिया, ताइवान, थाइलैंड, वियतनाम, और बेशक जापान में साक्षरता दर और भी ज्यादा है। डेढ़ करोड़ से भी अधिक आबादी और 500 डालर से कम प्रति व्यक्ति आय वाले विश्व के 14 देशों में साक्षरता के मामले में भारत का नवां स्थान है। अगर क्रम से देखें तो यह वियतनाम, श्री लंका, तंजानिया, चीन, जेयरे, बर्मा, केन्या और उगांडा के बाद आता है। यह इस मामले में बस पाकिस्तान, बंग्लादेश, सूडान, नेपाल और इथियोपिया से आगे है। जैसाकि पहले भी बताया गया है कि भारत में अनेक ऐसे अफ्रीकी देशों के मुकाबले निम्न साक्षरता दर है जिनकी प्रति व्यक्ति आय भी बहुत कम है।

विकासशील देशों में साक्षरता दरों में यह जो अंतर है उसके पीछे यह कारण भी नहीं है कि भारत की आबादी बहुत ज्यादा है। जनसंख्या में वृद्धि के कारण भारत में निरक्षरों की संख्या 1961 में 33 करोड़ 30 लाख से बढ़कर 1981 में 43 करोड़ 70 लाख हो गयी लेकिन इंडोनेशिया में (जहां 62 प्रतिशत साक्षर हैं) भारत के समान ही जनसंख्या वृद्धि दर के बावजूद निरक्षरों की संख्या में कमी आयी। भारत में 15 से 19 वर्ष के आयु वर्ग के लोगों के बीच जितनी तेजी से निरक्षरता में वृद्धि हुई है वह भी आश्चर्यजनक है। 1971 से 1981 के बीच इस आयुवर्ग में निरक्षरों की संख्या 2 करोड़ 24 लाख से बढ़कर 3 करोड़ 10 लाख हो गयी। 1991 में इसके 3 करोड़ 62 लाख हो जाने की आशंका है। यूनेस्को के एक अध्ययन के अनुसार इस आयु वर्ग के लोगों में अनेक विकासशील देशों में निरक्षरता में कमी आयी है जिनमें नाइजीरिया, ब्राजील, इंडोनेशिया और ईरान शामिल हैं।[5] भारत के अलावा जिन अन्य देशों में यह वृद्धि देखी जा रही है वे हैं इथियोपिया, अफगानिस्तान, नेपाल, और मोरक्को। 1970 में भारत में विश्व के कुल निरक्षरों में से (यूनेस्को के इस आंकड़े में चीन को नहीं शामिल किया गया है) 37 प्रतिशत लोग 15 से 19 वर्ष के आयुवर्ग में थे– अनुमान है कि सन् 2000 तक इनकी संख्या बढ़कर 54.8 प्रतिशत हो जायेगी।

निरक्षरता से संबंधित इन आंकड़ों का संबंध स्कूलों में दाखिले और स्कूलों में पढ़ाई पूरी होने तक बने रहने की दरों से है। यद्यपि भारत में प्राथमिक शिक्षा में दाखिले के जो आंकड़े दिखाये जाते हैं, वे निम्न आय वाले अन्य देशों से बहुत भिन्न नहीं हैं पर पाचवीं या छठीं कक्षा तक स्कूल में बने रहने वालों के प्रतिशत में जो अंतर है वह चौंका देने वाला है (देखें तालिका 7.1)

भारत में बच्चों के स्कूल में बने रहने के दर की तुलना अगर हम ऐसे अन्य

देशों से करते हैं जिनकी प्रति व्यक्ति आय भी कम है तो हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि शिक्षा से दूर रखने के लिए केवल गरीबी जिम्मेदार नहीं है। हम यह भी देखते हैं कि अन्य देशों में बहुत सारी ऐसी शक्तियां हैं और बहुत सारे ऐसे कारक हैं जो बच्चों को स्कूल में रखने के लिए मां-बाप पर दबाव डालते हैं मसलन अध्यापकों और स्कूल प्रशासकों के प्रयास, स्थानीय समुदाय, राजनीतिक नेताओं और स्थानीय अधिकारियों के दबाव।

तुलना का अंतिम मुद्दा शैक्षणिक परिवर्तन की दर से संबंधित है। भारत सरकार का कहना है कि औसत राष्ट्रीय साक्षरता दर में वृद्धि हुई है जो 1951 में 16.7 प्रतिशत से बढ़कर 1981 में 36.2 प्रतिशत हो गयी और प्राइमरी स्कूलों में दाखिले में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है जो 1950 में 1 करोड़ 92 लाख से बढ़कर 1983 में 8 करोड़ 11 लाख हो गयी (6 से 11 वर्ष के आयु वर्ग के जिन बच्चों ने स्कूलों में दाखिला लिया उनका प्रतिशत, हाल के सरकारी दावों के अनुसार, 92 प्रतिशत है जबकि 1950 में यह महज 43 प्रतिशत था)[6] स्कूलों में दाखिले के बारे में किये जा रहे दावे कहां तक सच हैं इस पर विचार किये बिना हम यह देख सकते हैं कि दक्षिण एशिया से बाहर के अन्य बड़े विकासशील देशों ने प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण प्रगति की है जैसा कि हम बढ़ती साक्षरता दर से भी माप सकते हैं। मिसाल के तौर पर इंडोनेशिया में 1930 में केवल 6.4 प्रतिशत लोग साक्षर थे। 1961 आते-आते वहां 40 प्रतिशत लोग इस लायक हो गये कि वे पढ़ लिख सकें और 1980 के दशक के मध्य तक देश की लगभग तीन चौथाई आबादी साक्षर हो चुकी थी। 1978 तक प्राइमरी स्कूलों में दाखिला लेने वाले बच्चों में से तीन चौथाई बच्चे शिक्षा पूरी करने के बाद ही स्कूल छोड़ते थे। चीन में 1949 में साक्षरता दर 20 प्रतिशत थी जो 1986 में बढ़कर 72.6 प्रतिशत हो गयी। यहां प्राइमरी स्कूल में दाखिले की दर 1949 में 25 प्रतिशत थी जो 1979 में 93 प्रतिशत हो गयी और माध्यमिक स्कूल में दाखिले की दर 2 प्रतिशत से बढ़कर 46 प्रतिशत हो गयी।[7] दक्षिण कोरिया में साक्षरता दर 1944 में 55 प्रतिशत थी जो 1987 में बढ़कर 90 प्रतिशत हो गयी। विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों वाले देश प्राथमिक स्कूली शिक्षा को अनिवार्य रूप से सबको सुलभ कराने तथा साक्षरता के विस्तार की दिशा में बढ़ने में भारत से तेज साबित हुए हैं।

इस अंतर को आंशिक तौर पर सरकारों द्वारा शिक्षा के मद में होने वाले व्यय के आंकड़े से समझा जा सकता है। 1980 वाले दशक के मध्य में भारत अपने कुल राष्ट्रीय उत्पाद का 3.6 प्रतिशत शिक्षा पर व्यय कर रहा था जो निम्न आय वाले देशों के लगभग औसत के बराबर था। निम्न आय वाले लेकिन अपेक्षाकृत उच्च साक्षरता दर वाले अनेक देश शिक्षा पर सकल

राष्ट्रीय उत्पाद का इतना ही अथवा इससे ज्यादा धनराशि व्यय कर रहे थे- श्री लंका 3.5 प्रतिशत जबकि यहां साक्षरता 85.1 प्रतिशत है, जेयरे 3.4 प्रतिशत जबकि साक्षरता 61.2 प्रतिशत है, तंजानिया 4.3 प्रतिशत जबकि साक्षरता 85 प्रतिशत है, केन्या 6.7 प्रतिशत जबकि साक्षरता 59.2 प्रतिशत है, और मोरक्को 7.9 प्रतिशत जबकि साक्षरता 70.7 प्रतिशत है।[8]

फिर भी कुछ ऐसे देशों ने जहां भारत के मुकाबले साक्षरता दर ज्यादा है और जहां स्कूलों में बच्चों द्वारा प्राथमिक शिक्षा पूरी करने का अनुपात भी बेहतर है, शिक्षा पर अपने कुल राष्ट्रीय उत्पाद का 3 प्रतिशत से ज्यादा खर्च नहीं किया। यह देश हैं- चीन, बर्मा, उगांडा, घाना, और इंडोनेशिया। शिक्षा पर सार्वजनिक व्यय की राशि खर्च करने और साक्षरता के बीच में यदि कोई स्पष्ट संबंध नहीं है तो इसका कारण यह है कि कुछ देशों ने अपने शैक्षणिक बजट का एक बड़ा हिस्सा प्राइमरी स्कूलों पर जबकि भारत जैसे अन्य देशों ने उच्चतर शिक्षा पर खर्च किया। विश्व बैंक के अनुसार दक्षिण एशिया में 1965 और 1980 के बीच सार्वजनिक व्यय की आधी से भी कम राशि प्राथमिक शिक्षा पर खर्च की गयी और यह राशि अनुपात की दृष्टि से पूर्वी एशिया तथा पूर्वी अफ्रीका के देशों के मुकाबले काफी कम थी। उच्च शिक्षा के लिए 21 सबसे बड़े विकासशील देशों में जो राशि खर्च की गयी उनमें भारत (मिस्र के बाद) दूसरे स्थान पर था लेकिन समग्र साक्षरता की दृष्टि से इसका पंद्रहवां और प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करने वालों के प्रतिशत की दृष्टि से बारहवां स्थान था। दूसरे शब्दों में कहें तो भारत ने उच्च साक्षरता दर वाले और प्राइमरी स्कूलों में दाखिले की दृष्टि से उच्च दर वाले किंतु आय की दृष्टि से निम्न दर वाले देशों के मुकाबले प्राथमिक स्कूलों के विकास पर अपने राष्ट्रीय संसाधनों को कम व्यय किया। देखें तालिका 7.2।

अन्य अनेक विकासशील देशों में प्राइमरी स्कूल की शिक्षा के प्रति ज्यादा प्रतिबद्धता के लिए किन शक्तियों ने प्रेरित किया? क्या वे वही शक्तियां थीं अथवा वैसी ही थीं जिन्होंने पश्चिमी यूरोप और अमरीका को प्रभावित किया था? और किस प्रकार वे शक्तियां भारत में सक्रिय शक्तियों से अथवा निष्क्रिय शक्तियों से भिन्न थीं? एशिया के चार देशों की पड़ताल करने से, जिन्होंने सफलतापूर्वक प्राथमिक शिक्षा का प्रसार किया, उन शक्तियों का पता चलता है जो सक्रिय थीं और साथ ही यह भी पता चलता है कि किस प्रकार इन देशों का दृष्टिकोण बाल मजदूरी और शिक्षा के प्रति भारत के मुकाबले भिन्न था। चीन के अनुभव की समीक्षा से हमें पता चलता है कि किसी ऐसे देश में, जिसकी आबादी भारत से भी ज्यादा हो, प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में किस तरह की समस्याएं सामने आतीं हैं। ताईवान का

अध्ययन करने से हमें पता चलता है कि किस प्रकार प्राथमिक शिक्षा को, जिसे प्रारंभ में औपनिवेशिक शासन काल में बढ़ावा दिया गया था, बाद के शासनकाल द्वारा एक ऐसी शिक्षा प्रणाली विकसित करने के लिए इस्तेमाल किया गया, जिसने देश की अर्थव्यवस्था और सामाजिक संरचना के रूपांतरण में मदद पहुंचाई। दक्षिण कोरिया के उदाहरण से हमें एकदम विपरीत तस्वीर दिखाई देती है। यहां हम देखते हैं कि आजादी के समय यह देश अत्यन्त गरीब था और यहां साक्षरता तथा स्कूलों में दाखिले का स्तर भी काफी कम था लेकिन इसने एक ही पीढ़ी के दौरान बड़ी सफलतापूर्वक व्यापक तौर पर शिक्षा का प्रसार किया। श्री लंका को अगर देखें तो हमें दक्षिण एशिया के अंदर एक ऐसे देश का उदाहरण मिलता है जहां गरीबी का स्तर भारत तथा अन्य दक्षिण एशियाई देशों के जैसा ही था फिर भी यहां साक्षरता और प्राइमरी स्कूल की शिक्षा का उच्च स्तर हासिल किया गया। अंत में हम भारत के केरल राज्य का शैक्षणिक रिकार्ड देखेंगे ताकि यह समझ सकें कि आखिर क्यों भारत का ही एक राज्य उस साक्षरता दर को प्राप्त कर सका जो अखिल भारतीय औसत के मुकाबले लगभग दोगुना है, जहां स्कूलों में दाखिले का स्तर काफी ऊंचा है, पढ़ाई जारी रखने की दर काफी ऊंची है और प्राथमिक से माध्यमिक शिक्षा में संक्रमण की भी उच्च दर है।

चीन जनवादी गणराज्य

चीन के साथ तुलना खासतौर से आश्चर्यजनक है। एक अनुमान के अनुसार 1949 में चीन की कुल आबादी में केवल 20 प्रतिशत लोग साक्षर थे और केवल एक चौथाई बच्चे प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। 1982 में कुल 93 प्रतिशत बच्चे प्राथमिक स्कूलों मे जा रहे थे और 70 प्रतिशत ने छठीं कक्षा तक की पढ़ाई पूरी कर ली थी। शहरी क्षेत्रों में 83 प्रतिशत और ग्रामीण क्षेत्रों में 79 प्रतिशत प्राइमरी स्कूल स्नातकों ने जूनियर माध्यमिक शिक्षा में प्रवेश किया। (भारत में 79 प्रतिशत बच्चों ने दाखिला लिया लेकिन केवल 40 प्रतिशत ने पांचवी कक्षा तक पढ़ाई पूरी की। इनमें से 74 प्रतिशत की पढ़ाई स्कूलों में जारी रही।) दूसरे शब्दों में कहें तो चीन में 6 वर्ष तक की आयु के प्रत्येक 100 बच्चों में से 52 बच्चों ने जूनियर सेकेंड्री स्कूल में प्रवेश लिया (चीन में इसे सातवीं कक्षा माना जाता है) जबकि भारत में केवल 23 बच्चों ने (भारत में इसे छठीं कक्षा माना जाता है) 1982 तक चीन की वयस्क साक्षरता दर बढ़कर 68 प्रतिशत हो गयी थी।

स्कूलों में दाखिले और दाखिले के बाद पढ़ाई पूरी करने तक स्कूलों में बने रहने की दर में जो वृद्धि चीन में दिखाई देती है उसके पीछे कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति और पार्टी की स्टेट कौंसिल की

सार्वभौम साक्षरता के प्रति जबर्दस्त निष्ठा का पता चलता है।[9] राज्य ने एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था की जरूरत पर बल दिया जो सबके लिए समान हो, जिसमें सभी पाठ्य पुस्तकों में आसान चीनी भाषा का इस्तेमाल किया गया हो और जहां सभी बेजिंग में प्रचलित उच्चारण को एक मानक माना गया हो। स्कूली शिक्षा को अनिवार्य कर दिया गया लेकिन इसे लागू करने के लिए राज्य ने स्थानीय सरकारी संस्थाओं और स्थानीय पार्टी पर निर्भरता की नीति अपनाई।

तालिका 7.1

निम्न आय वाले देशों में प्राथमिक स्कूल में बने रहने की दर

(पांचवी अथवा छठी कक्षा तक पढ़ाई पूरी करने की दर)

भारत	38.0
अल्जीरिया	76.5
बंगलादेश	20.4
बोत्सवाना	79.8
बुरूंडी	94.3
चीन	70.0
मिस्र	64.3
घाना	74.7
केन्या	68.5
मलयेशिया	97.2
माली	60.7
मोरक्को	79.9
फिलीपीन्स	71.5
सेनेगल	85.9
श्री लंका	90.8
सिंगापुर	90.0
तंजानिया	79.7
उगांडा	57.6
जाम्बिया	84.8

स्रोतः यूनेस्को, *"इवोल्यूशन ऑफ वेस्टेज इन प्राइमरी एजूकेशन इन दि वर्ल्ड बिट्वीन 1971 एंड 1980"* (पेरिस' डिवीजन ऑफ स्टैटिस्टिक्स ऑन एजूकेशन, आफिस आफ स्टैटिस्टिक्स, अक्टूबर, 1984)। सभी आंकड़े ताजा से ताजा वर्ष के हैं जो कुछ देशों में पांचवी कक्षा और कुछ में छठी के छात्रों से संबंधित हैं। चीन से संबंधित आंकड़े "चाइनाः सोशलिस्ट इकोनामिक डेवलपमेंट, खण्ड-3: दि सोशल इंडिकेटर्स, ए वर्ल्ड बैंक कंट्री स्टडी (वाशिंगटन डी.सी. वर्ल्ड बैंक 1983) से लिये गये हैं।

तालिका 7.2

निम्न आय वाले देशों में शिक्षा

	प्रति व्यक्ति आय (डालर)	15 वर्ष से अधिक आयु के साक्षर (प्रतिशत)	शिक्षा पर सार्वजनिक व्यय (स.रा.)	स्कूलों में आयु वर्ग का प्रतिशत प्राथमिक स्कूल	माध्यमिक स्कूल	उच्च शिक्षा
बंग्लादेश	160	33.1	2.1	60	15	4
भारत	300	40.8	3.6	79	30	9
नेपाल	160	20.7	3.0	73	21	3
पाकिस्तान	350	25.6	2.1	44	14	2
श्रीलंका	400	86.1	3.5	103	54	4
अल्जीरिया	2680	44.7	6.1	93	36	5
चीन	290	72.6	2.7	110	35	1
बर्मा	200	78.5	1.6	84	20	1
कोलम्बिया	1240	69.1	2.9	125	46	12
मिस्र	680	44.9	5.5	78	54	15
इथियोपिया	130	3.7	3.9	46	12	1
घाना	390	53.2	2.6	76	34	1
इन्डोनेशिया	450	74.1	2.0	120	33	4
ईरान	3830	61.8	3.8	97	40	4
केन्या	330	59.2	6.7	104	20	1
मलयेशिया	1810	72.6	7.8	92	49	5
मोरक्को	610	70.7	7.9	80	28	6
नाइजीरिया	370	42.4	1.8	98	16	3
उ. कोरिया	760	90	3.6	एन.ए.	एन.ए.	एन.ए.
पेरू	1470	87.0	2.9	114	59	21
फिलीपीन्स	590	88.7	1.7	106	64	27
द. अफ्रीका	1890	79.3	3.8	एन.ए.	एन.ए.	एन.ए.
द. कोरिया	2690	90.0	4.5	100	59	25
सूडान	330	21.6	4.8	52	18	2
थाईलैण्ड	850	88.8	3.9	96	29	22
ताइवान	3160	91.2	3.6	एन.ए.	एन.एन.	एन.ए.
तन्जानिया	180	85.0	4.3	98	3	1
टर्की	1210	65.6	2.1	102	39	6
उगान्डा	260	57.3	2.7	60	8	1
वियतनाम	330	94.0	3.0	113	48	3
जेयरे	150	61.2	3.4	90	23	1

1. विश्व बैंक, "वर्ल्ड डेवलपमेंट रिपोर्ट 1989"

(न्यूयार्कः आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1988)

2. 'ब्रिटानिका बुक आफ दि इयर 1990"

(शिकागोः इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका,)

3. विश्व बैंक, "वर्ल्ड डेवलपमेंट रिपोर्ट 1985"

(न्यूयार्कः आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1984)

कभी–कभी यह प्रतिशत 100 से बढ़ जाता है क्योंकि कभी–कभी निर्धारित आयुवर्ग से अधिक या कम बच्चे स्कूलों में दाखिला ले लेते थे।

आमतौर पर प्राइमरी स्कूलों (मिनबान अथवा जनता द्वारा संचालित स्कूलों) के लिए आर्थिक व्यवस्था स्थानीय सरकारें करती हैं और शहरी क्षेत्रों के स्कूलों की व्यवस्था केंद्र सरकार द्वारा की जाती है। अध्यापकों के प्रशिक्षण का काम स्थानीय स्तर पर संचालित होता है लेकिन प्राइमरी स्कूलों के पाठ्यक्रमों और पाठ्यपुस्तकों पर केंद्र सरकार का नियंत्रण होता है। प्राइमरी स्कूल के स्तर पर एक समान पाठ्यक्रम पर जोर दिया जाता है। (यद्यपि शहरी और ग्रामीण स्कूलों के पाठ्यक्रमों में फर्क रहता है) लेकिन हाई स्कूल के स्तर पर जब विभिन्न विषयों में विशेषज्ञता के लिए छात्र चुनाव करते हैं तब पाठ्यक्रमों में समानता नहीं रह जाती। सिर्फ के अनुसार "यद्यपि विशेषज्ञता वाले विषय के लिए चुनाव करते समय मैरिट पर ध्यान दिया जाता है क्योंकि घरेलू वातावरण और पहले की दी गयी शिक्षा में अलग–अलग छात्रों में अलग–अलग खूबियां हो सकती हैं, फिर भी किसानों के बच्चे मिनबान स्कूलों में, मजदूरों के बच्चे टेक्नीकल–वोकेशनल स्कूलों में और सफेदपोश व्यवसायों में लगे लोगों तथा विशिष्ट राजनीतिज्ञों के बेटे महत्वपूर्ण स्कूलों और विश्वविद्यालयों में पाये जाते हैं।[10] जैसे–जैसे जनशिक्षा में वृद्धि हुई, रोजगार के लिए शैक्षणिक योग्यताएं भी बढ़ती गयीं। कारखाने के किसी मजदूर के लिए पहले शैक्षणिक योग्यता की कोई जरूरत नहीं होती थी लेकिन अब उसके लिए जूनियर हाई स्कूल तक शिक्षित होना जरूरी हो गया। इसी प्रकार फैक्ट्री के टेक्नीशियनों की नियुक्ति पहले केवल जूनियर हाई स्कूल डिप्लोमा के आधार पर हो जाती थी लेकिन अब जरूरी हो गया कि उनके पास सीनियर टेक्नीकल–वोकेशनल स्कूल डिप्लोमा हो।

1950 के दशक के प्रारंभ और मध्य में भूमि के सामूहिकीकरण के बाद ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर प्राइमरी स्कूल खोले गये। लेकिन प्राइमरी और सेकेंड्री शिक्षा का प्रसार सांस्कृतिक क्रांति के दौरान हुआ और इस अवधि में उच्चतर शिक्षा को नुकसान पहुंचा। यह एक ऐसी अवधि थी जिसमें राज्य ने शिक्षा को वैचारिक रूप से प्रतिबद्ध लोगों के निर्माण के उपकरण के रूप में देखा। इस अवधि में "विशेषज्ञ" (अर्थात ऐसा कौशल जो क्षमता और उत्पादकता को बढ़ा दे) पर जोर न देकर "लाल" होने पर (अर्थात

राजनीतिक चेतना, सामाजिक समानता, वैचारिक संकल्पशीलता से भरपूर) जोर दिया गया। ऐतिहासिक तौर पर देखें तो चीन की सरकार ने शिक्षा को राज्य के लक्ष्यों को पूरा करने का साधन माना। 19वीं शताब्दी में चीन के क्वींग शासक वैचारिक नियंत्रण को लेकर काफी चिंतित रहते थे।[11] बिलकुल शुरू के दिनों के आधुनिक चिंतकों की यह धारणा थी कि पश्चिमी राष्ट्रों ने अपनी शक्ति शिक्षा प्रणाली के जरिए हासिल की है और इसके लिए वे प्रशिया, फ्रांस और ब्रिटेन का उदाहरण देते थे। 19वीं शताब्दी समाप्त होते–होते चीनी समाज सुधारकों ने यह मानना शुरू किया कि जापान की सफलता का राज उसके द्वारा शिक्षा पर जोर दिया जाना है। साम्राज्यवादी चीन के शासकों ने हमेशा जनशिक्षा को एक राजनीतिक खतरे के रूप में देखा लेकिन साम्राज्यवादी शासन के बाद के शासनकाल में चीनी शासकों ने जनशिक्षा कोयह माना कि इससे अभिजात्य वर्ग और आम आदमी के बीच की दूरी कम होती है तथा यह सैनिक और औद्योगिक शक्ति के रूप में चीन के विकास में सहायक साबित होगा।

कम्युनिस्ट सरकार ने शिक्षा को अपना कर्तव्य मानते हुए इस दिशा में नया प्रयास किया। सार्वभौम और अनिवार्य शिक्षा के बीच अंतर सामने रखा गया। एक चीनी शिक्षाविद् ने लिखा कि "अनिवार्य शिक्षा को लागू करने की आवश्यक स्थितियां प्रदान करने में सरकार की महत्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए और यह उसका दायित्व है। इसी प्रकार मां-बाप का राज्य और समाज के प्रति दायित्व है कि वे अपने बच्चों को स्कूलों में भेजें जहां उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे शिक्षा के लिए कुछ वर्ष बितायेंगे। अगर सरकार सभी स्तरों पर आवश्यक स्थितियां प्रदान करने में विफल होती है अथवा मां-बाप अपने बच्चों को स्कूल भेजने में विफल होते हैं तो उन पर कानून के उल्लंघन का आरोप लगाया जाएगा। लेकिन "सार्वभौम शिक्षा" के मामले में ऐसा कोई बड़ा कानून अथवा नियम नहीं है।"[12]

इस प्रकार अनिवार्य शिक्षा के प्रयास के एक बुनियादी तत्व के रूप में शासन द्वारा "आवश्यक स्थितियां" प्रदान करना मुख्य हो गया। आवश्यक स्थितियों का अर्थ था–पर्याप्त संख्या में स्थानीय स्कूलों का निर्माण, पुस्तकों, खेलकूद के सामानों, शिक्षा साधनों, आहार और कपड़ा आदि की व्यवस्था, अध्यापकों का प्रशिक्षण और यह सुनिश्चित करने का जबर्दस्त प्रयास कि लड़कियों को स्कूल जरूर भेजा जाए। अधिकांश स्कूल भवनों का निर्माण कम्यूनों और ब्रिग्रडों ने किया था। प्राइमरी शिक्षा पर 1950 में कम्यूनों और प्रोडक्शन ब्रिगेडों की ओर से कुल व्यय का पांच प्रतिशत प्रदान किया जाता था जो 1970 वाले दशक के उत्तरार्ध तक बढ़कर 24 प्रतिशत हो गया। कम्यूनों की स्थापना तथा निजी स्वामित्व वाले कारखानों की समाप्ति ने

मां-बाप के लिए बाल–मजदूरी की जरूरत में कमी ला दी लेकिन बाद के दिनों में दायित्व की प्रणाली स्थापित करने तथा निजी उद्यमों की स्थापना का प्रावधान करने से स्कूल जाने के खर्च में वृद्धि हुई। जीयांग थोंगजू, जो राज्य शिक्षा आयोग के प्राथमिक शिक्षा विभाग के अध्यक्ष थे, का कहना है कि "समय–समय पर राज्य ने बाल मजदूरी के इस्तेमाल के खिलाफ कदम उठाए हैं और स्थानीय सरकारों ने बाल श्रम प्रथा को रोकने के लिए विभिन्न उपाय किये हैं। मिसाल के तौर पर बच्चों से मजदूरी कराने वाले उद्योगों को कच्चे माल से वंचित कर दिया गया। इसके अलावा जो अन्य उपाय किये जाते हैं उनमें व्यापार का लाइसेंस जब्त कर लेना और आर्थिक प्रतिबंध लागू करना भी शामिल है। जो कारखाने बच्चों का शोषण कर रहे हों उनको आर्थिक रूप से दंडित किया जाता है और उन पर जुर्माना लगाया जाता है।" जियांग ने यह भी बताया कि, "कुछ मां-बाप तत्काल मुनाफा कमाने के लिए अपने बच्चों को प्राथमिक विद्यालयों में भेजने की बजाय उनसे काम कराते हैं" और यह एक ऐसी प्रवृत्ति है जो खासतौर से लड़कियों को बुरी तरह प्रभावित करती है।[13]

यद्यपि शिक्षा अनिवार्य है फिर भी राष्ट्रीय अनिवार्य शिक्षा कानून प्रांतों, नगर पालिकाओं और स्वायत्त क्षेत्रों को इतनी छूट देता है कि वे इसको लागू करने में अपना तरीका इस्तेमाल करें। बड़े शहरों और आर्थिक दृष्टि से विकसित क्षेत्रों में प्रायः नौ वर्ष की शिक्षा के कानून को एक ही कदम में लागू कर दिया लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों के अधिकांश हिस्सों में तीन से छह वर्ष के लिए शिक्षा को अनिवार्य किया गया– इस अपेक्षा के साथ कि आने वाले दिनों में क्रमशः वर्षों की संख्या में वृद्धि कर दी जायेगी। स्थानीय सरकारों के पास प्रशासनिक अधिकार होते हैं लेकिन केंद्र सरकार स्थानीय सरकारों पर यह सुनिश्चित करने के लिए निगरानी रखती है कि प्रत्येक क्षेत्र में बच्चे कुछ निश्चित वर्षों तक अनिवार्य शिक्षा ग्रहण करें। केंद्र सरकार भी इन क्षेत्रों को अपने विशेष प्रयासों से वित्तीय कठिनाइयों के बावजूद आर्थिक मदद देती है।[14] लड़कियों को स्कूल में भर्ती कराने और उन्हें शिक्षा पूरी कर लेने तक स्कूल में बने रहने पर सरकार खासतौर पर जोर देती है। 1951 में प्राइमरी स्कूल के छात्रों में केवल 28 प्रतिशत लड़कियां थीं लेकिन 1975 आते–आते यह संख्या बढ़कर 45.2 प्रतिशत हो गयी।

ताइवान

जहां तक इतिहास की बात है, ताइवान चीन का सुदूर स्थित एक प्रांतीय चौकी के रूप में रहा है। 1895 से लेकर द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति तक यह जापान का उपनिवेश था। जापान में द्विस्तरीय शिक्षा नीति लागू थी–

निम्न स्तर की प्राथमिक शिक्षा प्रणाली जो समूची आबादी के लिए थी और एक उच्च शिक्षा प्रणाली जिसके अंतर्गत छोटे–छोटे माध्यमिक स्कूल थे और इनसे भी कम संख्या में उच्चतर शिक्षा की संस्थाएं थीं जिनमें देश की कुल आबादी के ऐसे दस प्रतिशत लोग शिक्षा ग्रहण कर पाते थे जिन्होंने प्राइमरी स्कूल वाली अवस्था पार कर ली हो। जापान सरकार ने ताइवान के लोगों के लिए अपने यहां की निम्न स्तरीय शिक्षा प्रणाली के तरीके की व्यवस्था शुरू करनी चाही और उच्च स्तर को उन जापानियों के लिए सुरक्षित कर दिया जो ताइवान में रह रहे थे।

औपनिवेशिक शासन के प्रारंभिक वर्षों में जापानियों ने सरकार द्वारा संचालित ऐसे स्कूलों का निर्माण किया जिनका उद्देश्य चीन के मिशनरी और प्राइवेट स्कूलों का मुकाबला करना था। इसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि मध्य और उच्च वर्ग को उन ताइवानी नागरिकों को जापानी भाषा की शिक्षा दी जाए जो अपने बच्चों को शिक्षित कराने में दिलचस्पी लेते हैं। 1906 में ताइवान में स्कूल जाने वाले आयु वर्ग के केवल पांच प्रतिशत बच्चे इन कामन स्कूलों में दाखिला ले सके और उनमें से प्रतिदिन औसतन केवल 65 प्रतिशत छात्रों का दाखिला किया जाता था। जैसा कि हमने देखा है 19वीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों के दौरान जापान में प्राथमिक स्कूल की आयु वर्ग के बच्चों को दाखिला देने का जबर्दस्त अभियान शुरू हुआ। और 1910 आते–आते लड़कों और लड़कियों के दाखिले के मामले में निर्धारित लक्ष्य को पूरा कर लिया गया। जापानी शासक इसी प्रकार ताइवान में रहने वाले सभी जापानियों के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा देने को काफी उत्सुक दिखाई पड़ रहे थे। 1910 तक ताइवान में जापानी छात्रों की संख्या केवल 5 प्रतिशत थी।

वैसे तो जापानी शासक ताइवानवासियों के लिए भी प्राथमिक स्कूली शिक्षा का प्रसार करने के लिए उत्सुक थे लेकिन इस विचार के प्रति उनके अंदर समान रूप से हिचकिचाहट थी कि शिक्षा हासिल करके ताइवानवासी भी उन्हीं उच्च पदों तक पहुंच जाएं जिन पर जापानी लोग बैठे हुए हैं। स्कूली शिक्षा प्रणाली में जापानी भाषा सीखने पर जोर दिया जाता था और गणित तथा व्यावसायिक कौशल जैसे उपयोगी विषयों की शिक्षा दी जाती थी। स्कूल का समय ऐसा रखा जाता था जिससे खेती के मौसम में एक सामंजस्य बना रहे और खेत बोने, फसल काटने तथा खेती के अन्य कामों में लगे होने के कारण बच्चे स्कूल नहीं जा पाते थे। जापानी लोग परंपरागत चीनी दृष्टिकोण को बदलना चाहते थे। चीनी दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा एक ऐसा माध्यम है जिसकी मदद से शारीरिक श्रम से मुक्ति मिल सकती है। जापानी शासक ताइवानी नागरिकों को अपनी भाषा और नैतिकता की शिक्षा

देकर जापानी बनाना चाहते थे। इस शिक्षा के साथ–साथ सम्राट के प्रति आदर की भावना भी सिखायी जाती थी। यहां पढ़ाने वाले अध्यापक ज्यादातर जापानी थे।

1906 से 1918 के बीच जापानियों ने ताइवान में कामन स्कूल प्रणाली का विस्तार किया और इसका स्तर उन्नत किया लेकिन माध्यमिक स्कूलों और उच्च शिक्षा प्रदान करने वाले स्कूलों के खोलने पर हिचकिचाहट दिखाई। वे नहीं चाहते थे कि ताइवान में रहने वाले जापानियों को और जापान में रहने वाले जापानियों को अपने उपनिवेश के प्रशासन में दिक्कत महसूस हो। और भी ज्यादा तथा बेहतर शिक्षा प्राप्त करने के लिए ताइवान के लोगों द्वारा दबाव डाले जाने पर तथा साथ ही ताइवान की अर्थव्यवस्था पर श्रमिकों की मांगों के प्रभावों के कारण जापानी अधिकारियों ने 1919 में सभी शिक्षा प्रणालियों को मिलाकर एक तथा समन्वित शिक्षा व्यवस्था का निर्माण किया। इस व्यवस्था के अंतर्गत सभी बच्चों को छह वर्षों तक एक जैसी पढ़ाई करनी पड़ती थी और इसके बाद उन्हें अलग–अलग स्कूलों में भेजा जाता था– दो वर्ष के प्रशिक्षण वाले व्यावसायिक स्कूलों में, औद्योगिक स्कूलों, वाणिज्यिक स्कूलों, कृषि तथा वृक्षारोपण से संबंधित स्कूल तथा विभिन्न कार्यक्रमों में भेजा जाता था। पहले से चले आ रहे प्राइवेट स्कूलों को काम करने की इजाजत दी गयी लेकिन यह भी कहा गया कि नए प्राइवेट स्कूल तभी खोले जा सकेंगे जब उनमें व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था हो अथवा विकलांगों को शिक्षा दी जा रही हो। नई प्रणाली ने सभी बच्चों को एक जैसी शिक्षा प्रदान करने के अतिरिक्त व्यावसायिक प्रशिक्षण पर जोर दिया। यहां पढ़ाई का माध्यम जापानी भाषा थी और चीनी भाषा को समय बीतने के साथ स्कूलों से बाहर कर दिया गया। शिक्षा देने का उद्देश्य वहां की आबादी को पूरी तरह अपनी संस्कृति में समाहित करना था। इसके अलावा ताइवान में रहने वाले जापानी नागरिकों के लिए सभी स्तरों पर अलग स्कूलों की व्यवस्था थी।

स्कूलों में दाखिले बढ़ने लगे। 1919 में स्कूल जाने वाले आयु वर्ग के केवल 21 प्रतिशत बच्चे प्राथमिक स्कूलों में थे। नई व्यवस्था के शुरू होते ही 1920 में यह संख्या बढ़कर 25 प्रतिशत हो गयी और इसके बाद प्रति वर्ष इसमें एक या दो प्रतिशत का इजाफा होने लगा। 1930 के दशक के उत्तरार्ध में इसमें तेजी से वृद्धि हुई। 1943 तक स्कूल जाने वाले आयु वर्ग के 65.7 प्रतिशत बच्चे प्राथमिक स्कूलों में शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। 1943 में सरकार ने अनिवार्य प्राथमिक स्कूली शिक्षा की शुरुआत की। इसी समय सरकार ने मध्यम दर्जे के उन स्कूलों को बंद कर दिया जहां पढ़ाई का माध्यम चीनी भाषा थी। इसके अगले वर्ष स्कूल जाने वाले आयु वर्ग के 71

प्रतिशत ताइवानी बच्चे स्कूलों में थे। 81 प्रतिशत लड़के और 61 प्रतिशत लड़कियां। 12 वर्ष से कम आयु के लगभग 30 प्रतिशत बच्चे स्कूलों से बाहर रहे और इनमें से एक बहुत बड़ी संख्या मजदूरी के काम में लगी रही।

1945 में जब ताइवान को चीन के सुपुर्द किया गया तो सरकार ने शिक्षा प्रणाली को पूरी तरह समाप्त कर दिया और जापानी भाषा के स्थान पर सभी स्तरों पर सरकारी कामकाज की भाषा के रूप में मैंडेरिन को स्थान दिया। 1968 तक छह वर्षों की शिक्षा को अनिवार्य रखा गया जब नौ वर्षों के लिए निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा की शुरुआत की गयी। जापान ने प्राइमरी शिक्षा के बाद की पढ़ाई में व्यावसायिक विषयों पर और उच्च शिक्षा में चिकित्सा, बालरोग, व्यावहारिक विज्ञान और वाणिज्य की शिक्षा पर जोर देना जारी रखा। नयी आजाद सरकार को जापान से विरासत में अत्यन्त विकसित प्राथमिक शिक्षा प्रणाली मिली और ऐसी प्रणाली भूतपूर्व उपनिवेशों में शायद ही कोई थी। जैसा कि त्सूरूमी ने लिखा, "अमरीका और फिलीपीन्स के अमरीकियों को छोड़कर एशिया अथवा किसी भी अन्य देश के औपनिवेशिक राष्ट्र ने देशज शिक्षा पर उतना जोर नहीं दिया और गंभीरता से नहीं लिया जैसा ताइवान में जापानी शिक्षकों में देखने को मिला। शिक्षा संबंधी योजनाओं को आकार देने और उन्हें लागू करने में जिस तरह की सावधानी बरती गयी वह असाधारण है।"[15] ऐसा इसलिए नहीं कि जापानियों ने शिक्षा पर ढेर सारा पैसा खर्च किया बल्कि इसलिए कि जो भी पैसा खर्च हुआ उसका मुख्य हिस्सा स्कूल प्रणाली के निचले स्तर को मजबूत बनाने पर खर्च किया गया। अन्य अनेक उपनिवेशों के मुकाबले उच्च शिक्षा को वरीयता क्रम में नीचे रखा गया हालांकि यह भी ध्यान देने योग्य है कि जापानियों ने अध्यापकों और चिकित्सकों के प्रशिक्षण को भी प्राथमिकता दी। प्राथमिक शिक्षा के बाद व्यावसायिक प्रशिक्षण पर जोर दिये जाने का लाभ यह हुआ कि शारीरिक श्रम के प्रति चीन में परंपरागत तौर पर चली आ रही हिकारत की भावना को समाप्त किया जा सका। ताइवान में जापान की शिक्षा प्रणाली अत्यंत समतावादी भी थी : सभी वर्गों के नागरिकों के लिए एक ही तरह की स्कूल व्यवस्था स्थापित की गयी थी। बेशक, अगर कहीं विषमता थी तो ताइवान में रहने वाले जापानियों के लिए स्थापित एक अलग किस्म की स्कूली व्यवस्था में थी लेकिन उसकी समाप्ति 1945 में आजादी के बाद हो गयी।

मुख्य भूमि चीन से राष्ट्रीय सरकार के ताइवान जाने के बाद इस द्वीप के चरित्र में बदलाव आया। बड़ी संख्या में चीनी नागरिक मुख्य भूमि से भागकर यहां आये। अमरीका ताइवान के विकास के लिए प्रतिबद्ध था और इसने उल्लेखनीय तौर पर संसाधनों को मुहैया किया। नये नेतृत्व ने देश के

सामाजिक आर्थिक विकास और एक निष्ठावान आबादी तैयार करने के लिए यह महसूस किया कि शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। यह समझना मुश्किल है कि राष्ट्रवादी सरकार से पहले के शासन के काल में शिक्षा का जो प्रसार हुआ था उसे किस सीमा तक 1950 के बाद देश के असाधारण आर्थिक विकास में सहायता मिली। किसानों को लाभ देने वाली एक भूमि सुधार नीति ने गांवों को समृद्ध बनाया (1949 से 1960 के बीच कृषि उत्पादकता में 80 प्रतिशत की वृद्धि हुई)। निर्यातोन्मुख औद्योगिक नीति के फलस्वरूप व्यापार में काफी वृद्धि हुई– 1950 के दशक में विदेश व्यापार एक तिहाई बिलियन डालर प्रतिवर्ष था जो 1979 तक 31 बिलियन डालर हो गया। 1950 में प्रति व्यक्ति आय 40 डालर थी जो 1980 में बढ़कर 2,000 डालर हो गयी– मुख्य भूमि चीन के मुकाबले यह साढ़े सात गुना अधिक थी (1986 में ताइवान में प्रति व्यक्ति आय अनुमानतः 5,000 डालर थी)। निश्चय ही इस विकास के पीछे एक ऐसी आबादी का होना था जिसे कम से कम छः वर्षों तक और 1960 के दशक के उत्तरार्ध से नौ वर्षों तक स्कूली शिक्षा मिली थी। साथ ही रोजगार के अवसरों में तेजी से हुई वृद्धि ने सामाजिक गतिशीलता और शिक्षा की मांग को तेज किया। 1980 आते–आते 6–12 वर्ष के आयुवर्ग के सभी बच्चे, 12–15 वर्ष के आयुवर्ग के 90 प्रतिशत और 18–22 वर्ष के आयुवर्ग के 26 प्रतिशत युवक स्कूलों में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे।"[16] शुरू के नौ वर्षों तक (प्राथमिक स्कूल के छः वर्ष और जूनियर हाई स्कूल के 3 वर्ष) सभी बच्चों को एक जैसी शिक्षा मिलती थी। इसके बाद जो पढ़ाई जारी रखते थे वे या तो सीनियर हाई स्कूल में भर्ती होते थे अथवा सीनियर वोकेशनल स्कूल में शिक्षा लेते थे।

अनिवार्य शिक्षा को 12 वर्ष की आयु से बढ़ाकर 15 वर्ष की आयु तक करने का निर्णय काफी विचार विमर्श के बाद लिया गया था। 1968 तक देश काफी हद तक औद्योगीकृत हो गया था और अब अपेक्षाकृत पढ़े–लिखे श्रमिकों की जरूरत थी। दूसरी बात यह थी कि 12 वर्ष तक की आयु के लिए न्यूनतम अनिवार्य शिक्षा और 14 वर्ष की आयु के लिए (जिसे बाद में बढ़ाकर 15 वर्ष कर दिया गया) कारखाने में काम करने की न्यूनतम योग्यता के बीच एक अंतर मौजूद था। प्राइमरी स्कूल छोड़ने वालों के लिए कहीं कोई स्थान नहीं था– खासतौर से ऐसे समय जब प्राइमरी स्कूल छोड़ने वालों में से 40 प्रतिशत छात्र जूनियर हाई स्कूल की प्रवेश परीक्षाओं में असफल हो गये हों। इस प्रकार देखा जाय तो बाल श्रम कानूनों को लागू करने के लिए अनिवार्य शिक्षा का प्रसार बहुत जरूरी हो गया था। तीसरी बात यह है कि शिक्षाविदों ने यह दलील दी कि चूंकि जूनियर हाई स्कूल में प्रवेश के लिए प्रतियोगात्मक परीक्षा में उत्तीर्ण होना जरूरी था, इसलिए

प्राइमरी स्कूल के छात्र इन परीक्षाओं के लिए जबर्दस्त तैयारी कर सकते थे। एक बार जब अनिवार्य शिक्षा के लिए निर्धारित आयु को बढ़ाने का निर्णय ले लिया गया तो प्राइमरी स्कूल छोड़कर जूनियर हाई स्कूल में भर्ती होने वाले छात्रों के प्रतिशत में तेजी से वृद्धि हुई– 1968 में यह संख्या 70 प्रतिशत थी जो 1979 तक 96 प्रतिशत हो गयी। जूनियर हाई स्कूलों में बदलती हुई संरचना को ध्यान में रखते हुए वैकल्पिक व्यावसायिक पाठ्यक्रमों पर और भी ज्यादा जोर दिया गया। इसका एक नतीजा यह निकला कि जूनियर हाई स्कूलों के और भी ज्यादा ग्रेजुएट्स सामान्य हाई स्कूलों के मुकाबले व्यावसायिक शिक्षा देने वाले सीनियर हाई स्कूलों में गये। सरकार ने भी सामान्य हाई स्कूलों के मुकाबले व्यावसायिक स्कूलों पर ज्यादा पैसा खर्च किया। अनिवार्य शिक्षा को लागू करने का काम "अनिवार्य शिक्षा समितियों" को सौंपा गया और प्रत्येक प्रांत तथा प्रमुख शहरों में इनकी स्थापना की गयी। इन समितियों का सदस्य होते थे प्रांतीय गवर्नरो, शहर के मेयरो, शिक्षा ब्यूरो, घरेलू मामले से संबंधित ब्यूरो, वित्तीय ब्यूरो, शहर नियोजन विभाग, पुलिस और संघीय सरकार के प्रतिनिधि। इसी तरह की समितियां दूसरे दर्जे के सभी शहरों, कस्बों और जिलों में स्थापित की गयीं और इनमें जिले के विभागों तथा स्थानीय सरकारों के प्रतिनिधि होते थे। अनिवार्य शिक्षा संबंधी प्रत्येक समिति पर यह जिम्मेदारी दी जाती थी कि वह उन नियमों को शुरू और संचालित करे जिनसे स्कूलों में छात्रों की हाजिरी पर निगाह रखी जा सके। किसी स्थानीय अधिकारी को यह जिम्मेदारी सौंपी जाती थी कि वह छः वर्ष की आयु के बच्चों का रिकार्ड तैयार करे और उसे शिक्षा विभाग को दे। इस रिकार्ड के आधार पर शिक्षा विभाग स्थानीय अधिकारियों तक निर्देश भेजता था। जो बच्चे स्कूलों में दाखिल नहीं होते थे उनके घरों पर स्थानीय शिक्षा समिति के सदस्य खुद जाते थे, बच्चों के मां-बाप को सलाह देते थे कि बच्चों को स्कूल भेजा जाए, उनकी पारिवारिक समस्याओं को स्थानीय सरकारों तथा समाज कल्याण संगठनों तक पहुंचाते थे और इसके बाद भी अगर मां-बाप अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेजते थे तो उन्हें विधिवत चेतावनी देते हुए एक पत्र भेजा जाता था।[17]

अपने बच्चों को शिक्षित करने पर चीन के लोग काफी जोर देते थे और इसकी एक वजह यह थी कि वे लोग पढ़ाने के काम में लगे अध्यापकों को काफी सम्मान देते थे। समाज में अध्यापकों का दर्जा काफी ऊंचा था। विभिन्न व्यवसायों में लगे लोगों की प्रतिष्ठा के बारे में किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार विश्वविद्यालय के प्रोफेसरों को सर्वोच्च सम्मान प्राप्त था माध्यमिक स्कूल के अध्यापकों को किसी डाक्टर और इंजीनियर जैसा सम्मान प्राप्त था और प्राथमिक स्कूल के अध्यापकों को पत्रकारों तथा पुलिस कर्मियों जैसा सम्मान प्राप्त था और कभी-कभी इससे भी ज्यादा सम्मान उन्हें मिलता था। प्राथमिक स्कूलों में जो अध्यापक पढ़ाते थे उन जूनियर हाई स्कूल स्नातकों के लिए जरूरी था कि वे पांच वर्ष का प्रशिक्षण लेंजो रियायती दर पर उन्हें दिया जाता था। इसके बाद नौकरी के दौरान उन्हें जो भी वेतन मिलता था वह आम सरकारी अधिकारी से अधिक होता था। 1950 में ताइवान में कुल राष्ट्रीय उत्पाद का महज 1.7 प्रतिशत शिक्षा पर खर्च हुआ। लेकिन 1980 के दशक तक यह बढ़कर 4 से 4.5 प्रतिशत हो गया। 1980 में सार्वजनिक व्यय के लिए जो राशि निर्धारित थी उसमें से 34 प्रतिशत प्राथमिक शिक्षा में, 21 प्रतिशत जूनियर हाई स्कूल, 6 प्रतिशत सीनियर हाई स्कूल, 6.3 प्रतिशत सीनियर वोकेशनल स्कूल, 15 प्रतिशत उच्च शिक्षा और 11 प्रतिशत प्रशासन के लिए खर्च की गयी। 1950 के दशक में ही ताइवान में साक्षरता दर काफी ऊंची यानी 66 प्रतिशत थी जो 1980 के दशक के मध्य तक बढ़कर 91 प्रतिशत हो गयी (96 प्रतिशत पुरुष, 87 प्रतिशत महिलाएं)। वयस्क आबादी में से लगभग आधे लोग (48 प्रतिशत) प्राथमिक शिक्षा पूरी कर चुके थे। 20 प्रतिशत ने माध्यमिक शिक्षा और 3 प्रतिशत ने उच्च शिक्षा पूरी कर ली थी। केवल 9 प्रतिशत लोगों के पास कोई औपचारिक शिक्षा नहीं थी और इनमें ज्यादातर अधिक उम्र के लोग थे।

दक्षिण कोरिया

ताइवान की ही तरह कोरिया में भी 1910 में जब जापानियों ने शासन की बागडोर संभाली तो वहां मौजूद शिक्षा प्रणाली का मुख्य उद्देश्य कुछ ऐसे लोगों को तैयार करना था जो सरकारी सेवाओं के लिए आयोजित होने वाली परीक्षाओं में बैठ सकें।[19] यह शिक्षा प्रणाली बहुत अभिजात्य किस्म की थीं, पुरुषों तक सीमित थी और अत्यन्त प्रतिष्ठित मानी जाती थी। लगभग 2 करोड़ की आबादी में केवल मुट्ठी भर कोरियाई स्कूल जाते थे (1910 में 110,000 लोग) और साक्षरता का स्तर बहुत नीचे था। विरासत में मिली सम्पत्ति, सैनिक सत्ता अथवा किसी विशिष्ट समूह की सदस्यता के मुकाबले शिक्षा को राजनीतिक सत्ता हासिल करने का माध्यम समझा जाता था। इस प्रकार कोरियाई शिक्षा व्यवस्था चीनी कन्फ्यूशियन प्रणाली के सिद्धान्तों पर आधारित थी।

जापानियों ने परंपरागत कन्फ्यूशियन स्कूलों को समाप्त नहीं किया; उल्टे उन्होंने सेक्यूलर सार्वजनिक शिक्षा की दो नयी समानांतर प्रणालियां तैयार कीं–एक तो कोरिया में बसे जापानियों के लिए और दूसरी कोरियाइयों के लिए। जापानी अधिकारियों ने जापान से अध्यापकों का आयात किया

और देश के अंदर जापानी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया जबकि अब तक कोरियाई भाषा शिक्षा का माध्यम थी। 30 वर्षों के दौरान जापानियों ने अपनी स्कूल प्रणाली का विस्तार किया और बड़ी संख्या में कोरियाई बच्चों को भर्ती करने लगे। 1941 तक 18 लाख बच्चे स्कूलों में जा रहे थे तो भी प्रत्येक 3 में से एक कोरियाई बच्चा ही सरकारी प्राइमरी स्कूलों में जाता था यद्यपि सरकार ने निःशुल्क पाठ्य पुस्तकें और निःशुल्क दोपहर का भोजन देने की व्यवस्था की थी। बड़ी संख्या में कोरियाइयों ने अपने बच्चों को प्राइवेट प्राइमरी स्कूलों में भेजा– इनमें से अनेक स्कूल प्राटेस्टेंट और कैथोलिक मिशनरियों द्वारा चलाये जाते थे। कोरिया के अनेक मां-बाप प्राइवेट स्कूलों को कोरियाई राष्ट्रीय चेतना विकसित करने का केन्द्र मानते थे। जापानी अधिकारियों ने प्राइवेट स्कूलों को नियमित बनाने की कोशिश की और इनमें वे स्कूल भी शामिल थे जिन्हें ईसाई मिशनरियां चलाती थीं। साथ ही जापानी अधिकारियों ने इस बात पर भी जोर दिया कि जापानी भाषा पढ़ाई जाय यद्यपि कोरियाई भाषा शिक्षा का माध्यम बनी रही। तो भी सरकारी और प्राइवेट दोनों तरह के स्कूल ऐसे केन्द्र बन गये जहां जापानी अधिकारियों के खिलाफ राजनीतिक प्रतिरोध का वातावरण था और यहां तक कि जापानियों के जाने के बाद भी ये स्कूल राजनीतिक गतिविधि के केन्द्र बने रहे।

अनेक कारणों से ताइवान के मुकाबले जापानियों को कोरिया में सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में कम सफलता मिली। उन्हें जापानी संस्कृति को आत्मसात कराने के प्रयास में ताइवान के मुकाबले कोरिया में ज्यादा विरोध झेलना पड़ा। जापानियों के अंदर यह प्रवृत्ति थी कि वे कोरियाइयों और कोरियाई संस्कृति को हीन समझते थे जबकि चीनी सभ्यता को वे काफी सम्मान देते थे। इसके अलावा एक बात और थी कि ताइवान के मुकाबले कोरिया मे श्रम के जरिये पैसा कमाने वालों की संख्या कम थी और यहां शिक्षित कोरियाइयों के मुकाबले शिक्षित ताइवानवासियों के लिए रोजगार के अवसर भी कम थे।

जापानी शासन से कोरिया को 1945 में मुक्ति मिली। देश का बंटवारा हुआ और उत्तरी भाग सोवियत संघ के प्रभाव में तथा दक्षिणी भाग अमरीका के प्रभाव में आ गया। उत्तरी भाग में देश का कुल 55 प्रतिशत क्षेत्र था और अधिकांश उद्योग भी इसी भाग में थे तथा यहां की आबादी 90 लाख थी। दक्षिणी भाग में आबादी 2 करोड़ 10 लाख थी और यहां मुख्य रूप से खेती बारी करने वाले तथा मछली के व्यवसाय पर निर्भर रहने वाले थे। देश के दोनों हिस्सों में कोरिया की दोनों सरकारों ने शिक्षा पर जोर दिया– इसके पीछे आर्थिक लाभ से ज्यादा राजनीतिक लाभ हासिल करना था क्योंकि

दोनों सरकारें शिक्षा को राज्य के प्रति निष्ठा की भावना पैदा करने का एक उपकरण मानती थीं। जापानी अध्यापकों के जापान वापस चले जाने के कारण दोनों देशों में अध्यापकों की जबर्दस्त कमी हो गयी थी। 1950–1953 के कोरियाई युद्ध में दोनों देशों को काफी नुकसान उठाना पड़ा था और स्कूलों की बहुत सी इमारतें इस युद्ध में क्षतिग्रस्त हो गयी थीं। दोनों देशों ने प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के विस्तार के लिए बड़ी मात्रा में संसाधनों को लगाया– उत्तरी कोरिया के मामले में राज्य ने तथा दक्षिणी कोरिया में बच्चों के मां-बाप ने शिक्षा संबंधी कोष में संसाधन लगाये।

1960 के दशक के शुरू के वर्षों में दक्षिण कोरिया में उल्लेखनीय आर्थिक विकास देखने को मिला (1965 से 1985 के बीच आर्थिक वृद्धि की दर सालाना 6.6 प्रतिशत थी। 1961 में प्रति व्यक्ति आय 83 डालर थी जो 1985 में बढ़कर 2150 डालर हो गयी) और इसी के साथ-साथ शिक्षा प्रणाली का भी तेजी से विस्तार हुआ। कहा जा सकता है कि शिक्षा प्रणाली के विस्तार ने काफी हद तक आर्थिक विकास को सुगम बनाया। राज्य की भूमिका अलग-अलग चरणों में सामने आयी। 1955 से 1970 के बीच प्राइमरी स्कूलों की संख्या बढ़ाने पर जोर दिया गया, 1965 के बाद जूनियर और सीनियर सेकेन्ड्री स्कूलों की संख्या में वृद्धि करने पर विशेष ध्यान दिया गया। 1970 के दशक की समाप्ति तक दक्षिण कोरिया में प्राथमिक स्कूलों में जाने वाले आयुवर्ग के 99 प्रतिशत बच्चे स्कूलों में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। 1960 में स्कूल जाने वाले बच्चों की संख्या 50 लाख थी जो 1980 तक 1 करोड़ 10 लाख हो गयी। 1980 के दशक के शुरू के वर्षों में दक्षिण कोरिया की कुल आबादी का एक चौथाई हिस्सा स्कूलों में शिक्षा पा रहा था। 1979 में कुल राष्ट्रीय उत्पाद का 3 प्रतिशत शिक्षा पर व्यय किया जाता था (सरकारी बजट का 19 प्रतिशत)। यह अन्य अनेक विकासशील देशों के मुकाबले कम था। फिर भी दक्षिण कोरिया में शिक्षा में पूंजी निवेश का सबसे बड़ा स्रोत छात्रों से मिलने वाला शिक्षण शुल्क था। अनुमान है कि शिक्षा पर होने वाले कुल व्यय की 65 प्रतिशत राशि मां-बाप से आती थी और शेष 35 प्रतिशत सरकार देती थी। सरकारी स्रोत से जो पैसा मिलता था उसका बहुत बड़ा हिस्सा प्राथमिक शिक्षा पर व्यय होता था और उच्च शिक्षा में काफी कम पूंजी लगायी जाती थी। छात्रों और अध्यापकों का अनुपात 1971 में बहुत ज्यादा था–57 के मुकाबले एक का–और इस प्रकार लागत को निम्न रखा जाता था। अनिवार्य शिक्षा को 1948 में लागू किया गया और शुरू में इसे छः वर्षों के लिए किया गया था लेकिन बाद में बढ़ाकर नौ वर्ष के लिए कर दिया गया। शिक्षा व्यवस्था को इस तरह निर्देशित किया गया था कि समूची आबादी को न्यूनतम शिक्षा मिल जाये। हाई स्कूल में प्रवेश

के लिए प्रवेश परीक्षाओं की प्रणाली समाप्ति कर दी गयी और इसे विश्व विद्यालय में प्रवेश के लिए ही रखा गया। प्राइमरी और सेकेन्ड्री के अध्यापकों और व्यावसायिक शिक्षा प्रदान करने वालों को प्रशिक्षण देने के लिए राज्य ने काफी पूंजी लगायी। 1961 तक प्राइमरी स्कूल के अध्यापक के लिए केवल हाई स्कूल के स्तर तक सामान्य स्कूली शिक्षा से लैस होना जरूरी माना जाता था। इसके बाद नार्मल स्कूलों को दो वर्ष के जूनियर कालेजों का रूप दे दिया गया। इन स्कूलों के छात्रों के लिए फीस माफ कर दी गयी और पुरुषों को सैनिक सेवा से मुक्ति दे दी गयी बशर्ते वे ग्रेजुएट तक की पढ़ाई पूरी करने के बाद किसी सरकारी प्राथमिक स्कूल में कम से कम दो वर्ष तक अध्यापन के लिए राजी हों।

दक्षिण कोरिया में 1944 में साक्षरता दर 55 प्रतिशत थी जो 1966 तक बढ़कर 70 से 80 प्रतिशत के बीच हो गयी और 1981 तक 93 प्रतिशत हो गयी। इसमें 97.5 प्रतिशत पुरुष और 88 प्रतिशत महिलाएं साक्षर थीं। 1981 तक आजादी का 36 प्रतिशत भाग केवल प्राइमरी स्कूल तक की पढ़ाई पूरी कर सका था, 17 प्रतिशत लोग माध्यमिक स्कूलों और 7 प्रतिशत लोग माध्यमिक स्कूलों से आगे तक की पढ़ाई पूरी कर चुके थे। 25 वर्ष से अधिक आयु की आबादी में से केवल 21 प्रतिशत ऐसे थे जिनके पास कोई औपचारिक शिक्षा नहीं थी और इनमें ज्यादातर लोग बूढ़े थे।

श्रीलंका

निम्न आय वाले देशों में श्रीलंका को प्रायः एक ऐसे देश के उदाहरण के रूपमें सामने रखा जाता है जहां आमतौर पर काफी हद तक समानता है और जन स्तर पर लोगों को बुनियादी शिक्षा उपलब्ध है। श्रीलंका में 1946 में वयस्क साक्षरता दर 58 प्रतिशत थी जो 1984 में बढ़कर 86 प्रतिशत हो गयी। प्राथमिक स्कूलों में जाने वाले आयु वर्ग (5 से 11 वर्ष) के 90 प्रतिशत बच्चे स्कूलों में हैं। 1981 तक लगभग 70 प्रतिशत बच्चों ने 5 वर्षों की अनिवार्य स्कूली शिक्षा पूरी कर ली थी और इनमें से कम से कम तीन चौथाई छात्र निम्न माध्यमिक स्कूलों में भर्ती हो चुके थे। 1970 वाले दशक के मध्य में राष्ट्रीय आय का 4.5 प्रतिशत शिक्षा पर व्यय होता था जो सरकार के कुल बजट का दसवां हिस्सा था। इस राशि का अधिकांश हिस्सा विश्वविद्यालयों की बजाय प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों पर व्यय किया जाता था। 1977 में श्रीलंका की शिक्षा प्रणाली के बारे में ब्रिटिश कौंसिल द्वारा किये गये एक अध्ययन में यह निष्कर्ष निकाला गया कि "सभी कमियों के बावजूद शैक्षणिक प्रणाली के विकास का स्तर संतोषजनक है और माध्यमिक स्कूल व्यवस्था तथा पाठ्यक्रमों में सुधार लाने की दिशा में

उल्लेखनीय उपलब्धि हुई है। जापान के बाद श्रीलंका इस बात का दावा कर सकता है कि वह एशिया के अत्यंत विकसित व्यवस्थाओं में से एक है।"[20]

शिक्षा के क्षेत्र में श्रीलंका की उपलब्धि बहुत महत्वपूर्ण है– ऐसा इसलिए क्योंकि यह दक्षिण एशिया के अन्य देशों से बहुत भिन्न नहीं है और यहां प्रति व्यक्ति आय भी कोई बहुत ज्यादा नहीं है। उपनिवेशवादी व्यवस्था के शुरू होने से पूर्व बौद्ध शासन काल में गांवों और मंदिरों के स्कूलों में बौद्ध धर्म की शिक्षा पर जोर दिया जाता था और चाहे जो भी हो, छात्रों के दाखिले की तादाद सीमित थी। 17वीं और 18वीं शताब्दी में क्रमशः पुर्तगाली और डच शासनकाल में प्रोटेस्टेंट तथा प्रेसबिटेरियन मिशनरियों ने धर्म की शिक्षा के लिए स्कूलों की स्थापना की। 1840 और 1850 के दशक में ब्रिटेन के इवेंजेलिकल्स इस बात पर जोर दिया कि शिक्षा के मामले में राज्य की भूमिका महत्वपूर्ण होनी चाहिए। लेकिन 1870 के दशक के बाद ही जब इंग्लैण्ड में शिक्षा के क्षेत्र में सुधारों की शुरुआत कर दी गयी, स्कूली शिक्षा पर किये जाने वाले सरकारी व्यय में वृद्धि हो सकी। ईसाई मिशनरियों द्वारा संचालित शैक्षणिक संस्थानों पर जबर्दस्त निर्भरता के फलस्वरूप 1868 में जो भी बच्चे स्कूलों में शिक्षा ले रहे थे उनमें से 65 प्रतिशत ईसाई थे और महज 27 प्रतिशत बौद्ध मतावलम्बी थे।[21] उस शताब्दी के समाप्त होते–होते हिंदुओं, बौद्धों और कुछ हद तक मुसलमानों ने स्कूलों की स्थापना में ईसाई मिशनरियों के साथ होड़ लेनी शुरू की। राज्य की सहायता से चलने वाले स्कूलों के विकास में ईसाई मिशनरी स्कूली व्यवस्था के प्रति बौद्धों और हिंदुओं का विरोध भी काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सका। 1920 और 1930 के दशक में सरकार ने जब अनिवार्य शिक्षा लागू करने का फैसला किया तब राज्य द्वारा संचालित स्कूलों में छात्रों की भर्ती में उल्लेखनीय वृद्धि हुई।

इस उपमहाद्वीप के अन्य देशों की ही तरह यहां भी अंग्रेजी माध्यम वाले स्कूलों की व्यवस्था शुरू हुई जो छोटे स्तर पर थी लेकिन जिसमें निजी पूंजी लगने के साथ–साथ सरकार से भी सहायता मिलती थी। यह व्यवस्था सिंहली और तमिल माध्यम वाले स्कूलों के समानांतर थी। जो लोग अंग्रेजी माध्यम वाले माध्यमिक विद्यालयों की पढ़ाई पूरी करते थे, वे आसानी से विश्वविद्यालय में जा सकते थे और सरकारी तथा अन्य नौकरियों में उनके लिए ज्यादा आकर्षक अवसर उपलब्ध थे। इसके विपरीत "स्वभाषा" (राष्ट्रीय भाषा) वाले स्कूलों से शिक्षा प्राप्त किए लोगों के सामने कम अवसर उपलब्ध थे। व्यापक मताधिकार की स्थापना के साथ शिक्षा पर नियंत्रण स्थानीय सरकारों के हाथ में आ गया और इस तरह की शिक्षा विकसित करने का प्रयास किया गया जो ग्रामीण युवकों के लिए प्रासंगिक हो यद्यपि इसमें बहुत कम सफलता मिली।

तो भी आजादी से पूर्व बहुत कम स्कूल ऐसे थे जिनका प्रशासन सरकार द्वारा होता था। 1947 में पारित एक अध्यादेश ने सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों में से शिक्षा शुल्क को समाप्त कर दिया और यह व्यवस्था की गयी कि सरकार द्वारा अनुदान केवल उन्हीं छात्रों को दिया जाएगा जिनके मां-बाप उस धर्म का पालन करते होंगे जो स्कूल के मालिक का धर्म हो। यह एक ऐसी नीति थी जिसका उद्देश्य मिशनरी स्कूलों के विस्तार को रोकना और सरकारी स्कूलों के विस्तार को बढ़ावा देना था। इसका असर भी हुआ। 1956 के चुनावों में श्रीलंका फ्रीडम पार्टी सत्ता में आयी जो बौद्ध धर्म को, सिंहली भाषा को और शहरी आबादी के मुकाबले ग्रामीण आबादी की स्थिति को मजबूत बनाने के लिए प्रतिबद्ध थी। अभी तक पश्चिमी तौर तरीके में पले अंग्रेजी भाषी अभिजात्य वर्ग का ही राजनीति क्षेत्र में दबदबा था। 1960-1961 में बौद्ध मतावलंबियों के दबाव के कारण सरकार ने ऐसे तमाम स्कूलों को अपने अधीन कर लिया जो सरकारी सहायता से चलते थे पर जिन पर निजी स्वामित्व था। अब शिक्षा व्यवस्था पूरी तरह केंद्रीकृत हो गयी और इसे शिक्षा मंत्रालय ने अपने अधीन कर लिया जिसे उसने क्षेत्रीय विभागों के जरिए अमल में लाना शुरू किया। इनमें स्थानीय हिस्सेदारी बहुत सीमित थी।

1950 के दशक के शुरुआती वर्षों में प्राथमिक स्कूलों में भर्ती का काम तेज हुआ और यह स्थिति 1950 के दशक के उत्तरार्ध में माध्यमिक स्कूलों में तथा 1960 के दशक में विश्वविद्यालयों में देखने को मिली। 1946 में प्राथमिक स्कूलों में लोगों की भागीदारी की दर 58 प्रतिशत थी जो 1963 में 74 प्रतिशत हो गयी जबकि माध्यमिक स्कूलों में 1953 में यह 11 प्रतिशत थी जो 1963 में बढ़कर 43 प्रतिशत हो गयी। 1956 में सरकारी प्राथमिक विद्यालयों की संख्या 3,735 थी जो एक दशक बाद बढ़कर 8,409 हो गयी। जबकि सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों की संख्या 2,227 से घटकर 1,053 हो गयी। सिंहली बौद्धों के बीच सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के विकास के साथ शिक्षा संबंधी राजनीति में धर्म और भाषा प्रमुख मुद्दा बन गया। प्रशासन की प्रारंभिक भाषा के रूप में सिंहली को रखा गया। यह एक ऐसा निर्णय था जिसने ग्रामीण युवा सिंहलियों के बीच सरकारी नौकरी के अभियान को और तेज कर दिया। पहले तो अंग्रेजी भाषी अभिजात्यवर्ग और राष्ट्रीय भाषाओं में शिक्षा प्राप्त लोगों के बीच संघर्ष चलता था लेकिन अब यह संघर्ष तमिल और सिंहली भाषा भाषियों के बीच हो गया। सिंहलियों के लिए शिक्षा व्यवस्था पर नियंत्रण रखना जरूरी था। क्योंकि इससे वे अपनी सांस्कृतिक-राष्ट्रवादी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति कर सकते थे और साथ ही सरकारी नौकरियों, विभिन्न पेशों और अर्थव्यवस्था के आधुनिक क्षेत्रों में, जहां तमिल भाषियों को श्रेष्ठता हासिल थी, वे बराबरी

का दर्जा पा सकते थे।

दक्षिण कोरिया और ताइवान के विपरीत श्रीलंका में आर्थिक विकास की दर काफी धीमी थी जिसका नतीजा यह होता गया कि माध्यमिक स्कूलों से निकले स्नातकों के लिए नौकरी पाना कठिन था। शिक्षा के स्तर और रोजगार के स्तर में उल्टा संबंध कायम हो गया था और यह देखा जाता था कि जिनके पास केवल प्राथमिक स्कूली शिक्षा है उनमें बेरोजगारी सबसे कम है जबकि माध्यमिक स्कूलों के डिप्लोमाधारियों और विश्वविद्यालय के डिग्रीधारियों के बीच बेरोजगारी सबसे ज्यादा है। औद्योगिक विकास की रफ्तार इतनी धीमी थी कि नौकरी की तलाश करने वाले नौजवानों का उल्लेखनीय हिस्सा खपाया नहीं जा सकता था। गांव में रहने वाले शिक्षित और बेरोजगार सिंहली बुद्धिजीवियों तथा पश्चिमी रंग-ढंग में सने अभिजात्य वर्ग के बीच और साथ ही आर्थिक दृष्टि से संपन्न श्रीलंका के तमिलों के बीच कटुता का वातावरण पैदा हो गया था। जैसे ही शिक्षा व्यवस्था और सरकारी नौकरियों पर सिंहलियों का नियंत्रण हुआ, तमिल युवकों में बेचैनी छा गयी। इस प्रकार ताइवान और दक्षिण कोरिया में तथा शुरू के दिनों में जापान, अमरीका और पश्चिमी यूरोप में सामाजिक रूपांतरण के काम में शिक्षा ने जो भूमिका निभाई थी वह श्रीलंका में पूरी तरह से ओझल नजर आ रही थी। यह सारा कुछ इस सबके बावजूद था कि शिक्षा व्यवस्था को विस्तार देने में सरकार को असाधारण सफलता मिली थी। तो भी चूंकि आबादी का और खासतौर से युवकों का एक बहुत बड़ा हिस्सा श्रमिक बनने से परहेज करता था इसलिए प्राथमिक और माध्यमिक स्कूली शिक्षा की मांग काफी बनी रही।

1946 से 1963 के आंकड़ों को अगर देखें तो हम पायेंगे कि 10 से 14 वर्ष के आयु वर्ग के बच्चों के मजदूर बनने की संख्या में गिरावट आयी है। और यह स्कूलों में प्रवेश लेने वाले छात्रों की संख्या में हुई वृद्धि के कारण था। इस आयु वर्ग के बच्चों के रोजगार दर में काफी गिरावट आयी-1946 में यह 13 प्रतिशत थी जो कम होकर 1963 में 6.2 प्रतिशत हो गयी। 1971 आते-आते स्कूली दाखिले में और भी ज्यादा वृद्धि के साथ कामकाजी बच्चों की संख्या में पांच प्रतिशत की गिरावट आयी।[22] इन सबके बावजूद काफी बच्चे अभी भी प्राइमरी स्कूली शिक्षा व्यवस्था से अलग पड़े थे। इनमें खासतौर से उन तमिलों के बच्चे शामिल थे जो चाय बागानों में काम करते थे। 1970 के दशक के आखिरी वर्षों में किये गये अध्ययनों से पता चलता है कि छह से नौ वर्ष के आयु वर्ग के 41 प्रतिशत बच्चे (जो चाय बागानों में काम करते थे) स्कूलों में भर्ती नहीं हुए। इनमें लड़कियों की संख्या और भी ज्यादा थीं फिर भी 1977 के बाद जब सरकार ने चाय बागानों में स्कूल

चलाने की जिम्मेदारी अपने हाथों में ली, छात्रों के दाखिले की दर में उल्लेखनीय वृद्धि हुई।

निम्न आय वाले अन्य देशों की तरह ही श्रीलंका में भी शिक्षा के क्षेत्र में अनेक समस्याएं रही हैं। मसलन प्राइमरी स्कूल व्यवस्था का घटिया स्तर, प्राइमरी स्कूलों में बीच में पढ़ाई छोड़ने वाले छात्रों की बढ़ती संख्या और स्कूलों के बीच भारी असमानता। तो भी निम्न आय वाले अन्य देशों के साथ अगर तुलना करें तो हम पाते हैं कि श्रीलंका के स्कूलों में छात्रों के दाखिला लेने और पढ़ाई पूरी करने तक वहां बने रहने की दर अपेक्षाकृत काफी है और इसी के अनुरूप बाल श्रमिकों की संख्या में गिरावट आयी है।

केरल

भारत सरकार के 1971 के नेशनल सैम्पुल सर्वे में बताया गया है कि केरल में मजदूरी करने वाले बच्चों की दर 1.9 प्रतिशत है जबकि यह दर अखिल भारतीय स्तर पर 7.1 प्रतिशत पायी जाती है। केरल में 6 से 11 वर्ष की आयु वर्ग के लगभग सभी बच्चे स्कूलों में पढ़ाई करते हैं। 11 से 14 वर्ष के आयु वर्ग के 88 प्रतिशत बच्चे केरल में स्कूलों में हैं, जबकि समूचे भारत के मामले में यह आंकड़ा 38 प्रतिशत का है।[23] लेकिन संभवतः सबसे ज्यादा प्रभावशाली आंकड़ा प्राथमिक स्कूलों में पढ़ाई पूरी करने तक बच्चों के बने रहने की दर से संबंधित है। 1975 में एक सर्वेक्षण के दौरान राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद ने बताया था कि केरल में प्राइमरी स्कूलों में प्रवेश लेने वाले छात्रों में से 82 प्रतिशत छात्र पांचवीं कक्षा तक अपनी पढ़ाई पूरी कर सके जबकि शेष भारत में यह दर केवल 26 प्रतिशत रही है। स्कूलों में बने रहने की यह उच्च दर ही केरल में साक्षरता दर के इतने शानदार होने का कारण है। 1981 के आंकड़ों को देखें तो केरल में उस समय 70.4 प्रतिशत साक्षरता दर थी जो राष्ट्रीय औसत से लगभग दोगुनी थी।

बच्चों से संबंधित दो अन्य बातें भी केरल को शेष भारत से अलग करती हैं। केरल में समूचे देश के मुकाबले बाल मृत्यु दर आधा है। प्रति एक हजार में 61। केरल में जन्म दर भी काफी कम है–प्रति हजार में 25.2, जबकि समूचे भारत के लिए यह दर प्रति हजार में 33.2 है। जनसंख्या से संबंधित मामलों के विशेषज्ञों का कहना है कि बाल मृत्यु दर और जन्म दर के कम होने तथा साक्षरता दर– खासतौर से महिलाओं में–के बढ़ने के बीच घनिष्ठ संबंध है।[24]

केरल सरकार भारत के किसी भी राज्य की सरकार के मुकाबले शिक्षा पर ज्यादा पैसा खर्च करती है– प्रति व्यक्ति 64 रु. जबकि अन्य राज्यों में

यह दर प्रति व्यक्ति 33 रुपये है। काफी पहले 1960–61 में भी केरल राज्य के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का 3.6 प्रतिशत अर्थात राज्य के राजस्व का 35 प्रतिशत शिक्षा पर खर्च करता था जबकि पश्चिम बंगाल (उच्चतर जीडीपी और उच्चतर प्रति व्यक्ति आय वाला राज्य) द्वारा शिक्षा पर खर्च की जाने वाली यह राशि क्रमशः 2.1 प्रतिशत और 19 प्रतिशत थी। केरल में उन दिनों शिक्षा पर प्रति व्यक्ति व्यय 11.5 रुपये था जबकि समूचे देश के स्तर पर इसका औसत महज 7.8 रुपये था। बिहार में यह केवल 4.9 रुपये, उड़ीसा में 4.3 रुपये और उत्तर प्रदेश में 5.4 रुपये था। स्कूलों में बच्चों के दाखिले को कई बातें प्रभावित करती हैं। मसलन स्कूल की दूरी, अध्यापकों की संख्या, खेल सुविधाओं की उपलब्धता और स्कूलों में दोपहर के भोजन की व्यवस्था। यह सारी बातें प्राइमरी स्कूलों के लिए शिक्षा संबंधी बजट के परिमाण पर निर्भर करती हैं। केरल में लगभग सभी मामलों में शिक्षा संबंधी बजट में उचित प्रावधान रखा जाता है। चाहे स्कूलों के अध्यापकों के वेतन का मामला हो अथवा प्रत्येक छात्र पर खर्च किये जाने वाले पैसे का संबंध हो या समग्र रूप से प्रत्येक छात्र पर प्राथमिक शिक्षा के लिए धनराशि की बात हो, केरल में हमेशा अन्य राज्यों के मुकाबले एक भिन्नता देखने में आयी। यहां अन्य राज्यों के मुकाबले ऐसे स्कूलों की संख्या बहुत कम है जहां केवल एक अध्यापक से काम चलाया जाता हो। अन्य राज्यों के मुकाबले केरल ने शिक्षा संबंधी अपने संसाधनों का इस्तेमाल कालेजों और विश्वविद्यालयों की बजाय जनशिक्षा पर ज्यादा किया है। केवल एक मामले में केरल अन्य राज्यों से पीछे रहा और वह है प्राइमरी स्कूलों के छात्रों और अध्यापकों का अनुपात। इसकी वजह यह है कि सभी बच्चों को शिक्षा प्रदान करने के अपने प्रयास में राज्य सरकार ने अध्यापकों के लिए दोहरी पारी वाली प्रणाली अपनायी और इस प्रणाली में जैसे–जैसे कोष की व्यवस्था होती गयी, कमी आती गयी। (ध्यान देने की बात है कि दक्षिण कोरिया में भी छात्र–अध्यापक अनुपात उच्च रहा है)।

शिक्षा के क्षेत्र में केरल में जो उल्लेखनीय विकास हुआ इसके सूत्र हमें 19वीं शताब्दी में मिल सकते हैं। उन दिनों मिशनरियों ने और त्रावणकोर तथा कोचीन रियासतों की सरकारों ने काफी प्रयास किया था।[25] 19वीं शताब्दी के शुरू के दिनों में पुर्तगाल की कैथोलिक मिशनरियों ने तथा ग्रेट ब्रिटेन के एंग्लीकन मिशनरियों ने केरल में प्रथम आधुनिक स्कूलों की स्थापना की। चूंकि यहां देशज सीरियन क्रिश्चियन समुदाय के लोग मौजूद थे, इसलिए मिशनरियां तेजी से आकर्षित हुईं। यहां के नायर जाति के लोगों ने जब देखा कि ईसाई मिशनरियां मलयालम की शिक्षा देने के लिए स्कूलों की स्थापना कर रही हैं ताकि वे राज्य में ईसाई धर्म का प्रचार कर

सकें और इससे शेष भारत को प्रभावित कर सकें तो उन्होंने भी अपने स्कूलों और कालेजों की स्थापना का काम तेजी से शुरू किया। उन दिनों त्रावणकोर और कोचीन रियासतों के शासक हिंदू महाराजा थे और इन्होंने निजी स्कूलों को भारी अनुदान दिया। इन अनुदानों के साथ–साथ उन्होंने इन स्कूलों की देखभाल की, पाठ्यक्रमों को तैयार कराया और समान परीक्षा प्रणाली विकसित की। 1860 के दशक में (खासतौर से त्रावणकोर में टी माधव राव की दीवानशाही के अंतर्गत) आधुनिक जनशिक्षा की शुरूआत हुई और सरकार ने इस बात पर जोर दिया कि जिन चर्चों को सरकारी सहायता प्राप्त है उनके अधीन चलने वाले स्कूल सबके लिए सुलभ होने चाहिए। केरल में इझावा नामक एक पिछड़ी जाति का अस्तित्व था जिसके सदस्य जूट, चाय और काफी बागानों में काम करते थे। इन्हें स्कूली व्यवस्था के अंतर्गत लाया गया तथा इस बात के लिए प्रेरित किया गया कि वे अपने स्कूलों की स्थापना करें। 1903 में इझावा समुदाय के लोगों ने "श्री नारायण धर्म परिपालन योगम" नामक एक सामाजिक धार्मिक सुधार संगठन की स्थापना की। इसी प्रकार नायर समुदाय के लोगों ने शिक्षा संबंधी अपनी गतिविधियों को समन्वित करने के लिए 1924 में "नायर सर्विस सोसायटी" का गठन किया।

शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रतियोगिता शुरू हुई वह अब केवल ईसाइयों और हिंदुओं के बीच ही सीमित नहीं थी बल्कि हिंदुओं में विभिन्न जातियों के बीच भी अब यह चलने लगी। राज्य की नौकरशाही में अच्छे पदों पर स्थापित होने के लिए शैक्षणिक योग्यता महत्वपूर्ण हो गयी और इस प्रकार बड़ी तेजी से शिक्षा का प्रसार हुआ। नायर, सीरियन ईसाई और इझावा समुदाय के लोग अब उस व्यवस्था को तोड़ने के लिए बेचैन हो गए जिसे वे ब्राह्मणों के प्रभुत्व वाली नौकरशाही मानते थे। 1904 में सरकार ने निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा का ऐलान किया और समूचे राज्य में प्राइमरी स्कूलों की स्थापना का संकल्प किया। आज राज्य में तमाम सरकारी अथवा सरकार द्वारा सहायता प्राप्त प्राइवेट स्कूल हैं और इनमें नायर सर्विस सोसायटी, मुस्लिम एजूकेशनल सोसायटी, कैथोलिक चर्च, विभिन्न प्रोटेस्टेंट संगठनों और यहां तक कि निजी व्यापारियों द्वारा संचालित स्कूल शामिल हैं। 1978–79 में निजी क्षेत्रों के अधीन 59 प्रतिशत निम्न प्राथमिक स्कूल, 68 प्रतिशत उच्च प्राथमिक स्कूल और 65 प्रतिशत हाई स्कूल कार्यरत थे।[26] स्कूल जाने वाले बच्चों में से आधे से अधिक बच्चे सरकार द्वारा सहायता प्राप्त अथवा निजी स्वतंत्र स्कूलों में शिक्षा ग्रहण करते हैं।

मिशनरियों द्वारा चलाये जा रहे स्कूलों ने खासतौर से महिलाओं, निम्न जातियों, और तकनीकी शिक्षा पर जोर दिया। लेकिन मुख्य रूप से केरल में

आमतौर पर व्यावसायिक प्रशिक्षण के मुकाबले शैक्षणिक स्कूलों की मांग बनी रही। अभी भी यहां की शिक्षा व्यवस्था न केवल सफेदपोश नौकरियों के योग्य युवकों को तैयार करती है बल्कि इसकी मदद से बढ़ईगीरी, भवन निर्माण, इलेक्ट्रीशियन तथा अन्य कुशल कामगारों को भी प्रशिक्षण मिलता है। इनमें से कुछ को जूनियर टैक्नीकल स्कूलों में प्रशिक्षण दिया जाता है हालांकि अनेक लोग अभी भी स्कूली व्यवस्था से अलग रहकर अप्रेंटिसशिप के जरिए प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। केरल में आज भी जो मजदूर पाये जाते हैं उनकी क्वालिटी बहुत श्रेष्ठ होती है। चूंकि राज्य का औद्योगिक विकास राष्ट्रीय औसत से काफी कम है इसलिए उनको यहां रोजगार पाने में काफी कठिनाई होती है और यही वजह है कि शिक्षित तथा कुशल मलयाली भारत के अन्य राज्यों में तथा विदेशों में, खासतौर से खाड़ी के देशों में, नौकरियां करते हैं।

यद्यपि केरल में बाल मजदूरी की घटनाओं में कमी आयी है लेकिन यह पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है। चूंकि यह देखा गया है कि पांचवी कक्षा के बाद बीच में पढ़ाई छोड़ देने वाले बच्चों की संख्या 18 प्रतिशत है, 12 से 13 वर्ष की उम्र के बच्चे काम धंधों में लग जाते हैं। इनमें से कई मोटर गाड़ियों के वर्कशापों में, कई बिजली का काम करने में और अन्य भवन निर्माण से संबधित कार्यों में लग जाते हैं। लेकिन आमतौर से ये बच्चे भी साक्षर होते हैं और जिस तरह का काम इन्हें मिलता है तथा जितनी मजदूरी ये प्राप्त करते हैं वह भारत के अन्य हिस्सों के मुकाबले बेहतर होती है। केरल सरकार ने बाल मजदूरी को समाप्त करने की दिशा में कोई विशेष प्रयास नहीं किया है। अगर वहां बाल मजदूरी की घटनाओं में कमी दिखाई देती है तो यह श्रम संबंधी कानूनों को लागू करने के कारण नहीं बल्कि शिक्षा के विस्तार के कारण है।

भारत के लिए इसकी प्रासंगिकता

अन्य विकासशील देशों के साथ तुलना करने से पता चलता है कि शिक्षा के प्रसार के मामले में भारत कितना पीछे है। स्कूल में दाखिले की बात हो अथवा पढ़ाई पूरी करने तक छात्रों के बने रहने का मामला हो या वयस्क साक्षरता दर का सवाल हो– भारत हर दृष्टि से पीछे है।

ऊपर जिन देशों की चर्चा की गयी है, वहां प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में धार्मिक और राजनीतिक दोनों तरह की विचारधाराओं ने एक भूमिका निभाई। श्रीलंका और केरल में जनशिक्षा की लोकप्रिय मांग के तेज होने तथा राज्य द्वारा इस मांग के जवाब में कदम उठाने के मामले में ईसाई मिशनरियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारत में अन्य स्थानों में ईसाई मिशनरियों ने भारत के उत्तर पूर्वी राज्यों नागालैंड और मिजोरम में तथा दक्षिण पश्चिमी राज्य गोवा में, जहां ईसाई आबादी काफी थी, जनशिक्षा के

विकास में काफी योगदान किया। एशिया में जहां तक अन्य देशों की बात है इन मिशनरियों का शिक्षा संबंधी काम फिलीपीन्स में बहुत महत्वपूर्ण था और कुछ हद तक दक्षिण कोरिया ताईवान, वियतनाम और चीन के कुछ हिस्सों में इनका काम उल्लेखनीय रहा।

यहां वर्णित कन्फ्यूशियस समाजों में– समाजवादी चीन, ताईवान और दक्षिण कोरिया (साथ में सिंगापुर) में इन देशों की सरकारों ने प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों को ऐसे विचारों और मूल्यों के प्रचार के लिए अनिवार्य समझा जिनमें राज्य की सत्ता और राष्ट्र के प्रति निष्ठा के साथ–साथ राष्ट्रीय विकास की भावना पर जोर दिया गया हो।

स्कूलों की सफलता की दर आंशिक तौर पर इस बात पर निर्भर करती है कि मां-बाप को शिक्षा की जरूरत के प्रति कितना प्रेरित किया गया है। इसके अलावा अध्यापकों के प्रशिक्षण पर जितना ही ध्यान दिया जायेगा उतना ही स्कूलों की क्वालिटी बेहतर होगी। इन बातों के साथ स्कूलों को स्थानीय अधिकारियों के प्रति जवाबदेह भी होना चाहिए। स्कूलों को प्रासंगिक बनाना महत्वपूर्ण है यद्यपि व्यावसायिक प्रशिक्षण को उच्च प्राथमिक अथवा माध्यमिक स्कूल से पूर्व नहीं शुरू किया जाता है। स्कूलों की संख्या बढ़ाकर ही शिक्षा के प्रति और शिक्षा तक लोगों की पहुंच ज्यादा हो सकी है जो प्रायः स्थानीय समुदायों के वित्तीय एवं शारीरिक योगदान से संभव हुआ। शिक्षा शुल्क समाप्त करके और कुछ ऐसे कार्यक्रमों के जरिये घर की लड़कियों को छोटे शिशुओं की देखभाल से मुक्त करके वह स्थिति पैदा की जा सकती है जिसमें लड़कियां स्कूल जा सकें। (रोजगार के स्थानों में बच्चों के रखरखाव के लिए "क्रेच" की स्थापना और छोटे शिशुओं के लिए स्कूलों में दिन में देखभाल की सुविधाएं आदि)।

ऊपर जिन चार देशों का उदाहरण दिया गया है उनमें शिक्षा के प्रसार में अनिवार्य शिक्षा की एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है हालांकि इसे हमेशा कारगर ढंग से लागू नहीं किया गया। कुछ अन्य विकासशील देशों ने शिक्षा को अनिवार्य बनाया (इसमें इंडोनेशिया प्रमुख है) जबकि अन्य देशों ने प्राथमिक स्कूली शिक्षा को सबको सुलभ बनाने की नीति को बड़ी गर्मजोशी के साथ स्वीकार किया और इसे लागू किया तथा इन देशों में स्कूलों में छात्रों के बने रहने की उच्च दर भी बनी रही (खासतौर से अल्जीरिया, केन्या, तंजानियां, बोत्स्वाना, जांबिया, मलेशिया, फिलीपीन्स, थाईलैण्ड और टर्की)

अंत में इन चारों देशों, केरल तथा अन्य देशों में जहां स्कूलों में दाखिले का उच्च स्तर तथा इसी के साथ बाल मजदूरी का निम्न स्तर हासिल किया गया है, प्राथमिक स्कूल की शिक्षा के लिए कोष की अच्छी खासी व्यवस्था की गयी जो कभी कभी तो शिक्षा पर भारत में होने वाले व्यय

से ज्यादा थी लेकिन प्रायः यह देखा गया कि शिक्षा संबंधी बजट का प्रमुख अंश प्राथमिक स्कूल की शिक्षा के लिए निर्धारित किया गया।

टिप्पणियां

1. भारत की शिक्षा नीति पर टिप्पणी करते हुए अमरीक सिंह लिखते हैं, "इस बात पर सभी अर्थशास्त्री एकमत नहीं हैं कि क्या किया जाना चाहिए। वे दुनिया के विभिन्न माडलों–यूरोपीय,अमरीकी, जापानी, पूर्वी एशियाई और ढेर सारे मॉडल देखते हैं और समझ नहीं पाते हैं कि इनमें से कौन सा मॉडल भारत के लिए सही है। सच्चाई यह है कि इनमें से कोई भी मॉडल भारत पर लागू नहीं होता। भारत इन सब मॉडलों से अलग है क्योंकि हमारी आबादी इतनी विशाल है कि विकास संबंधी जो भी प्रयास इन मॉडलों के आधार पर किए जाते हैं महज यहां की आबादी के कारण ही वे विफल हो जाते हैं।" (अमरीक सिंह, "न्यू पालिसी ऑन एजुकेशन : टू इयर्स लैटर, *इकोनामिक ऐंड पोलिटिकल वीकली*, नवंबर, 1989, पृ. 2484। भारतीय शिक्षा की अन्य विकासशील देशों के साथ तुलना की आलोचना के लिए देखें विश्व बैंक का लेख- *एचिविंग ऐंड सस्टेनिंग यूनिवर्सल प्राइमरी एजुकेशन : ए स्टडी ऑफ इंटरनेशनल एक्सीपिरियेंस रेलिवेंट टु इंडिया* इंडिया पापुलेशन ह्यूमन रिसोर्सेज डिवीजन (वाशिंगटन डीसी: द वर्ल्ड बैंक, 1988)। अन्य तुलनात्मक अध्ययनों के लिए इन्हें भी देखें– हार्वर्ड इंस्टीट्यूट फार इन्टरनेशनल डेवलपमेंट और हार्वर्ड स्कूल ऑफ एजुकेशन द्वारा प्रकाशित "बृजेज ऑर बेसिक रिसर्च ऐंड इम्प्लीमेंटेशंस इन डेवलपिंग एजुकेशन सिस्टम"। खासतौर से मुन सी त्सांग की पुस्तक *कास्ट एनलसिस फार एजुकेशनल पालिसी मेकिंग ए रिव्यू ऑफ कास्ट स्टडीज इन एजुकेशन इन डेवलपिंग कंट्रीज*, बृजेज रिसर्च रिपोर्ट सीरीज नं. 3 अक्टूबर 1988 और थामस ओवेन आइसमन लिखित" द कांसीक्वेंसेज आफ स्कूलिंग : ए रिव्यू ऑफ रिसर्च ऑन द आउटकम्स ऑफ प्राइमरी स्कूलिंग इन डेवलपिंग कंट्रीज," (ब्रिजेज एजुकेशन डिपार्टमेंट डिस्कशन पेपर नं. 3 सितंबर 1988)।
2. जान स्टुवर्ट मिल द्वारा विकसित "अंतर की पद्धति" के अंतर्गत दो अथवा दो से अधिक ऐसे देशों के बीच तुलना करने का प्रयास किया जाता है जिनमें एक को छोड़कर सभी "आदतें, आचार व्यवहार, मत, कानून और संस्थाएं हर दृष्टि से समान हों" लेकिन इसके लिए निर्धारित मानक इतने कठिन हैं कि तुलनात्मक विश्लेषण लगभग असंभव हो जाता है। देखें जान स्टुवर्ट मिल का *लाजिक* जिसे डेनिस थामसन ने अपनी पुस्तक–*जान स्टुवर्ट मिल ऐंड रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेंट* (प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, 1976) में पृ. 22 पर उद्धृत किया है।
3. *रिपोर्ट ऑफ द डायरेक्टर जनरल टु द इंटरनेशनल लेबर कान्फ्रेंस*, 69वां अधिवेशन, जेनेवा, 1983, पृ. 7।
4. आंद्रे जी कोमेनान, *वर्ल्ड एजुकेशन इंडीकेटर्स,: एन एनेक्स टू इम्प्रूविंग द एफिसियेंसी ऑफ एजुकेशन इन डेवलपिंग कंट्रीज*, (वाशिंगटन डी.सी : रिसर्च

डिवीजन, एजुकेशन एंड ट्रेनिंग डिपार्टमेंट, वर्ल्ड बैंक : 1987)

5. यूनेस्को, *लिटरेसी ऐंड इललिटरेसी*, एजुकेशनल स्टडीज ऐंड डाक्यूमेंट नं. 42 पेरिस,यूनेस्को 1982 पृ. 10, यूनेस्को के इस अध्ययन में बताया गया है कि समूचे विश्व में वयस्क (15 वर्ष और इससे अधिक की आयु) साक्षरता 1970 में 74 करोड़ 20 लाख थी जो 1980 में 81 करोड़ 40 लाख हो गयी और आशा है कि 1990 में यह बढ़कर 88 करोड़ 30 लाख तक पहुंच जाएगी। यद्यपि समूची दुनिया में निरक्षरता का प्रतिशत 32.4 से घट कर 28.9 प्रतिशत हो गया है और उम्मीद है कि 1990 तक यह 25.7 प्रतिशत हो जाएगा। (पृ.7)। (इन आंकड़ों में चीन, उत्तर कोरिया और वियतनाम को शामिल नहीं किया गया है) विकासशील देशों में तेजी से साक्षरता में वृद्धि के लिए चलाए जा रहे कार्यक्रमों के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि के लिए देखें फिलिप एच.कूम्बस की पुस्तक *द वर्ल्ड क्राइसिस इन एजुकेशनः द व्यू फ्राम द एटीज* (न्यूयार्कः आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1985,
6. *इंडिया 1985* (नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण, भारत सरकार, 1986 (पृ. 67)
7. विश्व बैंक, *चाइनाःसोशलिस्ट इकोनामिक डेवलपमेंट*, खंड–3ः *द सोशल इंडीकेटर्स* (वाशिंगटन डी.सी.: वर्ल्ड बैंक, 1983)
8. *फाइनेंसिंग एजुकेशन इन डेवलपिंग कंट्रीज,: ऐन एक्सप्लोरेशन ऑफ पालिसी आपसंश* (वाशिंगटन डी.सी.: वर्ल्ड बैंक, 1986) इस संदर्भ में अकलिलु हापते, जार्ज सकारोपुल्स और स्टीफेन पी. हेनमन की पुस्तक *एजुकेशन एंड डेवलपमेंट,: व्यूज फ्राम द वर्ल्ड बैंक* वाशिंगटन डी.सी.: वर्ल्ड बैंक, 1983 तथा वर्ल्ड बैंक द्वारा प्रकाशित पुस्तक *एजुकेशनः सेक्टर पालिसी पेपर्स* भी देखें।
9. खास बात यह है कि क्रांति के बाद जो कम्युनिस्ट सत्ता में आए उन्होंने वयस्कों में निरक्षरता को कम करने के लिए व्यापक पैमाने पर राष्ट्रीय अभियान चलाया। जिन पर अपेक्षाकृत ज्यादा प्रभाव था वे प्राइमरी स्कूली शिक्षा के उल्लेखनीय विस्तार के काम से जुड़े रहे। देखें एच.एच. भोला, *कम्पेनिंग फार लिटरेसी* (पेरिसः यूनेस्को, 1984), अध्याय 4 और 6। चार्ल्स डब्ल्यू. हेफोर्ड," लिटरेसी मूवमेंट इन माडर्न चाइना" और बेन एक्लाफ, "रशियन लिटरेसी कम्पेंस, 1861–1939, राबर्ट एफ आर्नोफ और हार्वे जे. ग्राफ द्वारा संपादित *नेशनल लिटरेसी कैम्पेन्सः हिस्टारिकल ऐंड कम्परेटिव पर्सपेक्टिव* (न्यूयार्क, प्लेनम प्रेस, 1987), वैलेरी मिलर, *बिट्वीन स्ट्रगल ऐंड होप : द निकारागुआ लिटरेसी क्रूसेड* (बोल्डर, कोलोः वेस्ट व्यू प्रेस 1985)। क्रांतिपूर्व के रूस में साक्षरता के प्रसार के बारे में जानने के लिए देखें जेफरी बुक्स की पुस्तक *व्हेन रशिया लर्न्ड टू रीडः लिटरेसी ऐंड पापुलर लिटरेचर, 1861–1917* (प्रिंसटनः प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1985)
10. नार्टन गींसबर्ग और बर्नाल्ड ए लेबर द्वारा संपादित पुस्तक *चाइनाः द नाइनटिन एटीज एरा* (बोल्डर, कोलोः वेस्ट व्यू प्रेस, 1984) में पृ. 249 पर सूसन सर्क का लेख "द इवोल्यूशन आफ चाइनिज एजुकेशनः स्ट्रेटीफिकेशन एंड मेरीटोक्रेसी

इन द एटीज"। सुसन एल सर्क का लेख "एजुकेशनल रिफार्म्स ऐंड पालिटिकल बैक लैसः रिसेंट चेंजेज इन चाइनीज एजुकेशनल पालिसी," *कम्परेटिव एजुकेशन रिव्यू 23* सं. 2 (1979) पृ. 183–217 भी देखें। चीन में हाल के वर्षों में शिक्षा के विकास की समीक्षा के लिए देखें वर्ल्ड बैंक का प्रकाशन" *चाइनाः सोशलिस्ट एकोनामिक डेवलपमेंट खंड–3ः द सोशल इंडीकेटर्स* (वाशिंगटन डी.सी., 1983), और सुजान पेपर का "चाइनीज एजुकेशन आफ्टर माओः टू स्टेप फारवर्ड, टू स्टेप्स बैक एंड बिगिन अगेन" चाइना क्वार्टरली, सं. 81 (मार्च, 1980), पृ. 1–65। चीनी शिक्षा पर विदेशी प्रभावों के अध्ययन के लिए देखें रुथ हेहो और मेरियन बास्ट द्वारा संपादित *चाइनाज एजुकेशन ऐंड द इंडस्ट्रलाइज्ड वर्ल्ड* (आरमांक, न्यूयार्कः एमई.शार्प, 1987)

11. शैली बोर्थविक, *एजुकेशन ऐंड सोशल चेंज इन चाइनाः द बिगिनिंग ऑफ द माडर्न एरा।* (स्टैनफोर्ड, कैलिफोर्नियाः हूवर इंस्टीट्यूशन प्रेस, 1988) पृ. 1
12. वू मिंग, "डिफरेंसिएट बिटवीन यूनिवर्सल ऐंड कंपल्सरी एजुकेशन," *एफ.बी. आई.एस. चीन* (2 जून, 1989), पृ. 28। इस लेख पर ध्यान दिलाने के लिए मैं सुसन सर्क के प्रति आभारी हूं।
13. "प्राइमरी स्कूल एजुकेशन फार गर्ल्स," *वीमेन ऑफ चाइना* (मार्च, 1989 पृ 6)
14. वू मिंग, "डिफरेंसिएट बिटवीन यूनिवर्सल ऐंड कंपल्सरी एजुकेशन" पृ. 29–30
15. पी. पैट्रिशिया सुरुमि, *जैपेनीज कोलोनियल एजुकेशन इन ताइवान, 1893–1945* (कैम्ब्रिजः हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1977) पृ. 224
16. आर. मरे थॉमस और टी. नेवली पोस्टलिथवे द्वारा संपादित *स्कूलिंग इन ईस्ट एशिया* (आक्सफोर्डः परगनामन प्रेस, 1983) पृ. 106
17. मैं इंस्टीट्यूट ऑफ एथनालाजी एकेडेमिया सिनिका, ताइपेई के प्रो. माइकल शियाओ का आभारी हूं कि उन्होंने "कम्पल्सरी स्कूल अटेंडेंस रेगुलेशन" की एक प्रति मुझे प्रदान की।
18. थॉमस और पोस्टल थ्वाट द्वारा संपादित *स्कूलिंग इन ईस्ट एशिया*, पृ. 131
19. दक्षिण कोरिया में शिक्षा के क्षेत्र में हुए विकास के लिए देखें थॉमस और पोस्टल थ्वाट द्वारा संपादित *स्कूलिंग इन ईस्ट एशिया*, रेमन एच. मायर्स और मार्क आर पी.टी. द्वारा संपादित *द जैपेनिज कोलोनियल इम्पायर, 1895–1945* (प्रिंसटनः प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984), विशेष तौर पर ई. पैट्रीशिया सुरुमी, "कोलोनियल एजुकेशन इन कोरिया ऐंड ताइवान" और माइकल ई. राबिंसन, "कोलोनियल पब्लिकेशन पालिसी ऐंड द कोरियन नेशनलिस्ट मूवमेंट" भी देखें।
20. द ब्रिटिश कौंसिल, *एजुकेशन प्रोफाइलः श्रीलंका* (कोलम्बो,: द ब्रिटिश कौंसिल, 1977) पृ. 29
21. के.एम. डिसिल्वा द्वारा संपादित *श्रीलंका : ए सर्वे* (लंदन : सी. हर्स्ट, 1977) पृ. 405 पर सी.आर. डिसिल्वा का लेख "एजुकेशन"। आजादी से पूर्व के सिलोन और श्रीलंका में शिक्षा के क्षेत्र में हुए विकास के इतिहास की जानकारी के लिए देखें स्वर्ण जयबीरा कृत "एजुकेशन ऐंड सोशियो इकोनामिक डेवलपमेंट

इन श्रीलंका'', *कम्परेटिव एजुकेशन सेंटर रिसर्च सीरीज 1975–76*, सं.3 (कॉलेज पार्क, एम.डी.: कम्परेटिव एजुकेशन सेंटर, कालेज ऑफ एजुकेशन, यूनिवर्सिटी ऑफ मेरी लैंड, 1976), *एजुकेशन: ए सेंटेनरी वाल्यूम* तीन खंड (कोलम्बो: डिपार्टमेंट ऑफ एजुकेशन, गवर्नमेंट ऑफ श्रीलंका, 1967), जे.ई. जयसूरिया, *एजुकेशन इन सिलोन बिफोर ऐंड आफ्टर इनडिपेंडेंस, 1939–1968* (कोलम्बो: एसोसिएटेड एजुकेशनल पब्लिसर्स, 1969), डी.पी. विजेगुनशेखर, *एक्स्टर्नल रिसोर्सेज फार डेवलपमेंट ऑफ एजुकेशन इन श्रीलंका* (पेरिस: इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट फार एजुकेशनल प्लानिंग, 1974); ओ. एंगकिस्ट, एल. जीवन और के. नाइस्टम, *एजुकेशन ऐंड ट्रेनिंग इन श्रीलंका: ए सेक्टर एनालिसिस: एजुकेशनल ऐंड साइक्लोजिकल इंटरेक्शंस* (मैलकोव, स्वीडन: स्कूल ऑफ एजुकेशन, 1982); स्वर्ण जयवीरा, ''एजुकेशन'' जो फर्नांडो एस. और राबर्ट कर्ने द्वारा संपादित *माडर्न श्रीलंका इन ट्रांजिशन* (सिराक्यूस: सिराक्यूस यूनिवर्सिटी प्रेस, 1978) में संकलित है।

22. स्वर्ण जयवीरा, ''एजुकेशनल अपारचुनिटि ऐंड द स्कूल पापुलेशन इन श्रीलंका,'' *श्रीलंका जरनल ऑफ सोशल साइंसेज*, (1979), पृ. 32। इसमें आंकड़े 1971 की जनगणना से लिए गए हैं।
23. शिक्षा और समाज कल्याण मंत्रालय, *एनरोलमेंट ट्रेंड्स इन स्टेट्स, 1968–69, 1978–79*, (नई दिल्ली: भारत सरकार, 1979), आंकड़े 1977–78 के लिए।
24. केरल में निम्न प्रजनन दर के लिए जिम्मेदार कारक के रूप में लड़कियों की शिक्षा पर काफी लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। देखें पी.आर. गोपीनाथन नायर, ''डिक्लाइन इन बर्थ रेट इन केरल,'' *इकोनामिक ऐंड पालिटिकल वीकली*, वार्षिक अंक (फरवरी, 1974), पृ. 323–336, मोनी नाग, ''फर्टिलिटी डिफरेंसिएशन इन केरल ऐंड वेस्ट बंगाल,'' *इकोनामिक ऐंड पोलिटिकल वीकली*, वार्षिक अंक (मई 1983), पृ. 877–896। प्रजनन और शिक्षा के बीच संबंधों पर प्रकाश डालने वाले साहित्य की समीक्षा के लिए देखें एस. कोकरेन, *फर्टिलिटी ऐंड एजुकेशन: व्हाट डू वी रियली नो?* वर्ल्ड बैंक स्टाफ अकेजनल पेपर्स नं. 26 (बाल्टीमोर: जांस हाफकिन्स यूनिवर्सिटी प्रेस, 1979)।
25. आजादी से पूर्व के केरल में शिक्षा के क्षेत्र में मिली विकास की जानकारी के लिए देखें पी.के.माइकल थरकन का *सोशियो इकोनामिक फैक्टर्स इन एजुकेशनल डेवलपमेंट: द केस ऑफ नाइंटिंथ सेंचुरी त्रावणकोर*, वर्किंग पेपर सं. 190 (त्रिवेंद्रम: सेंटर फार डेवलपमेंट स्टडीज, 1984), पी.आर. गोपीनाथन् नायर, *एजुकेशनल रिफार्म्स इन इंडिया: यूनिवर्सलाइजेशन ऑफ प्राइमरी एजुकेशन इन केरल*, वर्किंग पेपर सं. 181 (त्रिवेंद्रम: सेंटर फार डेवलमेंट स्टडीज, 1983)
26. टी.जे. नासिटर, *कम्युनिज्म इन केरल* (बर्कले: यूनिवर्सिटी आफ कैलिफोर्निया प्रेस 1982), पृ. 33

8
सार्वजनिक शिक्षा नीति में मूल्य और स्वार्थ

कर्तव्य के रूप में शिक्षा का विचार

सभी विकसित औद्योगिक देशों और उन समकालीन विकासशील देशों में, जहां शिक्षा को अनिवार्य बनाया गया था, शिक्षा को अधिकार के रूप में नहीं बल्कि एक कर्तव्य के रूप में देखा जाता है। जब शिक्षा को कर्तव्य का दर्जा दिया जाता है तो सभी मां-बाप से, चाहे उनकी आर्थिक स्थिति अथवा उनके विचार कुछ भी क्यों न हों, कानूनी तौर पर यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजें। राज्य का भी यही वैधानिक दायित्व है कि वह पर्याप्त संख्या में स्कूलों की व्यवस्था करे, उचित स्थानों पर स्कूल खोले और यह सुनिश्चित करे कि हर बच्चा स्कूल जा रहा है।

जैसा कि हमने पिछले अध्याय में देखा है एक–एक करके पश्चिम के देशों ने और इसके बाद एशिया के अनेक देशों ने अनिवार्य शिक्षा की अवधारणा को अपने यहां अपनाया। कुछ देशों में यह अवधारणा इतनी विवादास्पद थी और इसके विरुद्ध काम करने वाली राजनीतिक शक्तियां इतनी सक्रिय थीं पहले प्रयास को लागू करने और वैधानिक तौर पर अंतिम कार्रवाई पूरी करने के बीच कई–कई साल, यहां तक कि शताब्दियां लग गयीं। 1524 ई. में मार्टिन लूथर ने जर्मनी की नगर पालिकाओं को यह सूचित किया कि बच्चों को शिक्षा दिलाना मां-बाप का कर्तव्य है लेकिन 1817 तक प्रशिया के राज्य ने मां-बाप को ऐसा कोई आदेश नहीं दिया था कि वे अपने बच्चों को स्कूल में भेजें। 1642 में मैसाच्यूसेट्स के उपनिवेश

ने एक कानून पारित किया जिसमें कहा गया था कि मां-बाप इस बात का ध्यान रखें कि उनके बच्चों को पढ़ना सिखाया जाए और 1647 में सभी समुदायों से कहा गया कि वे स्कूलों का निर्माण करें और उसके लिए आर्थिक साधन जुटाएं लेकिन 1873 तक मैसाच्यूसेट्स के सभी शहरों में ऐसे अधिकारियों की नियुक्ति नहीं हो सकी थी जो कि इस बात की निगरानी रखें कि कौन–कौन से बच्चे स्कूल में गैरहाजिर हो रहे हैं। लगभग उसी समय अन्य अमरीकी राज्यों ने भी शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए कानून का निर्माण किया लेकिन 1918 तक, मिसीसिपी के अंतिम तौर पर इस कानून को अपनाने तक, समूचे देश में शिक्षा को अनिवार्य नहीं बनाया जा सका था।

अनिवार्य शिक्षा के पक्ष में जान स्टुवर्ट मिल तथा अन्य प्रतिष्ठित और प्रभावशाली बुद्धिजीवियों (एडम स्मिथ से लेकर अन्य तक) द्वारा जोरदार दलील दिये जाने के बावजूद 1870 तक ब्रिटिश संसद ने अनिवार्य शिक्षा कानून को पारित नहीं किया था और 1880 तक संसद ने ऐसा कोई कानून नहीं पारित किया था जिसमें सभी बच्चों को शिक्षा प्राप्त करने की बाध्यता हो। जापान में मेजी नेतृत्व ने कुछ तेज कदम उठाए और उसने 1872 में एक राजाज्ञा जारी कर समूचे देश में शिक्षा को अनिवार्य बना दिया। जापानी अधिकार के अंतर्गत शाही अधिकारियों ने 1943 में ताइवान में शिक्षा को अनिवार्य बनाया। 1948 में दक्षिण कोरिया ने जापान से आजादी हासिल करने के कुछ ही वर्षों बाद अपने यहां शिक्षा को अनिवार्य रूप दे दिया।

क्रांति के बाद के शासकों में यह प्रवृत्ति देखने को मिली कि शिक्षा को कर्तव्य के रूप में स्वीकार करने में वे काफी तत्पर थे। नए सोवियत शासन में अनुमानतः 70 प्रतिशत निरक्षरता दर थी और उसने 1917 से 1921 के बीच जबर्दस्त साक्षरता अभियान चलाया, लाल सेना के सदस्यों के लिए शिक्षा को अनिवार्य कर दिया, 1920 के दशक में प्राइमरी स्कूलों की संख्या में वृद्धि की और पार्टी द्वारा जारी एक आधिकारिक आदेश के जरिए सभी बच्चों के लिए चार वर्ष की शिक्षा अनिवार्य कर दी। यह आदेश 1931 से शुरू माना गया। इसी प्रकार चीन जनवादी गणराज्य में 1949 में निरक्षरता-दर 80 प्रतिशत थी लेकिन उसने निरक्षरता के विरुद्ध विश्व का सबसे बड़ा अभियान चलाया और बच्चों के लिए शिक्षा तथा वयस्कों के लिए अनौपचारिक शिक्षा को अनिवार्य बना दिया। अन्य कम्युनिस्ट तथा वामपंथी शासनों में उत्तर वियतनाम में 1945 में, क्यूबा में 1961 में और निकारागुआ में 1980 में सभी बच्चों को जबर्दस्ती स्कूल भेजा गया और वयस्कों के लिए साक्षरता अभियान चलाया गया।[1]

जिन देशों ने अपने यहां शिक्षा को अनिवार्य रूप दिया, वहां इस बात

पर खासा मतभेद था कि शिक्षा राज्य का एकाधिकार है अथवा प्राइवेट तथा चर्च द्वारा संचालित स्कूलों को इजाजत दी जानी चाहिए, बच्चों को कितने घंटे स्कूल में होना चाहिए, स्कूलों के लिए कितने बच्चों की शिक्षा जरूरी होनी चाहिए और स्कूलों में किस तरह की पढ़ाई पर जोर दिया जाना चाहिए– किताबी ज्ञान, धार्मिक अथवा नैतिक उपदेश, नागरिक अथवा राजनीतिक शिक्षा या व्यावसायिक शिक्षा। एक बार अनिवार्य शिक्षा लागू कर दिये जाने के बाद पढ़ाई के घंटों का मामला अथवा कितने वर्ष तक स्कूल जाना चाहिए अथवा स्कूल में क्या पढ़ाया जाए– ये बातें एक सार्वजनिक नीति का मामला बन गयीं। इसी के साथ यह भी सवाल पैदा हुआ कि क्या सरकार द्वारा संचालित स्कूलों के साथ–साथ निजी तौर पर संचालित स्कूलों को भी इजाजत दी जानी चाहिए। मतभेद चाहे जो हों, इन सभी देशों में एक बात समान थी कि दिन के एक हिस्से में बच्चों के लिए स्कूल जाना अनिवार्य कर दिया गया था और बाकी समय में उन्हें इस बात की आजादी थी कि वे घर का काम करें, खेती–बारी संभालें अथवा चाहे तो कहीं पार्ट टाइम नौकरी कर लें।

राज्य और बच्चों के बीच संबंध के इतिहास में अधिकार का कर्तव्य की ओर झुकाव काफी महत्वपूर्ण हे। "अधिकार" में निहित है पहुंच और चुनाव। शिक्षा निःशुल्क और व्यापक तौर पर उपलब्ध है। मां-बाप को इस बात की स्वतंत्रता है कि वह अपने बच्चे को स्कूल भेजना चाहें तो भेजें, न चाहें तो न भेजें। कर्तव्य की अवधारणा मां-बाप को चयन के अधिकार से वंचित करती है। इसमें राज्य द्वारा मां-बाप को कहा जाता है कि चाहे उन्हें अपने बच्चों के काम अथवा उनके श्रम से होने वाली आय की कितनी भी जरूरत क्यों न हो, वे अपने बच्चों को दिन के एक हिस्से में स्कूल भेजने से नहीं रोक सकते। कर्तव्य की अवधारणा राज्य पर भी लागू होती है। राज्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह शिक्षा को अनिवार्य रूप दे और बदले में केंद्रीय सत्ता इस कर्तव्य को स्थानीय अधिकारियों तथा बच्चों के मां-बाप और अभिभावकों पर थोप देती है।

ऐसा कैसे संभव हुआ कि राज्यों ने शिक्षा को कर्तव्य के रूप में देखना शुरू किया? जैसा कि हमने देखा है इसकी एक व्याख्या धार्मिक विचारों और संस्थाओं के प्रभाव में देखी जा सकती है। अनेक महान देशों में धर्म ने राज्य के अतिक्रमण के लिए प्रेरणा का काम किया। प्रोटेस्टेंट देशों में जन–शिक्षा के प्रसार के पीछे यह धारणा बहुत प्रबल थी कि हर व्यक्ति को बचपन से ही धर्मशास्त्रों के पढ़ने योग्य होना चाहिए। यह विचार इतना प्रबल था कि राज्य के हस्तक्षेप से पूर्व ही जनशिक्षा ने व्यापक रूप ले लिया था। अगर मां-बाप अपने बच्चों को शिक्षा दिलाने में असफल होते थे तो

प्रायः प्रोटेस्टेंट नेता ऐसे मां-बाप का साथ नहीं देते थे। सत्ताधारी अभिजात्य वर्गों और ऐसे वर्गों के लोग, जिनका काफी प्रभाव था, मां-बाप पर दबाव डालते थे कि वे अपने धार्मिक दायित्व का निर्वाह करें। निश्चित नतीजे हासिल करने के लिए कभी–कभी उदारतावाद की विचारधारा राज्य की कार्रवाई के मार्ग में खड़ी हो जाती थी और इसे खासतौर से इंग्लैंड तथा अमरीका में देखा गया जहां इस मुद्दे पर मतैक्यता नहीं थी कि राज्य हस्तक्षेप करे अथवा नहीं। कुछ लोगों की यह धारणा थी कि राज्य को ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जिससे वयस्कों के चयन का अधिकार छीना जा सके। प्रोटेस्टेंट मतावलंबियों के विपरीत कैथोलिक मतावलंबी राज्य के हस्तक्षेप के पक्ष में नहीं थे। कैथोलिक संप्रदाय में यह जरूरी नहीं था कि हर आदमी धार्मिक ग्रंथों के पढ़ने योग्य ही हो– उसे बस इस योग्य होना चाहिए कि वह उन्हें याद कर सके और जरूरत पड़ने पर उन्हें बोल सके। शिक्षा को अनिवार्य रूप देने में कैथोलिक संप्रदाय वाले देशों के मुकाबले प्रोटेस्टेंट देशों ने काफी तेजी दिखाई।

अपेक्षाकृत ज्यादा परोक्ष रूप में श्रीलंका और केरल में जनशिक्षा के विकास और राज्य हस्तक्षेप की वृद्धि के मामले में धार्मिक संस्थाओं ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जैसाकि हमने पहले देखा है कि दोनों मामलों में देशज धार्मिक समूहों मसलन श्रीलंका में बौद्धों, और त्रावणकोर तथा कोचीन में हिंदुओं के प्रयासों के जवाब में ईसाई शिक्षण संस्थानों के साथ स्पर्धा काफी महत्वपूर्ण थी। भारत में अन्य स्थानों पर जहां साक्षरता दर औसत से ज्यादा थी जैसे गोवा, (56.7 प्रतिशत), मिजोरम (59.9 प्रतिशत), नागालैंड (42.6 प्रतिशत), और मणिपुर (51.4 प्रतिशत)–वहां शिक्षा की इस स्थिति के लिए ईसाई मिशनरियों की भूमिका और सरकारी प्रक्रिया के बीच संबंध देखा जा सकता है। (इन राज्यों में ईसाई आबादी क्रमशः 29 प्रतिशत, 84 प्रतिशत, 80 प्रतिशत और 30 प्रतिशत है। राष्ट्रीय स्तर पर समूची आबादी में ईसाइयों की आबादी 2.4 प्रतिशत है।)

क्रांति के बाद वाले फ्रांस में, 19वीं शताब्दी के जापान में, क्रान्ति के बाद के सोवियत संघ में, 20वीं शताब्दी के मध्य वाले चीन, दक्षिण कोरिया या ताइवान में राज्य द्वारा संचालित शिक्षा के लिए धार्मिक संस्थाएं कोई शक्ति नहीं थीं अथवा निश्चित रूप से कोई बड़ी शक्ति नहीं थी यद्यपि इन देशों में से अनेक में शिक्षण संस्थाओं की स्थापना में चर्च काफी सक्रिय रहे थे। फिर भी इन सभी समाजों में धर्म शास्त्र के मुकाबले विचारधारा का ज्यादा जोर था। फ्रांस में कैथोलिक चर्च के प्रभाव का मुकाबला करने के लिए राज्य द्वारा संचालित एक शिक्षा व्यवस्था की जरूरत थी। जापान में तोकुगावा शासकों ने सत्ता के प्रति आज्ञाकारिता और पुत्र सुलभ दया भाव

की कन्फ्यूशियसवादी अवधारणा का प्रचार किया। इसके बाद मेजी शासन की शुरुआत हुई और उसने शिक्षा व्यवस्था को राजनीतिक सैद्धान्तीकरण के उपकरण के रूप में इस्तेमाल करते हुए सामंतों की बजाय सम्राट के प्रति आज्ञाकारी बने रहने पर जोर दिया। सोवियत संघ, चीन जनवादी गणराज्य तथा अन्य कम्युनिस्ट देशों में नए शासकों ने जनशिक्षा को ऐसे "नया मानव" के निर्माण के लिए महत्वपूर्ण माना जो भौतिक सुविधाओं से नहीं बल्कि विचारधारा से प्रेरित किया जा सकता था। जैसा कि माओ ने लिखा, "नए चीन के निर्माण के लिए बुनियादी शर्त यह है कि चीन की 80 प्रतिशत आबादी मे व्याप्त निरक्षरता को दूर किया जाए।"[2] माओ के नेतृत्व में विशेषज्ञता के मुकाबले वैचारिक शुद्धता पर जोर दिया गया और शिक्षा व्यवस्था के मुख्य वैचारिक लक्ष्य के रूप में इसे अपनाया गया। ताइवान और दक्षिण कोरिया में कंफ्यूशियस के विचारों सहित "नैतिक शिक्षा" को जनशिक्षा के प्रचार के पीछे प्रमुख प्रेरक शक्ति के रूप में अपनाया गया। दोनों देश खुद को पड़ोस के कम्युनिस्ट देशों से घिरा मानते थे और इन देशों के अभिजन शिक्षा को राजनीतिक विचारधारा के प्रचार का एक रूप और साथ ही राजनीतिक हथियार मानते थे।

अनिवार्य जनशिक्षा के पीछे विभिन्न समूहों ने अपने–अपने ढंग से प्रेरक शक्ति का काम किया है। धर्मशास्त्रियों ने ईश्वर से भय, कानून के प्रति सम्मान, नैतिक गुणों से भरपूर युवकों के निर्माण वाले दृश्य के साथ, शिक्षाविदों ने धर्मनिरपेक्षता, तर्कसंगतता, विश्व बंधुत्व को प्रचारित करने वाले मूल्यों की दृष्टि से जो अंधविश्वास, भाग्यवाद और सत्ता के प्रति दब्बूपने से भरी आज्ञाकारिता का विरोध करती हो तथा क्रांतिकारियों ने सामाजिक रूपांतरण की अपनी रूमानी दृष्टि के साथ शिक्षा के प्रचार में योगदान किया।

प्राथमिक स्कूली शिक्षा और विकास

विकास के समकालीन सिद्धांतकारों के बीच अनिवार्य जनशिक्षा का मामला चार तरह के निष्कर्षों पर आधारित है। पहला है जनशिक्षा और आर्थिक विकास के बीच संबंध, यह मान्यता कि स्कूली शिक्षा के प्रारंभिक वर्षों में जो कौशल, ज्ञान, विश्वास, मूल्य और प्रवृत्तियां विकसित होती हैं वे उन लोगों के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं जो आगे चलकर विविध व्यवसायों में अपनी ऊर्जा लगाते हैं। नए ज्ञान, कौशल, मूल्य और प्रवृत्तियों को अपनाने की किसी आबादी में जितनी ही ज्यादा क्षमता होती है, विकास संबंधी सिद्धांतकारों के अनुसार, आर्थिक विकास तथा भौतिक खुशहाली के लिए वह बुनियादी आधार का काम करती है। इस सिलसिले में अनेक अध्ययन किये गये और

शिक्षा से मिलने वाले लाभ के दर की गणना की गयी है और इन अध्ययनों को इस निष्कर्ष के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[3] इन अध्ययनों से पता चलता है कि शिक्षा के सभी स्तरों के मुकाबले प्राइमरी शिक्षा से लाभ मिलने की दर सबसे ज्यादा रही है। इन निष्कर्षों की एक खास बात यह रही है कि इनमें बताया गया है कि स्कूली शिक्षा के फलस्वरूप कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई है–खासतौर पर उन मामलों में जहां नई प्रौद्योगिकी का लाभ उठाने के अवसर उपलब्ध हों। 18 विकासशील देशों के एक सर्वेक्षण में यह देखा गया कि जिन किसानों ने चार अथवा इससे अधिक वर्षों तक प्राथमिक शिक्षा ग्रहण की थी उन्होंने उन किसानों के मुकाबले तेरह प्रतिशत ज्यादा पैदावार की जो बिलकुल अशिक्षित थे। विभिन्न अध्ययनों की समीक्षा से यह निष्कर्ष निकाला गया कि आमतौर पर परिवार के पुरुष सदस्यों की चार वर्षों की स्कूली शिक्षा उत्पादकता के प्रभाव को तेज करने की कुंजी है।[4] स्कूली शिक्षा का प्रत्येक वर्ष अनुमानतः दो से तीन प्रतिशत उत्पादकता बढ़ाने की क्षमता रखता है।[5]

लेकिन शिक्षा और उत्पादकता के बीच संबंध की गारन्टी नहीं है। अफ्रीकी अनुभव से पता चलता है कि शिक्षा में वृद्धि कृषि उत्पादकता में गिरावट भी ला सकती है। यह खासतौर से उन देशों में, जहां सरकार ऐसी नीतियों का पालन कर रही हो जिनसे विकास को चोट पहुंचती हो। अगर उचित कृषि संबंधी नीति न हो तो केवल शिक्षा और बढ़ी हुई साक्षरता से कृषि में विकास नहीं किया जा सकता।

दूसरा निष्कर्ष महिलाओं की शिक्षा तथा प्रजनन दर में और इससे सम्बद्ध शिक्षा तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य के बीच अंतर्संबंध है। जन्मदर, मृत्युदर, और बाल मृत्युदर में कमी उस आबादी में खासतौर पर रेखांकित की गयी है जहां महिलाएं शिक्षित हैं और इसके कार्य–कारण संबंधों को अच्छी तरह समझती हैं। विश्व बैंक द्वारा संचालित प्रजनन दर संबंधी एस. एच. कोक्रेन के अध्ययनों की समीक्षा से पता चलता है कि महिलाओं के बीच शिक्षा के प्रचार ने बच्चों की संख्या को प्रभावित किया है।[6] जान काल्डवेल द्वारा बाल मृत्युदर और मां की शिक्षा विषय पर किये गये अध्ययन की समीक्षा से हमें यह जानकारी मिलती है कि बाल मृत्यु दर में कमी लाने में जिन अनेक कारणों का योगदान है, उनमें से महत्वपूर्ण कारण महिलाओं का शिक्षित होना है।[7] विश्व बैंक की एक समीक्षा से पता चलता है कि अगर कोई मां स्कूली शिक्षा में एक अतिरिक्त वर्ष लगाती है तो वह प्रत्येक एक हजार में नौ बच्चों की मृत्युदर में कमी लाती है।[8] जहां स्कूलों में निःशुल्क दोपहर का भोजन, रियायती दर पर दूध, टीका लगाने की सुविधा तथा अन्य स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध हैं वहां सीधे–सीधे बच्चों के स्वास्थ्य पर बेहतर

प्रभाव पड़ता है। इसके अलावा चूंकि बच्चों को थका देने वाले और खतरनाक कामों से अलग करके स्कूल में भर्ती किया जाता है, इसलिए निश्चय ही उनकी शारीरिक अवस्था बेहतर होगी।

तीसरा निष्कर्ष व्यक्ति की शिक्षा तथा आधुनिकता के बीच संबंध है। ऐलेक्स इन्केले ने अपने विख्यात सर्वेक्षणों के जरिए बताया कि "आधुनिक" प्रवृत्तियों को विकसत करने में कारखानों के मुकाबले स्कूली शिक्षा की ज्यादा बड़ी भूमिका है।[9] इस तथा इस तरह के अध्ययनों से पता चलता है कि साक्षरता किसी व्यक्ति को नई टैक्नालाजी के और भी ज्यादा इस्तेमाल की क्षमता प्रदान करती है, नए संस्थानों में उसके प्रवेश के लिए उसे तैयार करती है और समाज में नए–नए नेटवर्क्स की स्थापना करती है। इन अध्ययनों ने साफतौर पर यह बताया कि साक्षरता आधुनिक समाज के कार्यसंचालन के लिए एक बुनियादी शर्त है।[10]

प्राथमिक शिक्षा, जनसाक्षरता और राजनीतिक व्यवहार के बीच अंतर्संबंध चौथा निष्कर्ष है। लेकिन इसमें कार्य–कारण संबंधों को लेकर कई तरह की समस्याएं हैं। विभिन्न स्थानों पर जनशिक्षा का इस तरह बयान किया गया है जैसे कि वह जनतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था के लिए बहुत जरूरी हो, अच्छे नागरिक के विकास और राजनीति में उसकी भागीदारी का एक प्रमुख तत्व हो, और तर्कसंगतता बढ़ाने, सहिष्णुता के मूल्यों को स्थापित करने, अपराधों में कमी लाने तथा राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने का साधन हो। इन अध्ययनों की समीक्षा के दौरान जेम्स एस कोलमैन ने निष्कर्ष निकाला कि शिक्षा अभिजात्य वर्ग और आम आदमी के बीच खाई को और चौड़ा भी कर सकती है तथा जातीय भेदभाव को तेज कर सकती है, व्यक्तियों को सुधारवादी अथवा कट्टरपंथी दिशा में राजनीतिक भागीदारी के लिए तैयार कर सकती है और पूर्वाग्रहों को मजबूत य कमजोर कर सकती है। शिक्षा से राजनीतिक व्यवहार में तर्कसंगतता भी सुनिश्चित नहीं होती। शिक्षा सामाजिक गतिशीलता को बढ़ा सकती है अथवा समाज में मौजूद वर्गीय व्यवस्था को मजबूत कर सकती है और जब रोजगार के मुकाबले शिक्षा का उल्लेखनीय ढंग से तेजी से विकास होता है तो इसके फलस्वरूप ऐसे बेरोजगार "ड्राप आउट्स" का एक वर्ग तैयार हो सकता है "जिनका राजनीतिक रुझान देश की राजनीति के प्रति अलगाव का हो और जिनकी व्यवहारिक प्रवृत्ति बुनियादीतौर पर असामान्य हो।"[11]

शैक्षिक और राजनीतिक विकास से संबंधित साहित्य में क्रियात्मक शब्द "सकना" है। ज्ञान, मूल्य, और अनुभव को आपस में बांटकर समूची आबादी के अंदर राष्ट्रीय अस्मिता की भावना को तीव्र किया जा सकता है और यह स्कूली शिक्षा के जरिये संभव है। विभिन्न क्षेत्रों और वर्गों के बीच शिक्षा

संबंधी समान सुविधाओं सहित, एक समान स्कूली शिक्षा के जरिये सामाजिक गतिशीलता को सुगम बनाया जा सकता है। शिक्षा आरोपित संबंधों को तोड़ सकती है और उपलब्धि के मानदंडों को मजबूत कर सकती है। प्राथमिक स्कूली शिक्षा, अशिक्षितों के ऊपर कुछ शिक्षित लोगों की सत्ता को कमजोर बनाकर, स्थानीय स्तर पर राजनीतिक समानता लाने में सहयोग कर सकती है। प्रायः देखा जाता है कि कानून तथा अफसरों से निबटने के मामले में निरक्षर लोग साक्षरों पर निर्भर रहते हैं और उनके अधीन रहते हैं। कानून द्वारा प्रदत्त अधिकारों का इस्तेमाल करने के लिए लोगों को इस योग्य होना चाहिए कि वे पढ़ सकें।

इस तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए अब हम इस बात की समीक्षा कर सकते हैं कि भारत में शिक्षा को अनिवार्य बनाने और बाल मजदूरी को समाप्त करने के प्रयास क्यों इस हद तक अनियमित रहे और संवैधानिक प्रावधानों के बावजूद इस पर जो कुछ भी किया गया, वह महज एक रस्म अदायगी रहा।

भारतीय दृष्टिकोण का सारांश

लगभग सभी राजनीतिक मतों का पालन करने वाले भारतीय इस धारणा का विरोध करते हैं कि शिक्षा को थोपा जाना चाहिए। जैसाकि हमने देखा है, उनकी प्रमुख आपत्ति यह है कि गरीबी के कारण मजबूरी में बच्चे स्कूली पढ़ाई बीच में छोड़ देते हैं और रोजगार तलाशने लगते हैं ताकि अपने परिवार की आय में वृद्धि कर सकें। यह एक ऐसी दलील है जिसे सभी राजनीतिक समूहों के लोग दोहराते रहते हैं। बाल मजदूरी से संबंधित कानूनों को लागू करने अथवा अनिवार्य शिक्षा कानूनों को लागू करने के बारे में पश्चिम बंगाल की कम्युनिस्ट सरकार के अंदर कोई प्रतिबद्धता नहीं दिखाई देती है और यही बात पड़ोस के राज्य बिहार में दकियानूसी कांग्रेस सरकार के बारे में भी सच है। सरकार की प्रस्तावित राष्ट्रीय शिक्षा नीति पर 1985–86 में चली बहस में कुछ ही आलोचकों ने अनिवार्य शिक्षा की मांग की। अध्यापकों के किसी भी संघ ने यह मांग नहीं की है कि शिक्षा को अनिवार्य बनाया जाय। किसी भी स्थानीय अधिकारी ने राज्य के शिक्षा संबंधी उन कानूनों को लागू करने का आवाहन नहीं किया, जिसमें शिक्षा को अनिवार्य बनाने की बात कही गयी है। किसी भी धार्मिक समूह ने सरकार से यह अनुरोध नहीं किया कि शिक्षा को अनिवार्य बनाया जाय। बाल मजदूरी से संबंधित सरकार की नयी नीति पर बहस में आलोचकों को यह देखकर बहुत निराशा हुई कि सरकार ने बाल मजदूरी को एक "कटुसत्य" के रूप में स्वीकार कर लिया है लेकिन देखा जाय तो किसी ने सरकार से

यह अनुरोध नहीं किया कि वह बच्चों को कुटीर उद्योगों और खेतीबारी के काम से हटाकर जबरन स्कूल भेजे– भले ही उन बच्चों के मां-बाप की इच्छा कुछ भी क्यों न हो। कोई भी ऐसा राज्य नहीं है, जहां ट्रेड यूनियनों ने बाल मजदूरी से संबंधित कानूनों को लागू करने के लिए कोई अभियान चलाया हो। अगर कहीं कुछ दिखाई देता है तो वे गिने चुने स्वैच्छिक संगठन हैं जो बहुत सक्रिय रूप से राज्य के श्रम विभागों पर दबाव डालते हैं कि वे बाल मजदूरी से संबंधित कानूनों को लागू करें।

यह सभी लोग जानते हैं कि अनेक गरीब मां-बाप परिवार की आय बढ़ाने के लिए बच्चों की संख्या बढ़ाते हैं। जैसाकि अर्थशास्त्रियों का कहना है बच्चों को आर्थिक बोझ के रूप में नहीं बल्कि आर्थिक श्रमपूंजी के रूप में देखा जाता है। भारत के नीति-निर्माता इस तथ्य को अपनी नीतियों के आधार के रूप में स्वीकार करते हैं कि निम्न आय वाले भारतीयों के लिए बच्चे पैदा करना अपने परिवार के अस्तित्व और खुशहाली के लिए बनायी गयी उनकी रणनीति है।

जैसा कि हमने तथ्यों और आंकड़ों से स्पष्ट किया है, अनेक देशों की सरकारें अपने यहां व्यापक निर्धनता की मौजूदगी और 'गरीबों को अपने बच्चों की आय की जरूरत है' जैसे तर्कों के कारण शिक्षा को अनिवार्य बनाने से पीछे नहीं हटीं। अनेक देशों में सरकारी अधिकारियों ने तर्कपूर्ण ढंग से यह बताया है कि मां-बाप को इस बात की इजाजत नहीं दी जानी चाहिए कि वे अपनी आय बढ़ाने के लिए बच्चों का इस्तेमाल करें। अगर उन्हें इस बात की इजाजत दी जाती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि बच्चों को मां-बाप की ऐसी सम्पत्ति के रूप में देखा जा रहा है जिसे वे मनमाने ढंग से इस्तेमाल कर सकें और यह ऐसी अवधारणा है जो खतरनाक ढंग से दास प्रथा की धारणा के करीब पहुंचती है। जनसंख्या विशेषज्ञों ने जोर देकर कहा है कि इस तरह की नीति भी उच्च जन्मदर के लिए जिम्मेदार है। अगर ऐसी नीतियां बना दी जायें जिनसे मां-बाप अपने बच्चों की आय से वंचित हो जायं, तो बच्चों को आर्थिक संपत्ति के रूप में देखने का दृष्टिकोण समाप्त हो जायेगा और फिर उनकी संख्या बढ़ाने पर लाभ की गुंजाइश कम हो जायेगी। समय के साथ-साथ, एक सामाजिक रूपांतरण की प्रक्रिया शुरू होगी जिसमें परिवार के अंदर वित्तीय संसाधन बच्चों से मां-बाप की ओर नहीं बल्कि मां-बाप से बच्चों की ओर प्रवाहित होंगे। तब मां-बाप द्वारा बच्चों को ऐसी सम्पत्ति के रूप में नहीं देखा जायेगा जो परिवार की आर्थिक खुशहाली को बढ़ाते हों बल्कि उन्हें कम से कम अपने जीवन के प्रारंभिक वर्षों के दौरान एक ऐसी आर्थिक जिम्मेदारी समझा जायेगा जिसका निर्वाह करना मां-बाप के लिए जरूरी होगा। फिर बच्चों के प्रति मां-बाप की प्रवृत्ति

बदल जायेगी। इस हालत में ज्यादा संभावना इस बात की है कि मां-बाप कम बच्चे चाहें क्योंकि तब बच्चे मंहगे अथवा "अमूल्य" हो जायेंगे। और फिर संभवतः वे चाहेंगे कि उनके बच्चे बेहतर पढ़ाई करें और ज्यादा स्वस्थ रहें। एक तर्क यह दिया गया है कि अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तनों से (ऐसी टेक्नालाजी शुरू करके जिसमें शिक्षित होना जरूरी हो अथवा तीव्र आर्थिक विकास के फलस्वरूप मजदूरों की मांग में वृद्धि के कारण) बच्चों के लिए शिक्षा और रोजगार के बीच संबंधों का पुनर्मूल्यांकन किया जा सकेगा और केवल इस तरह के संरचनात्मक परिवर्तनों से ही बच्चों के प्रति मां-बाप के रवैयों को बदला जा सकेगा। वैसे तो इस तरह के भी उदाहरण हो सकते हैं जहां आर्थिक परिवर्तनों ने मां-बाप के व्यवहारों में बदलाव को जन्म दिया जिसने बदले में अनिवार्य शिक्षा शुरू किये जाने को सुगम बनाया। यहां जो उदाहरण दिये गये हैं वे प्रायः ऐसे हैं जिनमें नीतियों में परिवर्तन का काम पहले हुआ और जिन्होंने काफी हद तक मां-बाप के व्यवहार को एक आकार दिया।

जिन देशों ने अपने यहां शिक्षा को अनिवार्य बनाया है वहां गरीब जनता की खुशहाली पर बाल मजदूरी के कारण पड़ने वाले प्रभावों को भी अलग-अलग ढंग से देखा गया है। जहां भारतीय यह मानते हैं कि बच्चों को रोजगार में लगाने से गरीबों को लाभ होता है, अन्य देशों में यह दलील दी जाती है कि बच्चों के रोजगार में होने के कारण गरीब लोग और बदहाल हो रहे हैं क्योंकि इससे वयस्कों के वेतन और रोजगार पर बुरा असर पडता है। दुकानदार अधिक मजदूरी देकर 18 वर्ष के युवक को काम पर रखने के बजाय 8 साल के बच्चे से काम लेना ज्यादा पसंद करता है। मवेशी पालने वाले सोचते हैं कि क्यों न 10 साल के बच्चे से ही (भले ही वह बंधुआ मजदूर क्यों न हो) काम चला लिया जाय– क्या जरूरत है कि किसी अधिक उम्र वाले से काम लिया जाय। जिन देशों में बाल मजदूरी समाप्त हो गयी है वहां अनेक ट्रेड यूनियनों द्वारा बड़े जोरदार ढंग से एक राजनीतिक दलील यह दी जाती रही है कि अब चूंकि मजबूर होकर मालिकों को बच्चों की बजाय अधिक वेतन देकर वयस्कों को काम पर लगाना होगा, इसलिए गरीबों की हालत में सुधार होगा।

भारत से बाहर भी यह माना जाता है कि बच्चों को अगर आयु की प्रारंभिक अवस्था में रोजगार पर न लगाकर, 4 से 6 वर्षों तक स्कूली शिक्षा दी जाय तो उनकी हालत बेहतर होगी। कोई पढ़ा लिखा नौजवान ऐसे व्यक्ति के मुकाबले, जो निरक्षर हो और बचपन में मजदूरी करने के कारण जिसका स्वास्थ्य खराब हो गया हो, ज्यादा उत्पादक हो सकता है और ज्यादा पैसे कमा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य से देखें तो बाल मजदूरी न केवल

गरीबी का परिणाम है बल्कि गरीबी के कारणों में से एक है। अगर इसे समाप्त कर दिया जाय तो गरीब लोगों के खुशहाल होने की संभावना बढ़ जाती है।

भारतीय लोग इस दृष्टिकोण की आलोचना करते हैं और यह दलील देते हैं कि भारतीय शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण है क्योंकि यह गांव के बच्चों और शहर के गरीब तबकों को इस बात के लिए नहीं तैयार कर पाती कि वे अपने परिवेश में रह सकें और काम कर सकें। उनका कहना है कि उल्टे, स्कूली शिक्षा बच्चों के अंदर सफेदपोश नौकरियों के प्रति ललक पैदा करने का काम करती हैं। गांव के लोग चाहते हैं कि उन्हें शहरी नौकरियां मिलें– खासतौर से वे अपने बच्चों के लिए सरकारी नौकरी की तलाश करते हैं क्योंकि इस तरह की नौकरियों में अच्छी आय की गारंटी होती है जबकि कृषि से संबंधित रोजगार में जोखिम भी है और अनिश्चितता भी। स्कूली शिक्षा व्यवस्था सफेदपोश नौकरियों के लिए होने वाली स्पर्धा को तेज करती है, शिक्षित बेरोजगारों की संख्या बढ़ाती है और इस प्रकार अर्धशिक्षित लंपट सर्वहारा की एक ऐसी जमात के तैयार होने का खतरा पैदा करती है जिसे राजनीतिक गुट या पार्टियां राजनीतिक व्यवस्था को तहस–नहस करने के लिए इस्तेमाल कर सकती हैं। इसलिए मध्यवर्ग की और साथ ही मध्य वर्ग के अफसरों की एक प्रमुख चिंता यह है कि मौजूदा स्कूल गरीब वर्ग के लोगों को ऐसी नौकरियों के लिए शिक्षित करते हैं जिन्हें हमारी अर्थव्यवस्था प्रदान करने की स्थिति में नहीं है। उनका कहना है कि महत्वाकांक्षाओं को उभारकर गरीबों के लिए शिक्षा विघटनकारी समाजविरोधी तत्वों का निर्माण कर सकती है। इस परिप्रेक्ष्य में अगर देखें तो स्कूलों में "ड्राप आउट्स) की उच्चतम दर को सामाजिक स्थिरता के लिए योगदान माना जा सकता है। अनेक शिक्षा शास्त्री कहते हैं कि उच्च "ड्राप आउट्स" दर से यह भी पता चलता है कि अनेक मां-बाप स्कूलों को उपयोगी नहीं मानते। ऐसी स्थिति में शिक्षा को क्यों अनिवार्य बनाया जाय?

कहा जाता है कि स्कूली शिक्षा के विपरीत अगर बचपन में रोजगार मिल जाता है तो इससे गरीब वर्ग के बच्चों को उम्र के शुरुआती वर्षों में ही काम करने की आदत पड़ जाती है और उनके अंदर एक सही दृष्टिकोण पैदा होता है। खासतौर से गरीबों के बच्चों के लिए यह जरूरी है कि वे अपने मां-बाप के कौशल को सीखें। इस दृष्टि से अगर देखें तो "काम" को एक प्रशिक्षण अथवा शिक्षा का ऐसा स्वरूप माना जाना चाहिए जो बच्चों को उस हुनर और नजरिये से लैस करता है जो कामगार जिंदगी के लिए जरूरी है अर्थात शारीरिक श्रम के प्रति प्रतिबद्धता, अध्यवसाय, प्रबंधकीय सत्ता के प्रति मौन स्वीकृति और आज्ञाकारिता। इसी दलील को जारी रखते हुए कहा

जाता है कि इसके अलावा बच्चों का रोजगार में लगे होना अर्थव्यवस्था के लिए काफी उत्पादक है। छोटी नाजुक उंगलियां बच्चों को ऐसे काम करने योग्य बनाती हैं जिसे बड़े लोग आसानी से नहीं कर सकते अथवा कर ही नहीं सकते। बड़े लोगों के मुकाबले बच्चे कालीन बुनने में ज्यादा गांठें लगा सकते हैं, वे अच्छे तरीके से बीड़ी बना सकते हैं, चाय बागानों में पत्तियां तोड़ सकते हैं, माचिस की डिब्बियों में तीलियां भर सकते हैं, पिघले हुए कांच को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जा सकते हैं अर्थात ऐसे सभी काम कर सकते हैं जिसमें शारीरिक शक्ति की बजाय साहस, तल्लीनता और रफ्तार की जरूरत होती है। यह भी कहा जाता है कि अगर मजदूरी के काम में बच्चे न लगे हों तो इस तरह के कामों को संपन्न ही नहीं किया जा सकता। और चूंकि बच्चों को बड़ों के मुकाबले कम मजदूरी दी जाती है इसलिए उनके कारण कम लागत में माल का उत्पादन होता है। इसी कम लागत के कारण कालीन निर्माण जैसे कुछ उद्योग आज बेहतर ढंग से विश्व बाजार में दूसरे देशों के साथ होड़ ले रहे हैं। अगर बच्चों को काम पर लगा दिया जाय तो परंपरागत हस्तशिल्प को भी, जो भारत का प्राचीन शिल्प है, बचाया जा सकता है। बाल मजदूरी के बिना कालीन और हथकरघा उद्योग की बजाय मशीन निर्मित उत्पाद सामने आ जायेंगे, बीड़ी के स्थान पर कारखानों में बनी सिगरेटें छा जायेंगी और माचिसों तथा आतिशबाजी के सामानों का उत्पादन बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा किया जाने लगेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि बाल मजदूरी– या और ठोस रूप में कहें तो गरीब बच्चों द्वारा की जाने वाली मजदूरी एक अवधारणा है। यह किसी बच्चे को शिक्षित करने का एक दौर है और साथ ही अर्थव्यवस्था का विशिष्ट स्वरूप।

इस संदर्भ में यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय मध्यवर्ग गरीबों के बच्चों और अपने खुद के बच्चों के बीच भेदभाव को एक वैचारिक रूप देता है। हाथ से काम करने वाले बच्चों और "दिमाग से काम करने वाले" बच्चों के बीच में भेद किया जाता है। अर्थात यह माना जाता है कि कुछ बच्चों को "काम" करना और कुछ को "पढ़ाई" करना सीखना चाहिए। यह माना जाता है कि शारीरिक कौशल और मानसिक कौशल के बीच बड़ा भेद है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक रुतबे और बड़े छोटे की परंपरागत हिन्दू अवधारणा शिक्षित भारतीयों की सोच के उस तरीके में निहित है जो शारीरिक श्रम करने वाले और नौकरी करने वाले बच्चों की शिक्षा में भेदभाव करती है। भारत के एक प्रमुख मानव– विज्ञानी प्रोफेसर सुरजीत सिन्हा ने मुझसे कहा कि "ऐसे अनेक अचेतन तरीके हैं जिनसे भारत में एक सामाजिक वर्ग शिक्षा पर अपना नियंत्रण स्थापित करके दूसरे सामाजिक वर्ग को आगे बढ़ने से रोक देता है। आप चाहें तो इसे शैक्षिक दमन कह सकते हैं।" इस

सिलसिले में उदाहरण पेश करते हुए उन्होंने अंग्रेजी और विज्ञान के स्तर को लगातार ऊंचा उठाते जाने का उल्लेख किया। जिसके फलस्वरूप शुरू में ही ज्यादा बच्चे फेल हो जाते हैं और बीच में पढ़ाई छोड़कर जाने वालों की संख्या बढ़ जाती है। इसी के साथ उन्होंने प्राथमिक शिक्षा में दोहरी प्रणाली शुरू करने का उदाहरण दिया जिसके फलस्वरूप मध्यवर्ग अपने बच्चों को एक पृथक प्राइवेट लेकिन सरकारी सहायता से चलने वाले स्कूल में भेज देता है जबकि निम्न वर्ग अपने बच्चों को नगर निगम और गांव के ऐसे स्कूलों में भेजता है जिन्हें न तो पर्याप्त आर्थिक सहायता प्राप्त है और न तो वे शिक्षा के लिए जरूरी साधनों से संपन्न है। श्री सिन्हा ने तीसरा उदाहरण देते हुए भारत की आदिवासी आबादी के लिए बनाये गये स्कूलों की चर्चा की जहां आदिवासी भाषाओं की बजाय हिन्दी अथवा अन्य क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया गया है और जहां पढ़ाने वाले सवर्ण हिन्दू अध्यापक यह मानकर चलते हैं कि आदिवासी बच्चे एकदम अयोग्य हैं और उनके अंदर वह कौशल नहीं है जिससे वे ज्ञान को पचा सकें।

पहली कक्षा में भर्ती होने वाले सभी बच्चों में से 10 प्रतिशत बच्चे ऐसे प्राइवेट स्कूलों में नाम लिखाते हैं जिनमें से कुछ को सरकार द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त है और कुछ अपने ही बलबूते पर स्कूल का खर्च चलाते हैं। इन स्कूलों में "ड्राप आउट्स" दर नहीं के बराबर है जबकि सरकारी स्कूलों में एक तिहाई से भी कम बच्चे ऐसे होते हैं जो पांचवी कक्षा तक अपनी पढ़ाई पूरी कर सके हों। (कक्षा एक में भर्ती एक करोड़ 91 लाख के मुकाबले 61 लाख) इसका नतीजा यह होता है कि पांचवी कक्षा तक पहुंचते–पहुंचते 28 प्रतिशत बच्चे प्राइवेट स्कूलों में होते हैं। आठवीं कक्षा में–जब तक और भी बच्चे सरकारी स्कूलों में पढ़ाई छोड़ चुके होते हैं– भारत के स्कूल जाने वाले बच्चों का बहुमत प्राइवेट स्कूलों में पढ़ रहा होता है (सरकार और स्थानीय निकायों द्वारा सीधे संचालित स्कूलों में भाग लेने वाले 21 लाख के मुकाबले 28 लाख– देखें तालिका 8.1)। दूसरे शब्दों में कहें तो पहली कक्षा के प्रत्येक 100 बच्चों में से 23 बच्चे आठवीं कक्षा तक पहुंचते हैं जिनमें से 13 प्राइवेट (सरकारी सहायता प्राप्त अथवा बिना सहायता वाले) स्कूलों और 10 सरकारी स्कूलों में पढ़ाई पूरी करते हैं। भारत का समूचा मध्यवर्ग– शिक्षाशास्त्री, सामाजिक कार्यकर्ता, सरकारी अफसर, राजनीतिज्ञ, और पेशेवर लोग जो सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा को प्रभावित करने वाली नीतियों पर बहस करते हैं, उसे प्रभावित करते हैं, उसका निर्माण और कार्यान्वयन करते हैं– अपने बच्चों को प्राइवेट स्कूलों में न कि सरकार द्वारा संचालित निगम के अथवा गांवों के स्कूलों में भेजते हैं।

तालिका 8.1

सरकारी और निजी स्कूलों में दाखिले, 1978 (10 लाख में)

	कक्षा							
स्कूलों की श्रेणी	**1**	**2**	**3**	**4**	**5**	**6**	**7**	**8**
सरकारी	7.5	5.1	4.2	3.4	2.7	2.7	1.9	1.5
स्थानीय निकाय	11.6	8.4	6.5	5.1	3.4	1.6	1.3	.6
सहायता प्राप्त प्राइवेट	1.9	1.7	1.6	1.4	2.1	2.5	2.4	2.5
बिना सहायता प्राप्त प्राइवेट	0.6	0.4	0.4	0.3	0.3	0.3	0.3	0.3
कुल योग	**21.6**	**15.6**	**12.7**	**10.2**	**8.5**	**7.1**	**5.9**	**4.9**

स्रोतः 'फोर्थ आल इंडिया एजूकेशन सर्वे,1978 (नयी दिल्लीः राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, 1982) पृ. 838–839

यहां तक कि जिस समय शिक्षाविद सार्वजनिक तौर पर इस बात पर खेद व्यक्त करते हैं कि सरकारी प्राइमरी स्कूलों में ड्राप आउट्स की संख्या बढ़ रही है और इसे रोकने के लिए ऐसे उपाय शुरू किये गए हैं (दोपहर का भोजन, निःशुल्क पोशाक) ताकि बच्चे स्कूलों में बने रहें, निजी तौर पर इनमें से कई इस तरह का भय भी व्यक्त करते हैं कि जरूरत से ज्यादा बच्चे उच्च शिक्षा हासिल कर सफेदपोश नौकरियों के पीछे भागने लगेंगे। अनेक शिक्षाविदों की राय है कि सार्वजनिक प्राथमिक स्कूली शिक्षा में ऐसा सुधार किया जाय जहां गरीबों के बच्चे (मध्यवर्ग के नहीं) काम सीख सकें। जैसाकि गुजरात में मुझसे एक वरिष्ठ शिक्षक ने कहा कि कामगार बच्चों के लिए अनौपचारिक शिक्षा वांछनीय है क्योंकि इससे "बच्चों को स्वास्थ्य और सफाई जैसे विषयों की शिक्षा मिलती है। यह नियमित स्कूलों में पढ़ाये जाने वाले भाषा और गणित जैसे विषयों के मुकाबले ज्यादा महत्वपूर्ण है।"

शिक्षाविद और अधिकारीगण शिक्षा को बराबरी की भावना पैदा करने वाले साधन अथवा साझा दृष्टिकोण एवं सामाजिक विशिष्टता विकसित करने वाले उपकरण के रूप में नहीं देखते हैं; वे इसे एक वर्ग और दूसरे वर्ग के बीच फर्क करने का साधन मानते हैं। शिक्षा को शारीरिक श्रम से कतरा कर निकल जाने के तरीके के रूप में देखा जाता है। इसी कारण शिक्षाविद यह देखकर संतुष्ट रहते हैं कि बच्चे प्रारंभिक अवस्था में ही स्कूल छोड़ दें अथवा उन्हें शिक्षा व्यवस्था को इस तरह पुनर्संगठित करना पड़ेगा ताकि गरीबों को शारीरिक श्रम में लगे रहने के लिए प्रेरित किया जा सके। भारत में शिक्षा को भी सामाजिक श्रेष्ठता का एक स्वरूप माना जाता है। जो पढ़े लिखे हैं वे अशिक्षितों की तुलना में अलग पोशाक पहनते और अलग ढंग से बोलने लगते हैं। एक शिक्षित व्यक्ति अशिक्षित व्यक्ति को आदेश दे सकता

है, उस पर चीख चिल्ला सकता है और उससे यह अपेक्षा करता है कि वह उसकी आज्ञा का पालन करे।

एक रस्म अदायगी के तौर पर भारतीय सार्वभौम जनशिक्षा की बराबर मांग करते रहे हैं लेकिन उनके पास ऐसे असंख्य कारण भी हैं जिनसे वे यह बता सकें कि गरीब मां-बाप को अपने बच्चों को क्यों स्कूल नहीं भेजना चाहिए। जैसा कि हमने देखा है अनिवार्य शिक्षा के खिलाफ एक बहुत प्रचलित दलील यह है कि भारत में प्रारंभिक शिक्षा इतनी दोषपूर्ण है कि मां-बाप पर, इस बात के लिए दबाव डालना, कि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजें अनुचित होगा। आमतौर पर देखा जाता है कि बच्चे पाठों को रट रहे हैं, कक्षाएं छात्राओं से भरी हुई हैं, स्कूलों में जरूरी उपकरण नहीं हैं, अध्यापकों को उचित व्यावसायिक प्रशिक्षण नहीं दिया गया है और ऐसे ढेर सारे स्कूल हैं जहां केवल एक अध्यापक से ही काम चलाया जाता है (और कभी–कभी वह अध्यापक भी गायब रहता है)। यह दलील दी जाती है कि जब तक स्कूलों का विकास न हो जाए और शिक्षा को और भी ज्यादा उपयोगी न बना दिया जाए बच्चों को स्कूल भेजने की जरूरत नहीं है। भारत में जनशिक्षा को प्राथमिकता की दृष्टि से कितना नीचे रखा गया है इसका प्रमाण इस तथ्य से ही हो जाता है कि ऊपर बतायी गयी गड़बड़ियों को दूर करने में सरकार की कोई दिलचस्पी नहीं है और अन्य विकासशील देशों के मुकाबले यहां प्राथमिक शिक्षा पर बहुत कम निवेश किया जाता है। कुछ अन्य देशों के अनुभवों से भी यही पता चलता है कि शिक्षा व्यवस्था में सुधार शिक्षा को अनिवार्य बनाने के बाद न कि पहले, किया जा सकता है।

तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय नीतियां

विभिन्न सरकारों ने किस तरह अपने यहां शिक्षा को अनिवार्य बनाया और बाल श्रम कानूनों को लागू किया, इस पर अगर हम निगाह डालें तो कई तरह की विभिन्नताएं मिलती है। केंद्रीकृत और विकेंद्रीकृत शिक्षा व्यवस्था के बीच वैधानिक दृष्टिकोणों में भी भिन्नता दिखाई देती है। स्कूली शिक्षा कितने वर्ष तक जरूरी है, किस उम्र में एक युवक को मजदूरी करनी चाहिए, शिक्षा संबंधी संसाधनों का आवंटन कैसे हो, विभिन्न कानूनों को लागू करने के लिए कैसा तंत्र हो– इन सवालों पर भी अलग–अलग देशों में अलग–अलग विचार देखने को मिलते हैं। फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं जो हर जगह समान हैं और जिनसे हम सबक ले सकते हैं। इनसे हम जो सबक ले सकते हैं वे इस प्रकार हैं:

1. अनिवार्य शिक्षा कानून आमतौर पर बाल श्रम कानूनों से पहले आते हैं और उनको लागू किये जाने से बाल मजदूरी पर या तो पूरी तरह रोक

लग जाती है या उसमें कमी आ जाती है। इसका कारण यह है कि शिक्षा संबंधी कानूनों को लागू करना, यद्यपि यह बहुत आसान नहीं है, तो भी बाल श्रम कानूनों को लागू करने के मुकाबले कम कठिन है। स्थानीय अधिकारी अपने समुदाय के बारे में जानते हैं, उन्हें यह पता होता है कि कौन स्कूल नहीं जा रहा है और वे गरीब मां-बाप पर दबाव डाल सकते हैं। इसके विपरीत कारखाना निरीक्षकों के जिम्मे हजारों कारखाने होते हैं और वे हर कारखाने का न तो निरीक्षण कर सकते हैं और न हर मालिकों के खिलाफ नियमों के उल्लंघन के कारण कार्रवाई कर सकते हैं। इसके अलावा कारखाने के मालिक और व्यापारी बड़े आराम से कारखाना निरीक्षकों को घूस दे सकते हैं जबकि गरीब मां-बाप उन अधिकारियों को घूस नहीं दे सकते जो इस बात की जांच में लगे हों कि कौन से बच्चे स्कूल नहीं जा रहे हैं।

2. प्रत्येक देश में शिक्षा को अनिवार्य बनाने का निर्णय शिक्षा नीति बनाने वालों और उसको लागू करने वालों के दृष्टिकोण पर निर्भर होता है और यह दृष्टिकोण जनशिक्षा की क्षमता के प्रति उनके विश्वास से निर्मित होता है। इस दृष्टिकोण के बनने में कई तरह की दलीलें शामिल होती हैं। उनमें से कुछ ऐसी दलीलें भी हो सकती हैं जिन पर सवाल उठाए जाएं (यह धारणा कि जनशिक्षा से किशोरों में अपराध की प्रवृत्ति कम होगी) और कुछ ऐसी भी हो सकती है जो नैतिक रूप से निंदनीय हों, (यह धारणा कि शिक्षा का प्रयोग किसी निरंकुश राज्य द्वारा वैचारिक नियंत्रण के उपकरण के रूप में किया जाएगा) जबकि अन्य धारणाएं हमारी सोच के अनुरूप हो सकती हैं (यह कि जनशिक्षा का उद्देश्य अवसरों की समानता प्रदान करना है) लेकिन यह अनिवार्य है कि सत्ताधारी अभिजात्य वर्ग जनशिक्षा के प्रति किसी भी मूल्य पर ठोस रूप से विश्वास करता हो। बिना ऐसे विश्वास के सत्ताधारी वर्ग न तो प्राथमिक शिक्षा की राष्ट्रीय व्यवस्था स्थापित करने के लिए आवश्यक संसाधन मुहैया करेगा और न वह शिक्षा को कभी अनिवार्य बनायेगा।

3. आमतौर से प्राथमिक शिक्षा को तब तक अनिवार्य नहीं बनाया जाता है जब तक बच्चों की एक बहुत बड़ी संख्या पहले से ही स्कूलों में दाखिला न ले सकी हो। अनिवार्य शिक्षा तब संभव है जब स्कूल जाने वाले आयु वर्ग के अंतिम दस से बीस प्रतिशत लोगों को भर्ती करने का काम बाकी हो और जब ज्यादा जरूरत स्कूलों में इन बच्चों के टिके रहने की समस्या से निबटने की हो। अनिवार्यता की शुरुआत से पूर्व आमतौर पर सरकारें स्कूलों का राष्ट्रीय स्तर पर एक जाल बिछा देती हैं ताकि गांवों के भी अधिकांश बच्चे आसानी से स्कूलों तक पहुंच

सकें। अध्यापकों को प्रशिक्षण दिया जाता है और ब्लैक बोर्ड्स, पुस्तकें तथा लिखाई-पढ़ाई से संबंधित अन्य सामान प्रदान किये जाते हैं। फिर भी निम्न आय वाले कई देशों में ऐसा भी हुआ है कि वहां शिक्षा को अनिवार्य कर दिया गया जबकि स्कूल की इमारतें ठीक से बनी भी नहीं थीं, अध्यापकों को उचित प्रशिक्षण प्राप्त नहीं था और उपलब्ध शिक्षा सामग्री निम्न कोटि की थी।

4. शिक्षा प्रणाली में अनिवार्यता के तत्व की शुरुआत के साथ ही (और प्रायः पहले भी) समुदाय में सभी बच्चों के लिए एक रजिस्टर रखने की बात आती है। कुछ देशों में अनिवार्य स्कूली शिक्षा की शुरुआत से पहले जन्म के पंजीकरण की व्यवस्था है। जन्म संबंधी प्रमाणपत्र आयु से सम्बद्ध सभी कानूनों को लागू करने के लिए बहुत उपयोगी है मसलन प्राथमिक स्कूलों में अनिवार्य हाजिरी, अंशकालिक रोजगार के लिए वर्क परमिट, पूर्णकालिक रोजगार और विवाह के लिए न्यूनतम आयु की जरूरत तथा सामाजिक सुरक्षा संबंधी लाभ। प्रवर्तन की कारगर प्रणाली के लिए स्कूल अधिकारियों को चाहिए कि वे ऐसे रजिस्टर बनाए जिनमें समुदाय के (उन्हें शामिल करते हुए जो हाल ही में समुदाय में शामिल हुए हैं) रहने वाले सभी बच्चों के नाम, जन्मतिथि, पता और अभिभावक का नाम दर्ज हो।

5. अनिवार्य शिक्षा को समूचे देश में अथवा चुने हुए राज्यों और स्थानीय समुदायों के बीच शुरू किया जाना चाहिए। लेकिन बेहतर यह हो कि अनिवार्य शिक्षा को समूचे देश के लिए लागू किया जाए क्योंकि इससे इसके कार्यान्वयन में आसानी होगी और इसे यह भी लाभ होगा कि एक समुदाय से दूसरे समुदाय में शामिल होने वाले बच्चे इससे वंचित नहीं रहेंगे। राजनीतिक तौर से देखें तो भी इसका औचित्य साबित करना कठिन होगा कि शिक्षा को कुछ क्षेत्रों में ही क्यों (आमतौर से शहरी क्षेत्र) अनिवार्य बनाया गया, सभी क्षेत्रों में नहीं। स्थानीय अधिकारी भी स्थानीय व्यापारियों से आसानी से प्रभावित हो जाते हैं—व्यापारियों की इच्छा यह होती है कि शिक्षा को अनिवार्य न बनाया जाए ताकि वे बाल श्रमिकों को अपने यहां रखना जारी रख सकें। इन्हीं कारणों से आमतौर पर शिक्षा को अनिवार्य बनाने का निर्णय राज्य अथवा केंद्र सरकारों द्वारा लिया जाता है न कि स्थानीय सरकारों द्वारा। जब भी शिक्षा को अनिवार्य बनाने का फैसला स्थानीय सरकारों पर छोड़ दिया गया, जैसा कि 1880 से पूर्व के इंग्लैंड में हुआ, अनिवार्य शिक्षा शुरू करने की प्रक्रिया बड़ी लंबी रही।

6. अनिवार्य शिक्षा कानूनों को सफलतापूर्वक लागू करने के लिए जरूरी है

कि स्कूल जाने वाले आयु वर्ग के सभी बच्चों को स्कूल में भर्ती कराने पर ध्यान दिया जाए और यह सुनिश्चित किया जाए कि ये बच्चे सचमुच स्कूल जा रहे हैं। केवल भर्ती करना नहीं बल्कि स्कूलों में उनका बने रहना बुनियादी शर्त है। "ड्राप आउट्स" की घटनाएं रोकने के लिए सरकार को हाजिरी अधिकारी जैसे पद पर नियुक्तियां करनी होंगी ताकि ये अधिकारी घरों में जाकर उन अभिभावकों और मां-बाप से मिल सकें जिनके बच्चे स्कूल नहीं जा रहे हैं। हाजिरी अधिकारी के रूप में अध्यापक हो सकते हैं, स्थानीय स्कूल बोर्ड अथवा स्थानीय सरकार के प्रतिनिधि हो सकते हैं या स्थानीय पुलिस विभाग से सम्बद्ध लोग हो सकते हैं। उन्हें एक रजिस्टर रखना होगा, घर-घर जाकर प्रचार करना होगा, स्कूल में हाजिरी रजिस्टर की जांच करनी होगी और अगर कोई बच्चा कई दिनों या हफ्तों तक स्कूल नहीं जाता है तो उसके घर जाकर पूछताछ करनी होगी। इन अधिकारियों की कोशिश यह होगी कि वे उन बच्चों को फिर से स्कूल आने के लिए प्रेरित कर सकें लेकिन उन्हें इस स्थिति में भी होना चाहिए कि वे मां-बाप को यह बता सकें कि अगर उनके बच्चे किसी कारण से स्कूल नहीं आते हैं (बीमारी के कारण को छोड़कर) तो यह कानून का उल्लंघन है और इसके लिए उन्हें दंडित किया जा सकता है। इन अधिकारियों को इस योग्य होना चाहिए कि वे न्यायिक अधिकारी अथवा स्थानीय मजिस्ट्रेट अथवा किसी प्रशासनिक बोर्ड के पास जाकर उन अभिभावकों और मां-बाप के खिलाफ नोटिसें जारी करा सकें जो अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेज रहे हैं। जब शिक्षा को अनिवार्य कर दिया जायेगा तो उन मां-बाप के दावों को कोई स्थान नहीं मिलेगा जो कहते हैं कि घर में काम करने या खेत में काम करने के लिए उन्हें अपने बच्चों की जरूरत है इसलिए उन्हें स्कूल जाने के लिए मजबूर न किया जाय।

7. आमतौर से व्यवहार में यह तरीका अपनाया जाता है कि शुरू में 6 से 10 अथवा 12 वर्ष के बच्चों के लिए अनिवार्य शिक्षा की शुरुआत कर दी जाती है और बाद में अलग–अलग चरणों में वह न्यूनतम आयु निर्धारित की जाती है जिसमें बच्चों को स्कूल छोड़ने की अनुमति दी जाय। शिक्षा–योजनाकार प्रारंभ में निम्न प्राथमिक विद्यालय के लिए शिक्षा को अनिवार्य करते हैं और बाद में इसे उच्च प्राथमिक विद्यालय और फिर हाई स्कूल तक के लिए अनिवार्य बनाते हैं। अनिवार्य शिक्षा के विभिन्न चरणों में विस्तार किये जाने से स्कूल के अधिकारियों को इतना समय मिल जाता है कि वे आने वाले दिनों में अधिक संख्या को अपने यहां स्थान देने लायक स्कूल का विस्तार कर सकें। चूंकि अधिकारीगण हाई स्कूलों के विस्तार की जरूरत का सामना करते हैं और तब शिक्षा में छंटनी और व्यवसायीकरण की समस्या पैदा होती है।

8. पूर्णकालिक रोजगार के लिए कानूनी तौर पर जो न्यूनतम आयु निर्धारित की जाती है वह सामान्यतः उस आयु के अनुरूप होती है जिसे स्कूल छोड़ने की न्यूनतम आयु तय किया गया है। स्कूल छोड़ने की आयु में उसी दर से वृद्धि की जा सकती है जिस दर से रोजगार में प्रवेश के लिए न्यूनतम आयु में वृद्धि हो रही हो। यदि स्कूल छोड़ने के लिए निर्धारित आयु, रोजगार में प्रवेश के लिए निर्धारित आयु से कम होगी, तो इस बात की आशंका है कि बच्चे गैर कानूनी ढंग से रोजगार की तलाश में लगेंगे और बाल मजदूरी संबंधित कानूनों को लागू करना और भी ज्यादा कठिन हो जायेगा।

9. अनेक देशों में जो बच्चे अनिवार्य स्कूली शिक्षा के न्यूनतम वर्षों को पूरा कर लेते हैं उन्हें तभी मजदूरी करने की इजाजत दी जाती है जब उनके पास वर्क परमिट हो। आयु के प्रमाण और चिकित्सा प्रमाण पत्र की भी जरूरत हो सकती है लेकिन यह पर्याप्त नहीं है। अलग–अलग देशों में वे अधिकारी भी अलग–अलग हैं जो वर्क परमिट जारी कर सकते हैं। कहीं स्कूल बोर्ड तो कहीं श्रम विभाग और कहीं स्थानीय चिकित्सा अधिकारी अथवा स्थानीय पुलिस द्वारा वर्क परमिट जारी किया जाता है। छोटे व्यापार, रेस्तरां और लघु उद्योगों के स्वामियों तथा प्रबंधकों सहित सभी मालिकों से अपेक्षा की जाती है कि वे जिनको अपने यहां रोजगार दे रहे हों, उन सभी युवकों से वर्क परमिट की मांग करें और इन वर्क परमिटों का एक रजिस्टर तैयार करें जिसे श्रम विभाग के निरीक्षक द्वारा कभी भी मांगे जाने पर उन्हें दिखाया जा सके। अगर वे इस तरह का रजिस्टर नहीं रखते हैं अथवा वे वर्क परमिट (या पंजीकरण संख्या) की एक प्रतिलिपि नहीं पेश करते हैं तो उन मालिकों को दंडित किया जा सकता है।

10 श्रम शक्ति के क्षेत्र में किसी भी पद पर प्रवेश के लिए जहां आयु और शिक्षा से संबंधित दस्तावेजों की जरूरत पड़ती है, वहीं ऐसे व्यवसायों के लिए ज्यादा लोगों की मांग रहती है जिन्हें शारीरिक अथवा मनोवैज्ञानिक तौर पर खतरनाक समझा जाता है। सरकार उन बच्चों को अंशकालिक तौर पर ऐसे उद्योगों में काम करने की इजाजत दे सकती है जो खतरनाक नहीं हैं भले ही उन्होंने स्कूली शिक्षा के लिए निर्धारित वर्ष पूरे न किये हों। लेकिन ऐसे मामलों में वर्क परमिट की जरूरत हो सकती है और कानूनी तौर पर मालिकों से कहा जा सकता है कि वे एक रजिस्टर में उन नामों को दर्ज करें और अगर वे ऐसा नहीं करते

हैं तो उन्हें दंडित किया जा सकता है।

11. काम करने वाले सभी सदस्यों को रोशनी और हवा आदि की अनुचित व्यवस्था, असुरक्षित उपकरण तथा जहरीले रसायनों आदि से समस्या पैदा हो सकती है। भले ही वे किसी भी आयु अथवा किसी भी लिंग के हों। कम उम्र के लोग चूंकि अनुभवी नहीं होते इसलिए उनके लिए प्रायः ज्यादा जोखिम होता है और ऐसे कई काम हैं जिनके लिए वे शारीरिक अथवा मनोवैज्ञानिक तौर पर तैयार नहीं रहते। इस कारण से युवकों के लिए कुछ खास किस्म के रोजगार पर सरकार प्रतिबंध लगाती है या उनके काम के घंटों को सीमित करती है और यह बात उन लोगों पर भी लागू होती है जिन्होंने स्कूली शिक्षा के न्यूनतम वर्ष पूरे कर लिए हों। लेकिन एक निम्न आय वाले देश में, जहां अनेक उद्योगों में अभी भी रोजगार की स्थितियां बहुत आदिम हैं, निरीक्षकों के लिए युवाओं द्वारा काम करने वाले स्थान में विशेष प्रावधान लागू करना बेहद कठिन है। इसलिए प्रवर्तन के कारणों को ध्यान में रखते हुए बाल श्रम कानून को कारगर ढंग से लागू करने के लिए आयु तथा वर्क परमिट से संबंधित दस्तावेज ज्यादा जरूरी है बजाय इसके कि युवाओं को काम करने के लिए शर्तों से संबंधित विशेष नियम बनाये जायें।

12. जब स्कूली शिक्षा को अनिवार्य कर दिया जायेगा तो यह शिक्षा भी राज्य द्वारा निःशुल्क दी जायेगी। स्कूल के अधिकारी यह भी कर सकते हैं कि वे निःशुल्क पाठ्य पुस्तकें प्रदान करें, स्कूली ड्रेस तैयार करायें और दोपहर का भोजन मुहैया करायें। इसी के साथ उन्हें टीका लगाने तथा स्वास्थ्य की अन्य सुविधाएं भी दी जानी चाहिए। इन उपायों का उद्देश्य बच्चों के स्वास्थ्य और उनकी खुशहाली को बढ़ाना है तथा मां-बाप पर खर्च का बोझ कम कर या समाप्त कर ऐसी स्थिति तैयार की जा सकती है कि वे अपने बच्चों को स्कूल से न हटायें लेकिन यह सारे लाभ अनिवार्य शिक्षा के पूरक नहीं हो सकते। अगर इस तरह के लाभ प्रदान नहीं किये जा रहे हों तो भी मां-बाप के लिए जरूरी है कि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजें। ऐसा भी नहीं कि बच्चों को स्कूल भेजने से उन्हें अपनी आय में जो नुकसान उठाना पड़ रहा है, सरकार उसकी भरपाई करे यद्यपि कुछ उन्नत औद्योगिक देशों में यह प्रणाली है कि वे अभिभावकों और मां-बाप को वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं ताकि वे अपने बच्चों की उचित देखभाल कर सकें।

13. पार्ट टाइम शिक्षा उपलब्ध हो सकती है लेकिन यह उन्हीं लोगों के लिए होगी जो अनिवार्य शिक्षा के लिए निर्धारित न्यूनतम आयु को पार कर चुके हों। पार्ट टाइम शिक्षा उनके लिए उपयुक्त है जिन्होंने स्कूली शिक्षा के निर्धारित वर्ष स्कूलों में बिताये तो जरूर पर अपनी शिक्षा आगे जारी रखने के लिए आवश्यक स्तर प्राप्त करने में असफल रहे। यह नवयुवकों को काम करने के साथ-साथ शिक्षा प्राप्त करने में मदद पहुंचाती है, साथ ही उस कौशल और प्रशिक्षण से उन्हें लैस करती है जो औपचारिक शिक्षा व्यवस्था में उपलब्ध नहीं है। लेकिन अगर उन बच्चों को, जो न्यूनतम आयु के नीचे हैं, पूर्णकालिक शिक्षा की जगह अंशकालिक शिक्षा की अनुमति दी गयी तो यह अनिवार्य शिक्षा संबंधी कानूनों को ही विफल करना होगा।

14. अंत में, अगर शिक्षा को अनिवार्य कर दिया जाय तो स्कूल के अधिकारी ऐसे कदम उठा सकते हैं जिनसे गरीब मां-बाप को कानून का पालन करने के लिए प्रेरित किया जा सके। सामाजिक कार्यकर्ता काम करने वाली माताओं को इस काम में मदद पहुंचा सकते हैं कि वे स्कूल न जाने वाले बच्चों के देखभाल की व्यवस्था करें और कारखानों तथा निर्माण कार्यों के पास ऐसे ''क्रेश'' बनाये जा सकें जहां छोटे बच्चों को रख दिया जाय ताकि उनसे थोड़े बड़े बच्चे, जो अब तक उनकी देखभाल के लिए स्कूल जाने से वंचित रह जाते थे, अब स्कूल जा सकें। सामाजिक तौर पर कट्टरपंथी मां-बाप की चिंता को ध्यान में रखते हुए लड़कियों को अलग स्कूलों में भर्ती किया जा सकता है या उनके लिए अलग कक्षाओं की व्यवस्था की जा सकती है। लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि स्कूल अधिकारी यह सुनिश्चित करें कि हर रोज स्कूल में अध्यापक आयें, ब्लैकबोर्ड, पुस्तकें तथा पढ़ने से संबंधित अन्य सामग्री उपलब्ध हो और बच्चे सही अर्थों में पठन–पाठन और गणित की शिक्षा ले सकें। निम्न स्तर की शिक्षा का नतीजा यह होता है कि मां-बाप अपने बच्चों को स्कूल से हटा देना ही मुनासिब समझते हैं।

इसमें कोई शक नहीं कि ऊपर जिन मुद्दों का जिक्र किया गया है उनमें से एक या दो के अपवाद हो सकते हैं लेकिन कुल मिलाकर ये मुद्दे बच्चों को श्रम की मंडी से अलग रखने और स्कूलों में स्थान देने की नीति का निर्माण करते हैं। इस नीति के दो महत्वपूर्ण तत्व हैं : ''संयोजन'' और ''अनुक्रम''। नीति संबंधी जो टुकड़े हों वे एक दूसरे के साथ पूरी तरह सम्बद्ध होने चाहिए। न्यूनतम आयु और न्यूनतम स्कूली शिक्षा से संबंधित कानूनों में एक मेल होना चाहिए, आयु संबंधी अपेक्षाओं और अनौपचारिक एवं अंशकालिक स्कूली शिक्षा के सारतत्व का संबंध औपचारिक शिक्षा प्रणाली के साथ होना ही चाहिए। श्रम विभाग द्वारा जारी किया जाने वाला वर्क परमिट तभी प्रदान किया जाना चाहिए जब उसे स्कूल से प्रमाण पत्र प्राप्त हो गया हो जहां उस युवक ने शिक्षा ग्रहण की थी। अनिवार्य शिक्षा

कानूनों को बाल श्रम से संबंधित कानूनों के प्रवर्तन से पहले होना चाहिए। काम करने के लिए निर्धारित न्यूनतम आयु को तभी बढ़ाना चाहिए जब स्कूली शिक्षा के लिए निर्धारित न्यूनतम वर्षों में वृद्धि कर दी गयी हो। स्कूल में रहने के लिए न्यूनतम वर्षों से संबंधित कानूनों में विभिन्न चरणों में परिवर्तन किया जाना चाहिए।

कुछ न करने की राजनीति

चूंकि भारत में गिने–चुने व्यक्ति ही यह मानते हैं कि शिक्षा एक कर्तव्य है इसलिए आश्चर्य नहीं कि अनिवार्य शिक्षा के पक्ष में यहां कोई भी उल्लेखनीय शक्ति व्यवस्थित ढंग से नहीं सोचती। कुछ भारतीयों का मानना है कि कारखाना मालिकों तथा अन्य व्यापारियों का एक "निहित स्वार्थ" है जो बाल मजदूरी से संबंधित कानूनों को लागू करने, शिक्षा को अनिवार्य बनाने, कृषि सुधारों को लागू करने, सिंचाई तथा ग्रामीण विकास परियोजनाओं को विकसित करने में बाधक है क्योंकि इन सारे कामों के संपन्न हो जाने से मां-बाप के लिए इस बात की कोई जरूरत ही नहीं होगी कि वे अपने बच्चों को मजदूरी करने के लिए भेजें। बेशक हर जगह व्यापारियों ने प्रायः बाल श्रम कानूनों के बनने और इनके लागू होने का विरोध किया है। मालिकों को चाहिए कम मजदूरी पर श्रम, यूनियन से मुक्ति, आज्ञाकारी मजदूर– अब वे चाहे बच्चे हों, अशिक्षित महिलाएं हों, अथवा प्रवासी मजदूर हों। सच्चाई यह है कि भारत में बड़े व्यापारिक संस्थानों के मालिकों ने बाल श्रम कानूनों का विरोध नहीं किया है क्योंकि मुख्यतः वे बाल मजदूरों को अपने यहां काम पर नहीं लगाते। बड़ी कंपनियों के मैनेजरों की अनेक शिकायतों में से एक शिकायत यह थी कि उनके यहां काम करने वाले मजदूर पर्याप्त रूप से शिक्षित नहीं हैं, बहुत सारे ऐसे मजदूर हैं जो मशीनों पर लिखे गये साधारण निर्देशों को भी नहीं पढ़ सकते। बाल मजदूरी से सबसे ज्यादा लाभ उठाने वाले तत्व हैं छोटे व्यापारी अथवा इनके प्रबंधक जो या तो सीधे-सीधे बच्चों को रोजगार देते हैं या कम लागत वाले उन उत्पादों पर निर्भर रहते हैं जिन्हें बनाने के लिए उन्होंने कुछ लोगों को ठेका दे दिया है और ठेके पर काम करने वाले इन कुटीर उद्योगों में बच्चों से मजदूरी करायी जाती है। इन छोटे उद्योगों के मालिकों का विधिकर्ताओं पर अच्छा खासा प्रभाव है और वे बड़ी कंपनियों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के खिलाफ विरोध को उकसाते हैं, छोटे "पारिवारिक" कुटीर उद्योगों और लघु उद्योगों के प्रति व्यापक तौर पर सहानुभूति अर्जित करते हैं और बाल श्रम कानूनों के विस्तार का विरोध करते हैं। जैसा हमने पहले देखा है कुछ सरकारी अधिकारी लघु उद्योगों में बच्चों के काम करने को बाल मजदूरी मानते ही

नहीं क्योंकि वे मां-बाप अथवा अन्य रिश्तेदारों द्वारा बच्चों से लिये जाने वाले काम को "शोषण" नहीं मानते।

मां-बाप के विरोध को भी भारत में निष्क्रियता के एक कारण के रूप में पेश किया जाता है। इसके अलावा तुलनात्मक साक्ष्य यह है कि दूसरी जगहों में अनेक मां-बाप जो अपने बच्चों को काम पर भेजते हैं, ऐसे अनिवार्य शिक्षा कानूनों का विरोध करते हैं जो उन्हें उनके बच्चों की आय से वंचित करता हो। विकासशील विश्व में समकालीन मामलों के हमारे ऐतिहासिक सर्वेक्षण और समीक्षा से पता चलता है कि राज्य का हस्तक्षेप मालिकों या मां-बाप की प्रवृत्तियों पर नहीं, बल्कि समाज में तथा राज्य के भीतर मौजूद अन्य समूहों द्वारा दिये गये समर्थन पर निर्भर करता है। भारत से बाहर मालिकों और मां-बाप दोनों से बच्चों को सुरक्षा दिलाने के आंदोलन में ट्रेड यूनियन नेता, सामाजिक कार्यकर्ता, अध्यापक और धार्मिक नेता हमेशा अगली कतार में रहे हैं। इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि खुद राज्य के तंत्र के भीतर ऐसे अधिकारी रहे हैं जिन्होंने शिक्षा को अनिवार्य बनाने पर जोर दिया : मसलन सेना–जो और भी ज्यादा शिक्षित तथा शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ सैनिकों की भर्ती चाहती थी, शिक्षा से संबंधित नौकरशाही–जो सार्वभौम शिक्षा के लिए पेशेवर ढंग से प्रतिबद्ध हो और राष्ट्रीय नेता–जो एक राष्ट्रीय विचारधारा एवं राजनीतिक निष्ठा के प्रचार के लिए शिक्षा के प्रसार को आवश्यक मानते थे। बच्चों के बारे में कुछ नए तरह के विचार भी देखने को मिलेः मसलन यह धारणा कि स्कूल जाने और खेलने के लिए जो बचपन के दिन हैं वे केवल खाते–पीते घरों के बच्चों तक ही सीमित न रहे बल्कि गरीबों के बच्चों को भी वह अवसर मिले, कि बच्चों के अधिकार मां-बाप से स्वतंत्र हैं और बच्चों के प्रति मां-बाप का दायित्व है और यह कि बच्चों के लिए शिक्षा उन्हें अच्छा बनाने में सहायक ही नहीं बल्कि अनिवार्य है और यह कि शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य फ्रेंच मुहावरे की भाषा में कहें तो "अप्रेन्द्रे अप्रेन्द्रे" है अर्थात बच्चों को यह सिखाना है कि वे कैसे सीखें– यह नयी आधुनिक संवेदनशीलता को व्यक्त करने वाली अवधारणा है।

धर्मिक समूह

भारत के हिंदू धार्मिक समूह कभी भी जनशिक्षा के प्रसार में सक्रिय नहीं रहे–बेशक ईसाई मिशनरियों का खतरा जब दिखाई देता था तभी वे सक्रिय होते थे। हिंदूवाद कमजोर धर्मशास्त्र वाला धर्म है (मूलतः यह पौराणिक कथाओं वाला धर्म है) और इसने साधारण व्यक्तियों द्वारा धर्मग्रन्थों में महारत हासिल करने को कभी महत्व नहीं दिया। मिथकों को मौखिक तौर

पर एक दूसरे को सुनाया जाता रहा और गीतों, नृत्यों तथा पुजारियों, संन्यासियों और साधुओं के सस्वर पाठों के जरिए लोगों तक पहुंचाया जाता रहा। केवल ब्राह्मणों तथा सवर्ण हिंदुओं से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे वेदों तथा अन्य धर्मग्रन्थों का ज्ञान रखें। जहां तक निम्न जातियों का संबंध है, उनके लिए इन मिथकों की जानकारी रखना, धार्मिक सभाओं में धार्मिक गीतों को गाना और जरूरत पड़ने पर स्मृति के आधार पर पुराणों की बातों को दुहराना पर्याप्त समझा जाता था। वस्तुतः अनेक कट्टर सवर्ण हिंदू यह मानते हैं कि निचली जाति के लोग अगर पवित्र ग्रंथों का पाठ करते हैं तो यह एक धर्म विरोधी कृत्य है। उनकी निगाह में लड़कियों का लिखना पढ़ना भी अधार्मिक कृत्य है। इस अवधारणा को कि निचली जाति के लोगों का शिक्षा प्राप्त करना अनावश्यक (यहां तक कि अवांछनीय) है, खंडन आसानी से स्कूल के अध्यापकों ने भी नहीं किया क्योंकि इनमें से अनेक यह मानते हैं कि निम्न जाति के बच्चे पढ़ाई लिखाई के मामले में बिलकुल बेकार हैं। शिक्षित भारतीयों के अंदर यह चिंता भी देखने को मिली है कि स्कूलों में किताबी ज्ञान पाने के बाद निचली जातियों और वर्गों के लोग छोटे काम करना बंद कर देंगे और सफेदपोश नौकरियों की ओर भागेंगे।

शिक्षा अधिकारी और अध्यापक

दुनिया के अन्य देशों में शिक्षण संस्थानों के सदस्य मसलन शिक्षाविद्, शिक्षा विभागों और मंत्रालयों के अधिकारी, अध्यापकों की यूनियनें, स्थानीय स्कूल बोर्ड आदि ने शिक्षा को सार्वभौम और अनिवार्य बनाने के लिए दबाव डाला है। यह सही है कि इन समूहों के बीच विभाजन एक सामान्य बात है और शैक्षिक सुधार से संबंधित अनेक मुद्दों पर शिक्षा संस्थानों के लोग खासतौर से अध्यापकगण प्रायः परिवर्तन के विरोधी रहे थे। फिर भी शिक्षा व्यवस्था के विस्तार और अनिवार्य शिक्षा के शुरू किये जाने के पक्ष में जोरदार ढंग से दलीलें पेश करने वाले भी शैक्षणिक संस्थानों के भीतर के लोग ही हैं। भारत में शिक्षादाताओं की भूमिका काफी अलग किस्म की है। उस भूमिका का वर्णन करते समय मैं चाहूंगा कि स्वर्गीय जे.पी. नायक को विस्तार से उद्धृत करूं जिन्होंने अपने एक गंभीर लेख में शैक्षिक सुधारों की शक्तियों का मूल्यांकन किया था।

जे.पी. नायक ने इस तथ्य को रेखांकित किया कि पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा के लिए जो धनराशि निर्धारित की जाती रही है उसमें एक योजना से दूसरी योजना तक काफी गिरावट आती गयी, कि यह निर्धारण कभी भी शिक्षा को सबको सुलभ कराने के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं था और यह कि शिक्षा संबंधी बजट का एक बहुत बड़ा हिस्सा माध्यमिक और

उच्च शिक्षा पर खर्च होता रहा। उनका सवाल है कि शिक्षा में परिवर्तन की भूमिका कौन निभायेगा?

> शिक्षा आयोग (1966) का मानना था कि नई शिक्षा प्रणाली में परिवर्तनकारी शक्तियां मुख्य रूप से अध्यापकों, छात्रों और शिक्षा प्रशासकों के बीच से आयेंगी और अगर राज्य सरकार ने इसमें नेतृत्व संभाला तथा वित्तीय साधन मुहैया कराया तो इन तीन समूहों द्वारा शिक्षा का आवश्यक रूपांतरण संभव हो सकेगा.... मैं देखता हूं कि पिछले 12 वर्षों में यह सोच सही साबित नहीं हुई है। मैं यह मानने को तैयार नहीं हूं कि शिक्षा में परिवर्तनकारी भूमिका अध्यापक निभा सकते हैं.... अगर आप शैक्षिक सुधार का प्रस्ताव लाते हैं तो अध्यापकों के लिए और भी ज्यादा काम करना अपेक्षित हो जाता है और मुझे यह दुख के साथ कहना पड़ता है कि इन सुधारों का विरोध अन्य लोगों के मुकाबले अध्यापकों की ओर से ज्यादा होता है।.. यह एक थोथी अवधारणा है कि छात्र और अध्यापक शिक्षा में परिवर्तन की शक्ति हो सकते हैं अथवा यह कि शिक्षा प्रशासक इस भूमिका को निभा सकते हैं।[12]

राज्य सरकारों को अपने-अपने प्रदेशों में दीर्घकालीन शैक्षिक योजनाएं विकसित करने के लिए मनाने में, नायक ने अपने असफल प्रयासों का वर्णन किया है लेकिन निष्कर्ष रूप में यह बताया है कि राज्य इसलिए अनिच्छुक थे कि इससे उन्हें शिक्षा के मद में कुछ वित्तीय संकल्प करने पड़ते जिसके लिए वे तैयार नहीं थे। उनका कहना है कि "जैसा कि पहले की नजीरों से पता चलता है, राज्य हो अथवा केंद्र, शिक्षामंत्री के पद पर उसी व्यक्ति को आमतौर से चुना जाता है जो राजनीतिक तौर से बहुत कमजोर या सामान्य हो। यहां तक कि योजना आयोग के सदस्य के रूप में भी कमोबेश यही बात देखने को मिलती है... दरअसल मैंने अब यह उम्मीद छोड़ दी है कि योजना आयोग कभी भी दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर कोई योजना बनायेगा।[13]

चित्रा नायक ने इस विषय पर लिखते हुए कि प्राथमिक शिक्षा को क्यों नहीं सबके लिए सुलभ किया गया, अध्यापकों की उदासीनता पर टिप्पणी की।

> इन बच्चों (आदिवासी और गरीब ग्रामीण परिवारों के बच्चे) में से अधिकांश ने अनिवार्य शिक्षा कानूनों से बचने के लिए बस अपना नाम निकट के किसी प्राइमरी स्कूल में लिखवा लिया और इसके पीछे इनका इरादा यही था कि वे स्कूल नहीं जायेंगे। आमतौर पर अध्यापक भी उनकी चाल में शामिल हो जाते हैं क्योंकि उनके लिए भी यह अच्छा ही रहता है कि दाखिला– रजिस्टर में तो नाम ज्यादा रहें पर कक्षा में हाजिरी कम हो। इससे वे प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के बारे में "उच्च अधिकारियों" को अच्छी रिपोर्टें तो भेज देते हैं और उन पर पढ़ाई का बोझ भी नहीं रहता। यह व्यवस्था सभी संबद्ध लोगों के लिए सुविधाजनक रहती है– बच्चों, मां-बाप, अध्यापकों और यहां तक कि शिक्षा अधिकारियों के लिए भी, जिनके लिए दाखिले के आंकड़े प्रगति संबंधी रिपोर्ट तैयार करने में काफी उपयोगी होते हैं। समय–समय पर गैरहाजिर रहने वाले बच्चों में से कुछ का नाम काट दिया जाता

है और इस प्रकार निर्धारित नियमों का भी पालन हो जाता है। आदिवासी और ग्रामीण क्षेत्रों में संचार संबंधी सुविधाएं अपर्याप्त होने के कारण व्यक्तिगत जांच पड़ताल संभव नहीं हो पाती और ऐसी रिपोर्टों पर निर्भर रहना पड़ता है जिनकी पुष्टि नहीं की जा सकती।[14]

केंद्र सरकार के और कुछ राज्यों के (तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल, आंध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र और गुजरात) शिक्षा अधिकारियों से खुद बातचीत करने के बाद मैं जे.पी. नायक और चित्रा नायक की बातों का पूरी ताकत के साथ समर्थन कर सकता हूं। यह स्पष्ट नहीं हो पा रहा है कि शिक्षण प्रतिष्ठान आखिर क्यों प्राथमिक शिक्षा के प्रसार जैसे मुद्दे पर भी इतना दकियानूस हैं? बेशक इसकी एक तर्कसंगत व्याख्या यह हो सकती है कि स्कूलों में हाजिरी बढ़ने का विरोध अध्यापक इसलिए करते होंगे क्योंकि उन पर बोझ बढ़ जायेगा। लेकिन ऐसा भी तो होता है कि शहरी क्षेत्रों के अनेक अध्यापक निजी तौर पर ट्यूशन पढ़ाते हैं और अगर गरीब छात्रों के दाखिले की संख्या बढ़ती है तो उनका ट्यूशन तो इससे बढ़ेगा नहीं। इसके विपरीत अनिवार्य शिक्षा के लिए जोर देकर और पत्रकारों तथा राजनीतिज्ञों का सहयोग लेकर शिक्षण प्रतिष्ठान अध्यापकों, प्रधानाध्यापकों तथा नौकरशाहों के हित में शिक्षा बजट में उल्लेखनीय वृद्धि कर सकते हैं। अनेक देशों में शिक्षण प्रतिष्ठानों को ठीक इसी तरह काम करके सफलता मिली है। लेकिन इससे भी खास बात यह है कि भारत में शिक्षण प्रतिष्ठानों की निष्क्रिय और नकारात्मक भूमिका को यहां वर्णित प्रवृत्तियों के संदर्भ में देखने की जरूरत है। ग्रामीण और म्युनिसिपल स्कूलों के जिन अध्यापकों से मैं मिला उनमें से कुछ प्रशंसात्मक अपवाद सहित, किसी को भी बीच में पढ़ाई छोड़ देने वाले छात्रों (ड्राप आउट्स) को लेकर चिंता नहीं थी, सभी अध्यापन कार्य को अलाभदायक पेशा मानते थे, उन्हें इससे कोई सरोकार नहीं था कि वे जो पढ़ा रहे हैं उसे उनके छात्र समझ पा रहे हैं या नहीं। वे विज्ञान को भी मनुष्य की सोच को बदलने वाले विषय के रूप में नहीं बल्कि इस रूप में देखते थे जिसे रटा और याद किया जाय और कक्षा में अलग-अलग बच्चों पर वे कभी ध्यान नहीं देते। प्राइवेट स्कूलों के अध्यापक प्रायः इनसे भिन्न मिले। इन स्कूलों की आर्थिक हालत भी अच्छी थी और यहां सवर्ण छात्र थे। यहां ड्राप आउट्स की संख्या गिनीचुनी थी और यहां के छात्र उच्च शिक्षा के लिए जाते थे।

अध्यापकों के अंदर अध्यापन कार्य के प्रति कितनी हिकारत है, इसका अपने पेशे के प्रति अध्यापकों के रुख के अध्ययन से पता चलता है। 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में टाटा इंस्टीट्यूट आफ सोशल साइंसेज, बंबई द्वारा प्राइमरी स्कूल के अध्यापकों पर किए गए एक अध्ययन से पता चलता है कि अध्यापकों का एक बडा हिस्सा अपने पेशे को अपने पिता के पेशे के बराबर

अथवा उससे कम मानता था। इस अध्ययन से यह भी पता चला कि पुरुष अध्यापकों का बहुमत और अध्यापिकाओं में से अनेक अध्यापन की बजाय कोई और पेशा चुनना चाहते थे और कइयों को उम्मीद थी कि वे जल्दी ही किसी दूसरे पेशे को अपना लेंगे। जैसा कि एक अध्ययनकर्ता ने बताया –"इस प्रकार उपरोक्त आंकड़ों के आधार पर कहा जा सकता है कि छोटे बच्चों को पढ़ाने में लगे हमारे अध्यापकों में से आधे ऐसे हैं जो अपने मौजूदा पेशे में मन से नहीं लगे हैं।"[15]

इन अध्ययनों का एक अत्यंत दिलचस्प निष्कर्ष यह है कि स्कूलों के जिन प्रधानाध्यापकों का सर्वेक्षण किया गया (पश्चिम बंगाल में 66 प्रतिशत) उनमें से अधिकांश ने कहा कि छात्र स्वतंत्र चिंतन में असमर्थ हैं। 63 प्रतिशत प्रधानाध्यापकों का यह भी विश्वास था कि जाति और शैक्षिक कार्य संपादन के बीच एक संबंध है और 59 प्रतिशत अध्यापक तथा 37 प्रतिशत अध्यापिकाएं यह सोचती थीं, कि "उच्च जाति के लोगों का काम दूसरों से बेहतर होता है।"[16]

महाराष्ट्र में किये गये इसी तरह के एक अध्ययन में बताया गया कि 46 प्रतिशत अध्यापकों की यह धारणा है कि उच्च जातियों के छात्र निम्न जातियों के छात्रों के मुकाबले पढ़ाई में बेहतर हैं और 43 प्रतिशत अध्यापकों ने अपने छात्रों के बारे में कहा कि वे "स्वतंत्र ढंग से सोचने में अक्षम हैं।" उल्लेखनीय यह है कि ये विचार आमतौर से सवर्ण अध्यापकों के हैं– अनुसूचित जातियों अथवा अन्य निम्न जातियों के जो थोड़े अध्यापक हैं उनकी अपने छात्रों के बारे में अच्छी छवि है।[17]

महाराष्ट्र और पश्चिम बंगाल दोनों राज्यों के सर्वेक्षणों में बताया गया कि अध्यापकों की यह व्यापक धारणा है कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को "अच्छा नागरिक या सभ्य सुसंस्कृत नागरिक" बनाना है। दोनों अध्ययनों में बताया गया कि अध्यापकों और प्रधानाध्यापकों का मानना है कि इस लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया गया।[18] दोनों में से किसी भी सर्वेक्षण में अध्यापकों या प्रधानाध्यापकों ने बच्चों की आर्थिक स्थिति में सुधार को शिक्षा का लक्ष्य नहीं माना।

खुद के प्रति, अपने अध्यापन कार्य के प्रति और अपने छात्रों के प्रति (खास तौर से निम्न जाति के) अध्यापकों और प्रधानाध्यापकों के अंदर जो हिकारत का भाव है, उसकी झलक शिक्षा विभाग और मंत्रालय के प्रति अधिकारियों और राजनीतिज्ञों की हिकारत में दिखाई देती है। राज्य शिक्षा विभागों के सचिव, जो सर्वोच्च पद है, प्रायः एक मंत्रालय से दूसरे मंत्रालय में स्थानांतरित होते रहते हैं और शिक्षा में न तो उनकी कोई दिलचस्पी है और न विशेषज्ञता। वे इस नियुक्ति को निम्न स्तर की नियुक्ति मानते हैं,

संक्रमणकालीन (ऐसी उम्मीद करते हैं) मानते हैं और सोचते हैं कि वित्त जैसे सम्मानजनक विभाग में नियुक्ति से पूर्व की यह नियुक्ति है। जो अधिकारी कई वर्षों से इन विभागों में पड़े हैं वे प्राथमिक विद्यालयों के सामने उत्पन्न गंभीर समस्याओं को हल करने में कतई दिलचस्पी नहीं लेते। और शिक्षा मंत्री, जैसा कि जे.पी. नायक ने कहा, आमतौर से राजनीतिक रूप से सबसे हल्का व्यक्ति होता है, जिसकी शैक्षिक सुधार और विकास में न तो कोई दिलचस्पी होती है और न वह इसे करने में सक्षम ही होता है। यह खासतौर से ध्यान देने की बात है कि जिस भी केन्द्रीय राज्य, जिला या म्युनिसिपल शिक्षा अधिकारी से मैं मिला उसमें से एक ने भी अनिवार्य शिक्षा के पक्ष में नहीं कहा। अधिकारियों ने बार–बार शिक्षा को कर्तव्य नहीं बल्कि अधिकार कहा और सवाल करने पर इस विचार के प्रति आपत्ति प्रकट की कि मां-बाप के एतराज की अनदेखी करते हुए सरकार बच्चों को स्कूल जाने के लिए मजबूर करे। बार–बार अधिकारियों ने कहा कि बच्चों के श्रम पर मां-बाप का अधिकार है और सरकार को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

मजदूर संघों के लोग

यद्यपि भारत के कुछ ट्रेड यूनियन नेता बाल श्रम के खिलाफ बोलते हैं पर यूनियनों ने बाल श्रम कानूनों को लागू करने के लिए राज्य सरकारों पर दबाव डालने में कोई भूमिका नहीं निभायी है। मिसाल के तौर पर तमिलनाडु को लें– यहां यद्यपि अखबारों में काफी बहस चली कि शिवाकासी के माचिस उद्योग में बाल श्रम कानूनों को लागू करने में राज्य सरकार विफल रही है पर किसी भी ट्रेड यूनियन ने इस बहस में हिस्सा नहीं लिया। जैसा कि हमने पहले कहा है, विश्व के अन्य हिस्सों में बाल मजदूरी के खिलाफ आंदोलन में ट्रेड यूनियनें हमेशा सक्रिय रहीं हैं। यूनियन नेताओं और यूनियन कार्यकर्ताओं का मानना था कि बच्चों को मजदूरी के काम में लगाना यूनियनों (चूंकि बच्चों को यूनियन में शामिल नहीं किया जा सकता) और मजदूरों दोनों के लिए नुकसानदेह है क्योंकि बाल मजदूरी के कारण वेतन/मजदूरी में कमी आती है और वयस्क मजदूरों को रोजगार के अवसर से वंचित रहना पड़ता है। इस विरोध के पीछे नैतिक कारण भी थे क्योंकि ट्रेड यूनियन नेताओं ने मिठाई की दुकानों पर काम करने वाले बच्चों के प्रति किये जा रहे व्यवहार पर अपना रोष प्रदर्शित किया।

भारत में क्यों यूनियनें आमतौर पर बाल मजदूरी के प्रति उदासीन रहती हैं? एक कारण तो यह है कि कुटीर उद्योगों और छोटे कारखानों तथा व्यापारों में जहां बच्चे काम करते हैं, यूनियनें हैं ही नहीं। लेकिन उन गिने चुने उद्योगों में भी, जहां यूनियनें और बाल मजदूर दोनों हैं (जैसे बागानों

में), यूनियन नेताओं ने कभी भी बाल मजदूरी कानूनों को लागू करने के लिए दबाव नहीं डाला। इन उद्योगों में यूनियन नेता और यूनियन के सदस्य मालिकों द्वारा अपनाई जाने वाली उस नीति को ही अपनी स्वीकृति देते हैं जिसके तहत रोजगार में मौजूदा कामगारों के बच्चों को प्राथमिकता दी जाती है। चाहे बागान मजदूर हों, खेतिहर मजदूर अथवा लघु उद्योगों में काम करने वाले मजदूर, उनके खुद के बच्चों को ही मालिकों द्वारा नौकरी पर रखा जाता है। मजदूर लोग अपनी नौकरियों को एक सम्पत्ति की तरह देखते हैं जिस पर उनका स्वामित्व है, जिसे वे अपने बच्चों के साथ बांटते हैं और फिर अपने बच्चों को सौंप देते हैं। अधिकारीगण जब रोजगार में "अप्रेंटिसशिप" की बात करते हैं तो उनका तात्पर्य यह होता है कि बच्चों को मजदूरी देकर रखा जाय और उसी काम के लिए प्रशिक्षण दिया जाय जो उनके मां-बाप करते रहे हैं। जैसा कि एक अधिकारी ने मुझसे कहा, "मां-बाप यही चाहेंगे कि उनका बच्चा भी वही काम करे जो वे कर रहे थे।" भारत में निम्न आयुवर्ग के लोगों के बीच यह एक आम धारणा है कि बच्चों को वही काम करना चाहिए जो उनके मां-बाप करते रहे हैं। यह एक यथार्थवादी विचार है क्योंकि निम्न आय वर्ग के अधिकांश लोगों के पास आर्थिक अवसरों का अभाव है और यही वह विचार है जिसे व्यापक तौर पर ट्रेड यूनियन नेता और सरकारी अधिकारी भी मानते हैं। निश्चय ही अनिवार्य शिक्षा के प्रति एक आपत्ति यह है कि कुछ वर्षों की स्कूली शिक्षा से ऐसी कोई नौकरी मिलने में मदद नहीं मिलेगी जो उनके मां-बाप द्वारा की जा रही नौकरी से बेहतर हो। चाय बागानों के मजदूरों और ट्रेड यूनियनवादियों के बीच यह धारणा पायी जाती है कि चाय की पत्तियां चुनने वालों के बच्चे भी वही काम करने की उम्मीद कर सकते हैं और इसीलिए उन्हें यह काम जितनी जल्दी संभव हो शुरू कर देना चाहिए। यूनियन नेताओं का मानना है कि अगर बच्चे लम्बे समय तक मजदूरी के काम से अलग रहेंगे तो बागान के मैनेजर दूसरे मजदूरों को काम दे देंगे। इसके अलावा एक धारणा यह भी है कि "शिक्षित" बच्चे शायद बागान के काम के लिए ठीक न हों। इसलिए उन्होंने बागानों में काम करने के लिए न्यूनतम आयु सीमा (12 वर्ष) को बढ़ाने पर कभी जोर नहीं दिया।

संक्षेप में कहें तो अधिकांश मां-बाप, मालिक, अध्यापक और शिक्षा अधिकारियों की ही तरह ट्रेड यूनियन नेता भी उसी सामाजिक व्यवस्था को मानते हैं जो सामाजिक पुनर्उत्पादन के सिद्धान्तों से निर्देशित होती है। श्रम की मंडी में प्रारंभिक अवस्था में ही प्रवेश कर बच्चे भी सर्वोत्तम ढंग से उस भूमिका को निभा सकते हैं जो उनके मां-बाप निभाते रहे हैं। सामाजिक पुनर्उत्पादन में शिक्षा का नाममात्र के लिए योगदान होता है– यह बच्चों

और उनके मां-बाप के अंदर वैकल्पिक व्यवसायों और सामाजिक रुतबे की अयथार्थवादी आंकाक्षाएं पैदा कर सकती है।

सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय कार्यकर्ता

भारत में "सामाजिक कार्यकर्ता" शब्द बहुत सतही ढंग से सामाजिक कार्यों में लगे उन लोगों के लिए इस्तेमाल किया जाता है जो गैर सरकारी संगठनों के साथ काम कर रहे हैं अथवा जो स्वेच्छापूर्वक गरीबों के बीच सामाजिक कार्य कर रहे हैं। अनेक सामाजिक कार्यकर्ता गांधीवादी दृष्टिकोण से काम करते हैं, कुछ वामपंथी विचारों से प्रेरित हैं, कुछ हिन्दू सामाजिक सुधार आंदोलनों के बीच से निकलकर आये हैं और कुछ ईसाई धर्म मानने वाले हैं। चूंकि भारत सरकार और विदेशी दानदाता एजेंसियों ने गैर सरकारी संगठनों को कुछ वित्तीय सहायता दी है इसलिए हाल के वर्षों में ऐसे कार्यकर्ताओं की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। भारतीय समाज में व्याप्त अन्याय से क्रुद्ध होकर अनेक छात्र सक्रिय कार्यकर्ता बन गये, उन्होंने भोपाल के गैस पीड़ितों को संगठित करने के प्रयासों में हिस्सा लिया, बड़े–बड़े ठेकेदारों द्वारा पेड़ों को काटने से रोकने में आदिवासियों के साथ मिलकर काम किया और स्वरोजगार में लगी महिलाओं को संगठित किया। बाल श्रम पर सरकार की नयी नीतियों के विरोध में सामाजिक कार्यकर्ता लगभग अकेले खड़े दिखे। उनका नैतिक रोष आमतौर पर मालिकों के खिलाफ होता है जो बच्चों का शोषण करते हैं, नौकरशाहों के खिलाफ होता है जो मालिकों के साथ सांठ–गांठ करते हैं और सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था के खिलाफ होता है जिसने गरीब लोगों का एक विशाल वर्ग पैदा किया है। लेकिन ये सामाजिक कार्यकर्ता परस्पर विरोधी मूल्यों के कारण अनिवार्य शिक्षा के लिए दबाव डालने और प्रमुख भूमिका निभाने से बचते रहे। वे लघु और कुटीर उद्योगों के जबर्दस्त हिमायती हैं क्योंकि इनसे काफी लोगों को रोजगार मिलता है यद्यपि यही वह क्षेत्र भी है जहां सबसे ज्यादा बच्चे काम करते हैं। वे इस बात से भयभीत हैं कि कुछ उद्योगों में (मसलन माचिस उद्योग) अगर बाल मजदूरी को समाप्त कर दिया गया तो बहुराष्ट्रीय कंपनियों के सामने स्पर्धा में इन उद्योगों का टिके रहना मुश्किल हो जायेगा। वे इस धारणा को स्वीकार करते हैं कि गरीब लोगों को अपने बच्चों को रोजगार में लगाने का अधिकार है यद्यपि इस "अधिकार" का तात्पर्य यह है कि राज्य को मां-बाप के एतराज की अवहेलना करते हुए बच्चों को स्कूल जाने के लिए मजबूर नहीं करना चाहिए। और कुछ तो गरीबों के बच्चों को पर्याप्त रूप से शिक्षा देने में विफल रहने के कारण स्कूलों के खिलाफ इस हद तक बौखलाये हुए थे कि वे उन मां-बाप के प्रति

हमदर्दी रखते हैं जो अपने बच्चों को स्कूल से हटा लेते हों भले ही इससे उनके बच्चे निरक्षर क्यों न बने रहें। अनेक सामाजिक कार्यकर्ताओं की धारणा है कि बाल मजदूरी की तभी समाप्ति हो सकती है जब सरकार ग्रामीण रोजगार का विकास करे, कुटीर और घरेलू उद्योग फलें-फूलें और स्कूलों को ज्यादा विकसित किया जाय तथा और भी ज्यादा उपयोगी बनाया जाय। इनमें से कुछ सामाजिक कार्यकर्ता क्रांतिकारी विचारों के हैं जो यह नहीं मानते कि बाल मजदूरी को समाप्त किया जा सकता है अथवा जो यह मानते हैं कि "बुनियादी ढांचे में परिवर्तन" लाये बिना भारत के गरीबों की स्थिति में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं किया जा सकता। अर्थात वे एक अपरिभाषित समाजवादी क्रांति की बात करते हैं। इस संदर्भ में वे मार्क्स के इस विचार से इत्तफाक करते हैं कि बाल मजदूरी पूंजीवादी व्यवस्था का अभिन्न अंग है और जब तक निजी सम्पत्ति तथा शोषण का अस्तित्व बना रहेगा, बाल मजदूरी भी जारी रहेगी। सामाजिक कार्यकर्ता सामाजिक व्यवस्था के आलोचक हैं लेकिन गरीबों के बच्चों की स्थिति में सुधार के लिए, कुछ अपवादों को छोड़कर, उनमें से किसी के पास कोई काम लायक एजेंडा नहीं है।

अनुसंधान में लगे लोग

विद्वान शोधकर्ताओं ने भारत में बाल मजदूरी के प्रश्न पर ठोस अनुभव सिद्ध विद्वतापूर्ण कार्य किया है। कुछ खास–खास उद्योगों में बाल मजदूरी की स्थितियों पर अद्‌भुत अध्ययन सामने आये हैं मसलन बीड़ी उद्योग, माचिस उद्योग, चूड़ी उद्योग, पीतल के बर्तन उद्योग, कांच उद्योग। इन अध्ययनों में उन प्रभावों को दर्ज किया गया है जो बाल श्रम के कारण बच्चों के स्वास्थ्य और खुशहाली पर पड़ता है, भविष्य के रोजगार की संभावनाओं की जानकारी देता है और स्कूल जाने के मुकाबले मजदूरी करने से होने वाली आय पर बाल श्रम का क्या प्रभाव पड़ता है? ड्राप आउट्स के बारे में अनेक अध्ययन मिलते हैं– वे कौन हैं, उन्होंने क्यों पढ़ाई छोड़ी, वे बाद में क्या करने लगे? ये अनुसंधान बहुत ही अच्छे हैं और कभी–कभी तो उन अनुसंधानों के मुकाबले उल्लेखनीय रूप से बेहतर हैं जो इंग्लैंड और अमरीका में उस समय किये गये थे जब बाल श्रम पर इन देशों में सार्वजनिक रूप से आलोचनाओं का दौर चल रहा था। भारतीय शोधपत्र गंभीर पत्रिकाओं में अथवा अंतर्राष्ट्रीय तत्वावधान में प्रकाशित होते हैं तथा हाल के वर्षों में इनके कुछ निष्कर्षों ने अखबारों में भी जगह पायी है और जनता का ध्यान आकर्षित किया है। लेकिन अनुसंधान के इन निष्कर्षों का उन लोगों द्वारा इस्तेमाल नहीं किया गया है जो वैधानिक तौर पर परिवर्तन लाने का प्रयास

कर रहे हैं। शायद ही कोई ऐसा अनुसंधान हो जो ट्रेड यूनियनों, अध्यापकों की यूनियनों, धार्मिक संस्थाओं अथवा बाल श्रम विरोधी संगठनों द्वारा संचालित या वित्तपोषित हो जैसा कि अमरीका और इंग्लैंड में हुआ था।

भारत में सरकार के अंदर अथवा सरकार के बाहर कोई भी प्रमुख समूह इस बात से सरोकार नहीं रखता कि बाल मजदूरी से संबंधित कानूनों को लागू किया जाय अथवा शिक्षा को अनिवार्य बनाने पर जोर दिया जाय क्योंकि किसी भी समूह के पीछे धार्मिक, वैचारिक, नैतिक अथवा यहां तक कि स्वहित की भावना भी नहीं काम करती है। इसका नतीजा यह है कि जो अधिकारी केन्द्र और राज्य के बजट तैयार करते हैं, वे सालाना शैक्षिक बजट में मामूली सा परिवर्तन कर देते हैं, राज्य के शिक्षा और श्रम मंत्रालयों के अधिकारी कानूनों को कड़ाई के साथ लागू करने में कोई दिलचस्पी नहीं लेते, प्रशासक लोग मौजूदा कानूनों को लागू करने के प्रति अपनी रुचि नहीं दिखाते, राज्य और स्थानीय सरकारें प्राथमिक शिक्षा पर ध्यान नहीं देतीं और बच्चे "ड्राप आउट्स" की श्रेणी में पहुंचते रहते हैं पर अध्यापकों का आलस्य नहीं टूटता।

कुछ न करने की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और जनसांख्यकीय लागत दिखाई नहीं देती, जिसका परिणाम यह होता है कि कुछ ही भारतीय, भारत के बच्चों की स्थिति को ऐसी समस्या के रूप में देखते हैं जिसके लिए सरकारी स्तर पर कार्रवाई की जरूरत है। चूंकि इस मुद्दे को विरोधी दलों द्वारा अथवा देश के अंदर सक्रिय किसी महत्वपूर्ण समूह द्वारा नहीं उठाया जाता, सरकारी अधिकारी ऐसा कोई दबाव महसूस नहीं करते जिससे वे कार्रवाई करने के लिए मजबूर हों। श्रम की मंडी से बड़ी संख्या में वयस्क मजदूर हटते जा रहे हैं क्योंकि उनका स्थान बाल मजदूरों ने ले लिया है लेकिन गरीब लोग बच्चों को रोजगार में लगाने के फायदों को ही देख पाते हैं। जब तक बाल मजदूरी बरकरार है इन परिवारों को कम बच्चे पैदा करने के लाभ का पता नहीं चलेगा। शिक्षित महिलाओं के मुकाबले अशिक्षित महिलाएं जन्म दर के बढ़ने के बारे में कम चिंतित रहती हैं। 45 करोड़ से भी अधिक भारतीय लिखित शब्दों से वंचित रहते हैं और नये ज्ञान तथा नये कौशल को अर्जित करने की भारतीय आबादी की क्षमता को भयंकर दुष्परिणाम झेलने पड़ते हैं। यहां के किसान खेती से संबंधित उपयोगी सामग्री को पढ़ नहीं सकते, अनेक मजदूर कारखानों में सुरक्षा संबंधी निर्देशों को नहीं पढ़ सकते और निरक्षर महिलाएं यह समझ ही नहीं सकतीं कि स्वास्थ्य की रक्षा से संबंधित पुस्तिकाओं में क्या लिखा हुआ है। जो लिख पढ़ सकते हैं और जो लिखना पढ़ना नहीं जानते उनके बीच जो खाई है, वह भारत की असमान श्रेणीबद्ध सामाजिक व्यवस्था को और मजबूत बना

रही है। नौकरशाही, पुलिस या अदालत से निबटने के मामले में निरक्षर लोग दूसरों पर निर्भर रहते हैं। और वे, जिन पर यह निर्भरता रहती है, निरक्षरता को कोई समस्या नहीं मानते। इसमें कोई शक नहीं कि जो शिक्षित हैं, वे उन लोगों को बेहतर ढंग से नियंत्रित रख सकते हैं, जो पढ़ नहीं सकते क्योंकि बिना पढ़ा लिखा आदमी अपने कानूनी अधिकारों को नहीं जानता और गैर सरकारी संगठन गरीबों को उनके अधिकारों की जानकारी देने के प्रयास में अक्षम हैं।

तब फिर संविधान में अनिवार्य शिक्षा और बाल श्रम के संदर्भों और इनसे संबंधित विभिन्न कानूनों की किस तरह व्याख्या की जाए? क्योंकि एक के बाद एक सरकारी आयोग सार्वभौम अनिवार्य शिक्षा के प्रति बार-बार सरकार से अपने संकल्प को दोहराता है। शिक्षा से संबंधित सरकारी दस्तावेज ऐसी सूक्तियों से भरे रहते हैं जिन्हें देखकर कोई भी यह विश्वास कर लेगा कि जन शिक्षा के प्रति भारतीय बेहद प्रतिबद्ध हैं– क्योंकि इन रिपोर्टों में कहा जाता है कि "जनतांत्रिक मूल्यों", "आत्म निर्भरता और आत्मविश्वास से भरे लोगों", "सामाजिक विकास", विकास के लिए आवश्यक "मानव संसाधन" और "राष्ट्रीय एकता" के लिए शिक्षा एक अनिवार्य तत्व है।

शिक्षा एवं अन्य सामाजिक मुद्दों से संबंधित, लागू न किये जाने वाले कानूनों की भरमार से परेशान होकर भारत के एक प्रमुख विधिवेत्ता उपेंद्र बख्शी ने लिखा कि भारत में "हर समस्या के लिए एक कानून है।" उन्होंने आगे कहा कि भारत में मिलावट, कारखानों में सुरक्षा, बाल मजदूरी, न्यूनतम मजदूरी और बंधुआ मजदूरी से संबंधित इतने सारे कानून हैं कि उन्हें देखने से लगता है कि यह एक ऐसा सुव्यवस्थित समाज है जिसकी राज्य मशीनरी असहाय, निर्बल और गरीबों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए पूरी तरह समर्पित है। बख्शी का कहना है कि भारत में नियमों को तय करने के लिए कानून का एक प्रतीकात्मक महत्व है लेकिन इन नियमों को लागू करने के साधन के रूप में कानून का शायद ही कोई सरोकार हो। विधान तथा उन मनमाने तरीकों को, जिनसे कानून का इस्तेमाल किया जाता है अथवा नहीं किया जाता है, इस रूप में समझा जाना चाहिए जिसमें यहां के नौकरशाह एक तरह के उत्पीड़न का सहारा लेकर अपनी ताकत और आय में वृद्धि करते हैं। इस प्रकार कारखाना कानून तथा अन्य कानूनों को, जिनका उद्देश्य काम को नियमबद्धता देना है, तब तक लागू नहीं किया जाता जब तक किसी व्यापारी ने किसी अफसर की नाराजगी मोल न ले ली हो और ऐसी स्थिति में कानून का इस्तेमाल दंड देने के उपकरण के रूप में किया जा सकता है। बख्शी लिखते हैं कि–

एक नैतिक प्रवृत्ति के अर्थ में विधिवादिता, जो यह निर्धारित करे कि कानूनी नियमों का पालन किया जाना चाहिए क्योंकि वे व्यवहार संबंधी नियम हैं, भारतीय संस्कृति और व्यवहार की प्रमुख विशिष्टता नहीं है। ऐसा नहीं है, कि भारतीय जन, जो अपने शासकों से भिन्न हैं, विधिवादिता के प्रति जबर्दस्त प्रतिबद्धता विकसित करने में असमर्थ हैं। दरअसल शासक और शासित दोनों सामूहिक तौर पर सोचते हैं कि अधिकांश वैधानिक नियम उन व्यवहारों के लिए कोई वास्तविक नैतिक प्रतिबंध नहीं लगाते जो जबर्दस्त व्यक्तिगत अथवा सामूहिक हितों से चालित होते हैं। इसके विपरीत अधिकांश मामलों में नियमों का निर्धारण सामाजिक अंतःक्रिया की जटिल प्रक्रिया में मनमाने जोड़तोड़ के लिए अवसर प्रदान करना है जो वास्तव में परिणाम आधारित है। नियमों के मूल्य पर व्यक्तिगत अथवा समूहों के स्वार्थ हावी रहते हैं। भले ही इन स्वार्थों का कितना भी औचित्य क्यों न प्रदर्शित किया जाए।

उपेंद्र बख्शी के इस शानदार विश्लेषण से हमें भारत की वैधानिक प्रणाली के अंदर विरोधों को समझने में मदद मिलती है। मसलन मुकदमेबाजी की उच्च दर जबकि कानूनों को लागू नहीं किया जा रहा है अथवा इन्हें मनमाने ढंग से लागू किया जा रहा है। अपने दुश्मन को नष्ट करने अथवा कमजोर करने की बदले की कार्रवाई का ही एक रूप है मुकदमेबाजी और कानून को अपनी पसंद के मुताबिक लागू करके नौकरशाही अपनी खुद की ताकत में इजाफा करती है। राजनीतिक सत्ता का सर्वोत्तम उपयोग नियमों के पालन के जरिए होता है न कि नियमों के निर्माण की प्रक्रिया के जरिए।

लेकिन भारत में सामाजिक विधान, जिसे शायद ही कभी नौकरशाही द्वारा लागू किया जाता हो, एक और उद्देश्य की पूर्ति करता है। अस्पृश्यता, बाल मजदूरी, अनिवार्य शिक्षा, बाल विवाह, दहेज प्रथा, और इस तरह के अनेक मामलों से संबंधित विधान और इन विधानों की रचना में प्रयोग किए गए शब्द एक तरह के आधुनिक ताबीज हैं जिनका मकसद शब्दों की जादुई ताकत से ही परिणाम निकाल देना है। विधानों से यह पता चलता है कि हम आधुनिक और प्रगतिशील हर चीज के लिए प्रतिबद्ध हैं और अगर कानूनों को लागू नहीं किया जा रहा है तो इसमें कानून बनाने वालों अथवा नौकरशाहों की गलती नहीं है बल्कि यह उस समाज की गलती है जो कानून द्वारा लगाई गई रोक के प्रति जिम्मेदार नहीं है। सरकारी अधिकारियों को अच्छी तरह पता है कि जब बाल मजदूरों और वयस्क निरक्षरों के मामले में दुनिया की सबसे बड़ी आबादी के रूप में भारत का जिक्र आता है तो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कितनी शर्मनाक स्थिति पैदा होती है। लेकिन वे सार्वभौम शिक्षा के लक्ष्य को प्राप्त करने में असफलता के लिए सरकार की नीतियों को नहीं बल्कि देश की गरीबी को जिम्मेदार बताते हैं।

और इसी प्रकार वैधानिक तोता रटंत जारी रहता है जिसका कानूनों के लागू किये जाने से कोई सरोकार नहीं होता। श्रम मंत्रालय के एक अधिकारी

ने यह बताकर मुझे अचम्भे में डाल दिया कि अधिकारियों के बीच इस प्रस्ताव पर बहस होती रही कि अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में रोजगार के लिए समान न्यूनतम आयु निर्धारित कर दी जाए और विभिन्न उद्योगों में से प्रत्येक के लिए आयु की सीमा से संबंधित जो विभिन्न कानून बने हैं, उन्हें समाप्त कर दिया जाए। उस महिला अधिकारी ने कहा, "राज्य सरकार के एक मंत्री ने कहा कि हमें सभी तरह के रोजगार के लिए आयु सीमा बढ़ाकर 14 या 15 वर्ष कर देनी चाहिए। लेकिन जब मैंने कहा कि हम तो अभी 12 वर्ष की आयु वाली सीमा भी लागू नहीं कर पा रहे हैं तो मंत्री ने कहा कि कोई बात नहीं हम 14 या 15 वर्ष की आयु सीमा भी नहीं लागू करेंगे।"

आय बढ़ने के साथ सार्वभौम स्कूली शिक्षा क्यों संभव नहीं होगी

यह दलील दी जाती है कि आय बढ़ने के साथ मां-बाप अपने बच्चों को स्कूल भेजने में दीर्घकालीन वित्तीय लाभों पर ध्यान देंगे। रोजगार और आय के स्तरों में वृद्धि के साथ मां-बाप के रुख में परिवर्तन आयेगा क्योंकि तब वे अपने बच्चों को काम पर नहीं भेजना चाहेंगे। टैक्नालाजी में परिवर्तनों के साथ मालिकों को भी ज्यादा पढ़े लिखे और ज्यादा कुशल मजदूरों की जरूरत पड़ेगी और इसलिए वे भी बाल मजदूरों को काम पर नहीं लगायेंगे। समय बीतने के साथ कृषि के क्षेत्र में भी बेहतर शिक्षित किसानों और खेतिहर मजदूरों की जरूरत होगी जो मशीनें चला सकें, उर्वरकों और कीटनाशकों का इस्तेमाल कर सकें और व्यापारीकरण की जरूरतों के मुताबिक वित्तीय फैसले ले सकें।

इस बात के भी साक्ष्य हैं कि श्रम मंडी की प्रकृति ने स्कूली शिक्षा की व्यक्तिगत मांग को आंशिक तौर पर आकार दिया है। यहां "आंशिक" शब्द पर जोर दिया गया है क्योंकि जैसा कि हमने देखा है, श्रम मंडी की जरूरतों से निरपेक्ष रहते हुए धार्मिक प्रेरक तत्वों ने लोगों को शिक्षा प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त किया है। इसके अलावा सरकारों ने बच्चों को स्कूल भेजकर श्रम मंडी के स्वरूप को आकार दिया है। यह पूछना उपयोगी होगा कि क्या भारत में ऐसे आर्थिक परिवर्तन हो रहे हैं जो आने वाले दिनों में बच्चों को मजदूरी के काम से अलग रखें और स्कूल जाने के लिए प्रेरित करें, भले ही सरकार स्कूल जाने की बजाय काम करने के लिए बच्चों की आयु सीमा निर्धारित करने की नीति बनाना जारी रखे।

इस सवाल के जवाब के लिए हमारे पास शायद ही कोई प्रत्यक्ष प्रमाण मौजूद हो। भारत में प्रति व्यक्ति आय में लगातार वृद्धि हो रही है और स्कूलों में छात्रों के दाखिले की संख्या भी बढ़ती जा रही है। 1981 में उच्च विकास वाले राज्य पंजाब में 5 से 14 वर्ष के आयु वर्ग के बच्चे अधिकांश

अन्य राज्यों के मुकाबले ज्यादा बड़ी संख्या में स्कूलों में भर्ती हुए। यह संभवतः हरित क्रांति के फलस्वरूप राज्य की समृद्धि में आई बढ़ोत्तरी और श्रम मंडी में आये परिवर्तनों के कारण हो सका। जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार 1971 से 1981 के बीच पंजाब में साक्षरता 33.7 प्रतिशत से बढ़कर 40.9 प्रतिशत हो गयी है जबकि अखिल भारतीय स्तर पर यह वृद्धि 29.5 प्रतिशत से बढ़कर 36.2 प्रतिशत थी। इस दशक के दौरान पंजाब में 14 वर्ष से कम आयु के पुरुषों के रोजगार में गिरावट आयी जो 7.7 प्रतिशत से घटकर 5.3 प्रतिशत हो गयी। और महिलाओं के मामले में यह 0.12 प्रतिशत से बढ़कर 0.25 प्रतिशत हो गयी। अखिल भारतीय आंकड़ों को देखें तो पुरुषों के मामले में गिरावट आयी जो 6.6 प्रतिशत से घटकर 5.5 प्रतिशत हुई लेकिन महिलाओं के मामले में मामूली सी वृद्धि हुई और यह 2.6 प्रतिशत से बढ़कर 3 प्रतिशत हो गयी। अगर बाल मजदूरों की इस घटती संख्या को सतही तौर पर देखें तो पंजाब में आयी गिरावट उल्लेखनीय है। फिर भी इस तथ्य पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि 1971 से 1981 के बीच 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों की संख्या में 17.7 प्रतिशत की वृद्धि हुई और इस दृष्टि से पंजाब में बाल मजदूरों की संख्या में आयी गिरावट सामान्य है और यह गिरावट स्कूलों में दाखिलों की संख्या में कथित वृद्धि के साथ हुई।

प्रौद्योगिकी और श्रम मंडी के क्षेत्र में आए अनेक परिवर्तनों की रफ्तार, शायद जिनकी वजह से बाल मजदूरी में कमी आयी है, भारत में बहुत धीमी है। आधुनिक और कारखाना क्षेत्रों के मुकाबले अनौपचारिक क्षेत्र में ज्यादा तेजी से रोजगार में वृद्धि हो रही है। और यह सभी जानते हैं कि आधुनिक तथा कारखाना क्षेत्रों में नहीं बल्कि अनौपचारिक क्षेत्रों में ही सबसे ज्यादा बच्चे काम करते हैं। सरकार ने कई ऐसे कार्यक्रम शुरू किये हैं जिनसे घर गृहस्थी के लिए आय बढ़ाने वाली योजनाएं चलायी जा सकें मसलन गरीब परिवारों के लिए मवेशियों की व्यवस्था करना। इसमें कोई शक नहीं कि कुटीर उद्योगों, हथकरघा उत्पादन और लघु कृषि औद्योगिक व्यापारों को बढ़ावा देने की सरकारी नीतियां घरेलू श्रम की मांग में वृद्धि कर सकती हैं जिनमें बच्चे भी शामिल हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि 1986 के बाल श्रम (निषेध और विनियमन कानून) को अगर लागू कर दिया जाए तो भी बाल मजदूरी में कमी नहीं आयेगी क्योंकि इस कानून से प्रभावित होने वाले कारखाने सहायक ठेकेदारों को नियुक्त कर देंगे जो "परिवार के स्वामित्व वाले" कुटीर उद्योगों में बाल मजदूरों से काम लेंगे क्योंकि इन पर कोई कानून अथवा नियम लागू नहीं होता।

नए बनने वाले स्कूलों की संख्या में वार्षिक वृद्धि और स्कूल ड्राप आउट्स की संख्या में कमी लाने वाले विभिन्न कार्यक्रमों से निश्चय ही बाल मजदूरी की स्थिति में फर्क पड़ सकता है लेकिन जनसंख्या से संबंधित कारक इस तरह के प्रयासों के प्रभाव को कम करते हैं। 1971 से 1981 के बीच 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों की संख्या में लगभग 4 करोड़ की वृद्धि हुई और 1981 से 1991 के बीच लगभग इसी अनुपात में वृद्धि होने की आशंका है। जब तक प्राथमिक स्कूलों के लिए आवंटित किए जाने वाले संसाधनों की मात्रा में भारी वृद्धि नहीं की जायेगी, जो कोई भी सरकार करने के लिए तैयार नहीं है, शिक्षा के बड़े पैमाने पर विस्तार से बस यही होगा कि स्कूल जाने वाले आयु के छात्रों की संख्या में जो वृद्धि होगी उन्हें खपाया जा सकेगा। अनौपचारिक अंशकालिक शिक्षा के विस्तार के लिए उल्लेखनीय मात्रा में शैक्षिक संसाधनों का भी इस्तेमाल किया जा रहा है। यह पूरी तरह एक ऐसी स्वैच्छिक प्रणाली है जिसका उद्देश्य बच्चों को इस योग्य बनाए रखना है ताकि वे पूरे समय मजदूर बने रहें। (सरकार का लक्ष्य प्रति वर्ष उतने ही बच्चों को अनौपचारिक स्कूलों में भर्ती करना है जितने औपचारिक शिक्षा प्रणाली के अंतर्गत शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।)

ऐसी हालत में कोई भी यह निराशाजनक निष्कर्ष निकाल सकता है कि नीति बनाने वालों और लागू करने वालों की सोच में अवधारणात्मक परिवर्तन यदि नहीं होता है और भारत सरकार अपनी नीतियों को अगर नई दिशा नहीं देती है तो बाल मजदूरों की संख्या में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं होगा, स्कूलों में छात्रों के बने रहने की दर में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं होगी और साक्षरता दर धीमी रफ्तार से बढ़ना जारी रखेगी तथा 21वीं सदी के मध्य तक भी भारत की एक बहुत बड़ी आबादी निरक्षर बनी रहेगी। भारत के मुकाबले विश्व स्तर पर निरक्षरता और बाल मजदूरी में तेजी से गिरावट आ रही है लेकिन भारत में निरक्षरों और बाल मजदूरों की संख्या में वृद्धि का सिलसिला जारी ही रहेगा।

टिप्पणियां

1. एच.एस. भोला, *कम्पेनिंग फार लिटरेसी* (पेरिसः युनाइटेड नेशन एजुकेशनल; साइंटिफिक ऐंड कल्चरल आरगेनाइजेशन, 1984)
2. वही पृ. 76
3. समीक्षा के लिए देखें जी. सोचारोपुल्स और एम. वुडहाल की पुस्तक *एजुकेशन फार डेवलपमेंट* (न्यूयार्कः आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1985)
4. एम.ई. लाकहीड, डी.टी. जैमिसन और एल.जे. लाव, *फारमर एजुकेशन ऐंड फार्म एफिसियेंसी* इकोनामिक डेवलपमेंट ऐंड कल्चरल चेंज–29 (1980), पृ. 37–76
5. डी.टी. जैमिसन और एल. लाव, *फारमर एजुकेशन ऐंड फार्म एफिसियेंसी*

बाल्टीमोरः जॉन हापकिंस यूनिवर्सिटी प्रेस, 1982)

6. एस.एच. कोक्रेन, *फर्टिलटी ऐंड एजुकेशनः वाट डू वी रियली नो?* वर्ल्ड बैंक स्टाफ अकेजनल पेपर नं. 26 (बाल्टीमोरः जान्स हापकिंस यूनिवर्सिटी प्रेस, 1979)
7. जेसी. काल्डवेल, *एजुकेशन एज ए फैक्टर इन मारटेलिटी डिक्लाइनः ऐन इक्जामिनेशन ऑफ नाइजीरियन डाटा,* पापुलेशन स्टडीज–33 (1979), पृ. 408
8. एस.एच. कोक्रेन, डी.जे.ओ. हारे और जे. लेसली, *द इफेक्ट्स ऑफ एजुकेशन ऑन हेल्थ,* वर्ल्ड बैंक स्टाफ वर्किंग पेपर नं. 405 (वाशिंगटन डी.सी.: वर्ल्ड बैंक, 1980) पृ. 92
9. एलेक्स इनकेलेस और डेविड स्मिथ *बिकमिंग माडर्न* (कैम्ब्रिजः हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस), 1974
10. इनकी समीक्षा तथा स्कूली शिक्षा के प्रभावों के बारे में और भी अध्ययन के लिए देखें थॉमस ओवने आइजमन की पुस्तक द *कांसीक्वेंसेज ऑफ स्कूलिंग : ए रिव्यू ऑफ रिसर्च ऑन द आउटकम्स ऑफ प्राइमरी स्कूलिंग इन डेवलपिंग कंट्रीज,* एजुकेशन डेवलपमेंट डिस्कशन पेपर नं. 3, ''हार्वर्ड यूनिवर्सिटी बेसिक रिसर्च ऐंड एम्प्लीमेंटेशन इन डेवलपिंग एजुकेशन सिस्टम्स प्रोजेक्ट'' (कैम्ब्रिज : हार्वर्ड इंस्टीट्यूट फार इंटरनेशनल डेवलपमेंट, 1988)
11. जेम्स एस. कोलमैन द्वारा संपादित *एजुकेशन ऐंड पोलिटिकल डेवलपमेंट* (प्रिंसटनः प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1965), पृ. 29
12. जे.पी. नायक, *एजुकेशनल डेवलपमेंट इन इंडिया ड्यूरिंग द नेक्स्ट 20 ईयर्सः 1981-2000,* ''इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एजुकेशन बुलेटिन (1982), पृ. 18
13. वही, पृ. 19–30, भारतीय अपने यहां की सरकारी प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था को कितनी हिकारत से देखते हैं इसका पता इवान इलिच की पुस्तक ''डी. स्कूलिंग सोसायटी'' (1971) की लोकप्रियता से चलता है। इलीच ने अपने ये विचार भारत में यात्रा के दौरान एक लेक्चर में व्यक्त किए थे कि तीसरी दुनिया के देशों को स्कूल पर आधारित शिक्षा संबंधी माडल को नामंजूर कर देना चाहिए और इसकी जगह पर उन्हें स्वतंत्र चुनाव के सिद्धांत पर आधारित स्कूली व्यवस्था से अलग किस्म के विकल्प विकसित करने चाहिए। दुनिया के अन्य देशों में कार्यरत शिक्षा विभागों ने शायद ही इलीच के इन विचारों को कभी गंभीरता से लिया हो लेकिन उन्हें भारत में बड़े उत्साही श्रोता मिले और यह भी संभव है कि उनमें से बहुतों ने अनौपचारिक शिक्षा के बारे में भारत सरकार की सोच को प्रभावित किया हो। इलीच के विचारों को इसलिए काफी स्थान मिला क्योंकि भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार उनके अपने स्कूल दोषपूर्ण हैं और वे मानते हैं कि मां-बाप को यह चुनाव करने की छूट होनी चाहिए कि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजें या न भेजें।
14. चित्रा नायक, *ऐन एक्शन रिसर्च प्रोजेक्ट ऑन यूनिवर्सल प्राइमरी एजुकेशन,* इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एजुकेशन बुलेटिन–2 (1981), पृ. 137–158

15. रामकृष्ण मुखर्जी, *फील्ड स्टडीज* [illegible] *ऑन फील्ड इन्वेस्टीगेशन इन* [illegible] सोशल साइंसेज, एन.डी.), पृ. 23
16. वही पृ. 34, 26
17. वाई.बी. दामले, *फील्ड स्टडीज इन द* [illegible] *ऑन फील्ड इन्वेस्टीगेशन इन महाराष्ट्र* [illegible] साइंसेज, 1968), पृ. 68, 48
18. मुखर्जी, *फील्ड स्टडीज, : वेस्ट बंगाल,* पृ. 36 और [illegible] *महाराष्ट्र,* पृ. 45
19. उपेंद्र बख्शी, द *क्राइसिस ऑफ द इंडियन* [illegible] विकास पब्लिसिंग, 1982), पृ. 5